बौद्धभारतीग्रन्थमाला -१८
Baudhha Bharati Series -18

धर्मकीर्त्तिनिबन्धावलिः -३

न्यायबिन्दुप्रकरणम्

(टीकानुटीकोपेतम)

१५६
धर्म/न्या



प्रधानसम्पादकः
स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

पु० 194

बौद्धभारतीग्रन्थमाला-१८

Baudha Bharati series-18

धर्मकीर्त्तिनिबन्धावलिः-३



न्यायबिन्दुप्रकरणम्

(टीकानुटीकोपेतम्)

प्रधानसम्पादकः

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

Bauddha Bharati Series-18

DHARMAKIRTTI NIBANDHAVALI (3)

NYĀYABINDU

of

ACHARYA DHARMAKIRTTI

with the commentaries

by

ARYA VINITADEVA & DHARMOTTARA

&

DHARMOTTAR-TIKA-TIPPANI

Edited by

SWAMI DWARIKADAS SHASTRI

Bauddha Bharati

VARANASI

1994

बौद्धभारतीग्रन्थमाला-१८

धर्मकीर्तिनिबन्धावलिः-३

आर्यविनीतदेव-धर्मोत्तरकृतटीकाभ्यां समुपबृंहितम्

आचार्यधर्मकीर्त्तिविरचितम्

न्यायबिन्दुप्रकरणम्

[प्रत्यक्षपरिच्छेदपर्यन्तं च

अज्ञातकर्तृक-धर्मोत्तरटीकाटिप्पणीसनाथम्]

(हिन्दी-इंग्लिशरूपान्तरसहितं च)

सम्पादकः

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री



१९९४ ख्रिष्टाब्दः] वाराणसी [२५३८ बु०

प्रकाशक

© बौद्ध भारती,
पो० बा० १०४९,
वाराणसी-१ (उ० प्र०)
पिन : २२१ ००१

Pu blished by
© BAUDDHA BHARATI,
Post Box : 1049,
Varanasi-1 (U. P.)
Pin : 221 001

सहसम्पादकौ

श्रीधर्मकीर्त्तिशास्त्री
श्रीचन्द्रकीर्त्तिशास्त्री च

द्वितीय संस्करण
सन् १९९४ ई०

Second Edition
1994 E.

Price Rs. 100/-

मुद्रक :
साधना प्रेस
३, काटन मिल कालोनी,
वाराणसी-२२१ ००२

Printed at
SADHANA PRESS
3, cotton mill colony,
VARANASI-221 002

प्रकाशकीयम्

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता ॥

मान्या विद्वत्तल्लजाः !

महान् प्रमोदावसरोऽयमस्मत्कृते यद् वयं सङ्कल्पानुसारमद्य बौद्धभारती-ग्रन्थमालाया अष्टादशं पुष्पमथ च धर्मकीर्तिनिबन्धावली तृतीयं पुष्पं बौद्ध-दर्शनस्य मुकुटालङ्कारमणिभूतम्, आर्यविनीतदेवस्य आर्यधर्मोत्तरस्य च टीकाभ्यां संवलितम्, प्रत्यक्षपरिच्छेदपर्यन्तं चाज्ञातकर्तृकया टिप्पण्या सनाथम्, राष्ट्रभाषया आंग्लभाषया च रूपान्तरसहितं **न्यायबिन्दुप्रकरणं** नानाविध-सूचीपरिशिष्टांशेन सह (द्वितीयं संस्करणं) साधु संस्कृत्य श्रीमतां कर-कमलेषु समुपाहरामः ।

इतः पूर्वमस्माभिः १९६८तमे ख्रिष्टाब्दे आचार्यधर्मकीर्त्तिपादैः रचितं **प्रमाणवार्त्तिकम्**, १९७२तमे वर्षे च **वादन्यायप्रकरणम्** (आचार्य शान्त-रक्षितकृतव्याख्योपेतम्), **सम्बन्धपरीक्षा** चेत्येतद् ग्रन्थत्रयं धर्मकीर्त्तिनिबन्धा-वल्या भागद्वयेन प्रकाशितम् । तत्र प्रमाणवार्त्तिकस्य तृतीयं संस्करणम्, वादन्यायप्रकरणस्य मुद्रणावशेषः, अस्य ग्रन्थस्य चेयं द्वितीयावृत्तिराचार्यधर्म-कीर्त्तिपादै रचितानां ग्रन्थानां महत्त्वं प्रामाण्यं च ख्यापयति ।

अस्मिन् ग्रन्थेऽस्माभिः न्यायबिन्दुप्रकरणस्य धर्मोत्तरटीकायाश्च मूलं 'वंगीयैशियाटिकसोसाइटी' इत्याख्यपरिषदा १९२९तमे ख्रिष्टाब्दे मुद्रापितात् श्रीपीटरपीटर्सनमहोदयेन सम्पादितात् न्यायबिन्दुटीकाग्रन्थात् संगृहीतम् ।

विनीतदेवटीकायाश्च संस्कृतच्छाया १९०७तमे ख्रिष्टाब्दे उपर्युक्तपरिषदैव प्रकाशितं श्री एल० डी० ला वेली पुसेंमहोदयेन सम्पादितं तिब्बतभोटभाषा-संस्करणमाधृत्य बौद्धभारतीपार्षदैर्विद्वद्भिः संस्कृता । अत्रास्माकं श्रीमृणाल-कान्तिगङ्गोपाध्यायकृता संस्कृतच्छायाऽपि महत्साहाय्यं कृतवान् ।

धर्मोत्तरव्याख्यायाम् (प्रत्यक्षपरिच्छेदपर्यन्ता) अज्ञातकर्तृका टिप्पणी तु पूर्वम् आचार्यचिरवासुकिसम्पादिता विब्लियोथिका बुद्धिका ग्रन्थमालायां (११ क्रमे) प्रकाशिता गृहीता।

एतदर्थं वयमुभे अपि परिषदौ सम्पादक-अनुवादकमहोदयाँश्च साभारं भूरिशः कृतज्ञताभिः सभाजयामः।

अथ चात्र संस्कृतानभिज्ञानामनुसन्धित्सूनां हिताय हिन्दीभाषारूपान्तरमपि महता प्रयासेन समायोजितः।

इत्येवं साङ्गोपाङ्गमिदं न्यायबिन्दुप्रकरणं विदुषाम्, अनुसन्धित्सूनाम्, अन्तेवासिनां च हिताय सुखाय भविष्यतीत्याशास्महे।

अनुपदमेव चास्यां ग्रन्थमालायाम् आचार्यधर्मकीर्त्तिप्रणीतं टीकानुटीकोपेतं हेतुबिन्दुप्रकरणग्रन्थं सन्तानान्तरसिद्धिग्रन्थं च १९९४तमे वर्षे एव निर्विघ्नं प्रकाशयेम—इत्येतदर्थं भवतां शुभाशंसनं कामयामहे।

रक्षाबन्धनम्, २०५१
वाराणसी.

प्रकाशकः
बौद्धभारतीपरिषदध्यक्षः

न्यायबिन्दुप्रकरणस्य

विषयक्रमः

न्यायबिन्दौ प्रमाणानि व्याख्यातानि यथा यथा।
तेषां क्रमोऽत्र तद्वृत्त्योरनुसारं वितन्यते॥

[कोष्ठकान्तर्गतोऽङ्कः सूत्राणि बोधयति]

१. प्रथमः प्रत्यक्षपरिच्छेदः



२. द्वितीयः स्वार्थानुमानपरिच्छेदः



३. तृतीयः परार्थानुमानपरिच्छेदः

न्यायबिन्दुप्रकरण की

विषयवस्तु

(हिन्दी रूपान्तर)

प्रमाणशास्त्र का प्रयोजन

सभी पुरुषार्थों की सिद्धि सम्यग्ज्ञानपूर्वक होती है। अतः उसकी प्रतिपत्ति के लिये न्याय-शास्त्र की रचना हुई है। मानवीय प्रयोजन हेय या उपादेय हैं; या फिर वांछनीय या अवांछनीय हैं। प्रवृत्ति या अर्थक्रिया अर्थ की प्राप्ति और अनर्थ के परिहार के लिए होती है। सम्यग्-ज्ञान या प्रमाण वह ज्ञान है, जिसके अनन्तर अध्यवसाय (निश्चय) होता है, जिससे पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। जो ज्ञान मिथ्या है, उससे अर्थ-सिद्धि नहीं होती। संशय और विपर्यय सम्यग्ज्ञान के प्रतिपक्ष हैं। धर्मोत्तर कहते हैं कि सम्यग्ज्ञान द्विविध है—१. पहला है प्राग्भवीय भावनाश्रित ज्ञान, जो आपाततः पुरुषार्थ-सिद्धि कराता है, २. और दूसरा है प्रमाणभूत भावना, जो केवल व्यापक है।

बौद्ध-न्याय में इस दूसरे प्रकार के सम्यग्-ज्ञान की समीक्षा की गयी है; क्योंकि जिसकी खोज साधारण जन करते हैं, उसी का विचार शास्त्र में होता है। लोग अर्थ-क्रिया के अर्थी होते हैं, अतः वे अर्थप्राप्ति के निमित्त अर्थक्रिया-समर्थ वस्तु के ज्ञान की खोज करते हैं। इसलिये सम्यग्-ज्ञान अर्थक्रिया-समर्थ वस्तु का प्रदर्शक है।

अतः बौद्ध-न्याय में प्रमाणभूत भावना का ही विवेचन किया गया है। जहाँ अर्थक्रिया की सिद्धि आपाततः अविचारतः होती है, वहाँ ज्ञान की समीक्षा नहीं हो सकती। जिस ज्ञान की समीक्षा हो सकती है, उसे तीन विषयों में विभक्त करते हैं—१. प्रत्यक्ष २. स्वार्थानुमान (ज्ञानात्मक) और ३. परार्थानुमान (शब्दात्मक)। बाह्य वस्तु के ज्ञान का मुख्य प्रभाव इन्द्रिय-विज्ञान है। इस ज्ञान के आकार को कल्पना निश्चित करती है, और इस प्रक्रिया की पूर्ण शाब्दिक अभिव्यक्ति परार्थानुमान से होती है। अतः इन तीन के अन्तर्गत ज्ञान-मीमांसा और न्याय दोनों हैं।

प्रमाण-लक्षण तथा प्रमाण-फल

प्रमाण या सम्यग्ज्ञान अविसंवादक ज्ञान है। लोक में उस पुरुष को संवादक कहते हैं जो सत्यभाषी और पूर्व उपदर्शित अर्थ का प्रापक है। इसी प्रकार वह ज्ञान भी संवादक कहा जाता है जो प्रदर्शित अर्थ का प्रापक है। अर्थात् जो प्रदर्शित अर्थ में प्रवर्तन करता है। सम्यग्ज्ञान पुरुषार्थ-सिद्धि का कारण है। सम्यग्ज्ञान के विषय का प्रदर्शक है; अर्थ में पुरुष का प्रवर्तन करता है। अधिगत अर्थ में पुरुष प्रवर्तित होता है, और अर्थ प्रापित होता है, अतः अर्थाधिगति ही प्रमाण-फल है।

इसका अर्थ यह है कि अर्थाधिगम से प्रमाण का व्यापार समाप्त हो जाता है। यह वह बिन्दु है, जहाँ पुरुष का कारित्र होता है इसे अर्थ-क्रियाक्षम वस्तु कहते हैं, और जो क्रिया इस वस्तु का अधिगम करती है, वह सफल पुरुषार्थ है। सम्यग्ज्ञान प्रापक ज्ञान कहलाता है। इस प्रकार हमारे ज्ञान की प्रामाणिकता और उसकी व्यवहार-क्षमता के बीच एक सम्बन्ध स्थापित है।

विज्ञान पुरुष को हठात् प्रवर्तित नहीं कर सकता, अतः ज्ञान कारक-कारण नहीं अपितु केवल व्यापक है।

लोग अर्थप्राप्ति के निमित्त अर्थ-क्रिया समर्थ वस्तु के प्रदर्शक ज्ञान की खोज करते हैं, इसलिये सम्यग्ज्ञान अर्थ-क्रियासमर्थ वस्तु का प्रदर्शक है।

जिस ज्ञान से पहले अर्थ अधिगत होता है, उसी से पुरुष प्रवर्तित होता है, और अर्थ प्रापित होता है। उस अर्थ के विषय में दूसरे ज्ञान का क्या काम है! इसलिये अनधिगत विषय प्रमाण है। जब अर्थ प्रथम अधिगत होता है, तब ज्ञान होता है।

एक ज्ञान की पुनरावृत्ति 'प्रत्यभिज्ञा' है। अतः इस ज्ञान का स्वतन्त्र ज्ञापक नहीं माना जा सकता। किसी अधिगत विषय का अनुस्मरण राग या द्वेष का कारण होता है, किन्तु राग-द्वेष या स्मृति को ज्ञान का कारण नहीं मानते। जब हम सर्वप्रथम अर्थ का अधिगम करते हैं तो उसी क्षण में ज्ञान होता है। इसके पश्चात् कल्पना (या विकल्प) के द्वारा वस्तु के आकार का निर्माण होता है। यह ज्ञान का कारण नहीं, अपितु प्रत्यभिज्ञा है, यह सविकल्प अप्रमाण है।

मीमांसकों की भी यही व्याख्या है, अर्थात् प्रमाण अनधिगत अर्थ का अधिगन्ता है। किन्तु उनके मत में अर्थ और प्रमाण—दोनों कुछ काल के लिये अवस्थान करते हैं।

नैयायिकों के अनुसार प्रमाण ज्ञान का साधकतम कारण है। यह कारण इन्द्रिय-विज्ञान अनुमानादि हैं। इनका प्रत्यक्ष सविकल्प है।

बौद्धों के अनुसार अर्थ क्षणिक हैं, और वे इन्द्रिय तथा कल्पना—दोनों में विशेष (भेद) करते हैं। उनके अनुसार ये दो ज्ञान के उपकरण हैं। इन्द्रिय अधिगत करती है; कल्पना निर्माण करती है। इसलिये ज्ञान का प्रथम क्षण सदा इन्द्रिय-विज्ञान का क्षण है। यह अविकल्प है, किन्तु विकल्पोत्पत्ति की शक्ति रखता है। अर्थ का अधिगम होने पर प्रथम क्षण के पश्चात् अर्थ की आभा स्फुट होती है। यदि लिङ्ग द्वारा वह अनुमित होता है, तो लिङ्ग अधिगम के प्रथम क्षण को उत्पन्न करता है, जिसके पश्चात् लिङ्ग के स्फुटाभ और तत्सम्प्रयुक्त अर्थ के अस्फुट आकार की उत्पत्ति होती है। किन्तु दोनों अवस्थाओं में अधिगम का केवल प्रथम क्षण सम्यग्ज्ञान का कारण होता है। अतः प्रमाण का एक क्षण है, और यही सम्यग्ज्ञान का वस्तुतः कारण है।

प्रमाणों की सत्यता की परीक्षा

जब सत्य की परीक्षा केवल अनुभव से होती है, तब स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि ज्ञान के जो कारण हैं, वे उसके सम्यक् होने के भी कारण हैं? अथवा ज्ञान का कारण कोई अन्य है; और उसकी सत्यता को प्रमाणित करने के लिये चित्त को दूसरी क्रिया करनी होती है?

इस प्रश्न पर भी मीमांसकों ने विचार किया है; क्योंकि उनको वेद-प्रामाण्य प्रतिष्ठित करना था। मीमांसकों के अनुसार ज्ञान स्वतः सम्यग्-ज्ञान है, प्रामाण्य-युक्त है; क्योंकि यह ज्ञान है, विसंवादक नहीं है। ज्ञान दो ही अवस्थाओं में अपवाद के रूप में मिथ्या हो सकता है—१. जब उसका बाधक ज्ञान हो, या २. जब करण-दोष हो। सिद्धान्त स्वतःप्रामाण्य का है; दोष परतःसिद्ध होता है।

बौद्धों के अनुसार स्वतःप्रामाण्य नहीं है; परतःप्रामाण्य है; क्योंकि प्रापक ज्ञान प्रमाण है। बौद्धों के अनुसार व्यभिचार सम्भव है। कारण-गुण के ज्ञान से, संवाद-ज्ञान से, अर्थक्रिया-ज्ञान से हम कह सकते हैं कि यह अविसंवादक ज्ञान है।

यद्यपि मीमांसक, वैशेषिक और नैयायिक तथा बौद्धों की दृष्टि में साम्य है, तथापि इनमें सूक्ष्म भेद है। पहले तीन दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान-क्रिया कर्ता, अर्थ, उपकरण तथा क्रिया-विशेष से सम्बद्ध होती है। जब वर्ण-ज्ञान होता है, तब आत्मा कर्ता है, वर्ण अर्थ है, चक्षुरिन्द्रिय उपकरण है और क्रियाविशेष प्रकाश-रश्मि का चक्षु से विनिर्गत होकर अर्थ की ओर जाने, उसका ग्रहण कर आत्मा को अंकित करने के लिये लौटता है। इनमें चक्षुरिन्द्रिय साधकतम करण है। यही प्रमाण है।

किन्तु बौद्ध क्रिया और ज्ञान के साम्य के आधार पर रचित इस प्रणाली का प्रत्याख्यान करते हैं; क्योंकि वे प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त मानते हैं। इन्द्रिय हैं, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष है, इन्द्रियविज्ञान है। आत्मा नहीं है, इन्द्रिय का उपकरणत्व नहीं है, अर्थग्रहण नहीं है। विज्ञान और विकल्प में सारूप्य है। वही प्रमाण है; वही प्रमाण-फल है। अर्थ का आकार के साथ सारूप्य और आकार दो भिन्न वस्तु नहीं है।

वस्तुसत्ता का द्वैविध्य

दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के सिद्धान्त में ज्ञान की व्याख्या के तुल्य वस्तु, परमार्थ-सत् की व्याख्या भी अपूर्व है। वस्तु परमार्थ-सत् अर्थक्रिया-सामर्थ्य है। जिनमें यह सामर्थ्य नहीं हैं, वह अवस्तु है। जो अग्नि प्रज्वलित और शान्त होती है, वह अग्नि स्वलक्षण है। अग्नि सन्निधान में स्फुट और असन्निधान में अस्फुट प्रतिभासित होती है। यह परामार्थ-सत् है। जब तक वह वर्तमान और चक्षुरिन्द्रिय-ग्राह्य है, तब तक अग्नि का प्रकाश-कण भी स्फुट है। जो वह्नि विकल्प का विषय है, जो न प्रज्वलित

होती है और न पाचन-क्रिया करती है और न प्रकाश देती है, वह अवस्तुक है। भले ही विकल्प विषय दृश्य के तुल्य हो, तो भी वह अर्थक्रियाभाव के कारण दृश्य नहीं है। अतीत, भविष्य अवस्तुक हैं; केवल प्रत्युत्पन्न वस्तु है। विकल्प-विषय, अभाव, बुद्धि-निर्माण, जाति, सामान्य प्रज्ञप्तिमात्र हैं; केवल स्वलक्षण वस्तु-सत् है। अन्य केवल विकल्प हैं, शब्दमात्र हैं। इनके पीछे किञ्चिन्मात्र भी वस्तुत्व नहीं है। वस्तु-सत् में विकल्प नहीं होता, अतः यह निर्विकल्प है। किन्तु इन दो के बीच एक लोक है, जो परिकल्प से बना है; किन्तु जिसका आधार वस्तु-सत् है, इसे संवृति-सत्य कहते हैं। परिकल्प दो प्रकार के हैं—शुद्ध और वस्तु-मिश्रित। वस्तु के भी दो प्रकार हैं—शुद्ध और परिकल्प-मिश्रित। एक वस्तु-सत् क्षण स्वलक्षण है। यह परमार्थ-सत् है। दूसरा स्वलक्षण के अनन्तर विकल्प-निर्मित आकार है। जब वस्तु-प्रतिबन्ध पारम्पर्येण होता है, तब अर्थ-संवाद होता है, यद्यपि यह अनुभव परमार्थ सत् की दृष्टि से भ्रान्त है। यह पारम्पर्येण सत् है, प्रत्यक्षेण नहीं।

प्रमाण-द्वैविध्य

जिस प्रकार वस्तु-सत् द्विविध है, उसी प्रकार प्रमाण भी द्विविध है। प्रमाण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष है। यह परमार्थ-सत् के ज्ञान का कारण है, या संवृत्ति-सत् के ज्ञान का कारण है। प्रत्यक्ष-प्रमाण इन्द्रिय-व्यापार से उत्पन्न होता है; अप्रत्यक्ष विकल्प से। प्रथम प्रतिभास है, दूसरा कल्पना है। प्रथम अर्थ का ग्रहण करता है, दूसरा उसी की कल्पना करता है (विकल्पयति)। वास्तव में 'ग्रहण' नहीं होता, किन्तु इस शब्द का व्यवहार, ज्ञान के प्रथम क्षण को गृहीत अर्थ के विकल्प से विशिष्ट करने के लिये, होता है। यह क्षण असाधारण तत्त्व है, अतः यह अनभिलाप्य है। नाम या अभिज्ञा किसी एकत्व के होते हैं, जिसमें देश काल और गुण का संयोग होता है। यह एकत्व एक विकल्प है, और बुद्धि की जिस प्रक्रिया से इसका निर्माण होता है, वह प्रतिभास नहीं है।

धर्मोत्तर कहते हैं कि प्रमाण के विषय द्विविध हैं—ग्राह्य और अध्यवसेय। ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्यक्ष का क्षण एक है, यह ग्राह्य है। दूसरा अध्यवसेय प्रत्यक्ष-बल से उत्पन्न निश्चय है, यह क्षण-सन्तान है। सन्तान ही प्रत्यक्ष का प्रापणीय है। क्षण की प्राप्ति अशक्य है।

बौद्धों के अनुसार प्रमाण दो हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। वैशेषिक भी दो ही प्रमाण मानते हैं, यद्यपि उनके लक्षण और उनकी व्याख्या भिन्न है। बौद्ध आप्त वचन को प्रमाण में नहीं गिनते। नैयायिकों के उपमान और अर्थापत्ति बौद्धों के अनुमान के अन्तर्गत हैं। ज्ञान इन्द्रिय-व्यापार से होता है, और विकल्प-बल से आकार का उत्पाद होता है। प्रत्यक्ष में अर्थ का आकार विशदाभ होता है; अनुमान

में लिङ्ग द्वारा अर्थ का अस्फुट ज्ञान होता है। अग्नि के सन्निधान में अग्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तथा यदि अग्नि दूर है, और धूमलिङ्ग के दर्शन से ज्ञान होता है तो वह अनुमान है। एक में प्रत्यक्ष प्रकृष्ट है, दूसरे में विकल्प का प्रकर्ष है।

बौद्धों का वाद 'प्रमाण-व्यवस्था' कहलाता है, जबकि दूसरों का वाद 'प्रमाण-सम्प्लव' कहलाता है। प्रमाण-सम्प्लव के अनुसार प्रत्येक अर्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से हो सकता है। बौद्ध-वाद में प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों की इयत्ता की व्यवस्था है। कोई भी एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश नहीं करता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध-दर्शन की दृष्टि आलोचनात्मक है। बौद्ध-दर्शन में प्रमाण दो ही हैं। दोनों ही इन्द्रियजन्य अनुभव का समतिक्रमण नहीं कर सकते। जो अतीन्द्रिय है वह ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। सब अतीन्द्रिय अर्थ जो देश काल तथा स्वभाव से विप्रकृष्ट है, अनिश्चित हैं। अतीन्द्रिय क्षेत्र में विकल्प से विविध निर्मित होगा जो विरुद्ध होगा। बौद्ध-धर्म में बुद्ध को 'सर्वज्ञ' कहा है, किन्तु अतीन्द्रिय सर्वज्ञत्व का होना या न होना सन्दिग्ध है। अतः यह अनैकान्तिक है।

धर्मोत्तर कहते हैं कि जिस अनुमान का लिङ्ग-त्रैरूप्य आगमसिद्ध है, उसका आश्रय आगम है। ये युक्तियाँ अवस्तु-दर्शन के बल से प्रवृत्त होती है, अर्थात् विकल्पमात्र के सामर्थ्य से प्रवृत्त होती हैं। आगम के जो अर्थ अतीन्द्रिय हैं, अर्थात् जो प्रत्यक्ष-अनुमान के विषय नहीं हैं, यथा सामान्यादि, उनके विचार में आगमाश्रित अनुमान की सम्भावना है। विपर्यस्त शास्त्रकार सत्-असत् स्वभाव का आरोप करते हैं। जब शास्त्रकार ही भ्रान्त हो जाते हों तो दूसरों का क्या भरोसा! किन्तु यथावस्थित वस्तुस्थिति में इसकी कोई सम्भावना नहीं है।

प्रत्यक्ष

१. **इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष**—ज्ञान के स्वरूप को हम कभी नहीं जानेंगे, किन्तु हम उसे साक्षात् और परोक्ष में विभक्त कर सकते हैं। इसी विभाग के आधार पर ज्ञान-मीमांसा शास्त्र आश्रित हैं। साक्षात् को हम इन्द्रिय-व्यापार और परोक्ष को विकल्प कह सकते हैं। अर्थ का साक्षात्कारी ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। प्रत्यक्ष निर्विकल्प है, सविकल्प नहीं है। यह वस्तु के स्वलक्षण का ग्रहण करता है। यह नाम-जात्यादि (जाति, द्रव्य, गुण, कर्म, नाम) का ग्रहण नहीं करता। ये जात्यादि विकल्प हैं। निर्विकल्प प्रत्यक्ष जात्यादि से असंयुक्त है। यह कल्पना से अपोढ़ है। सविकल्प प्रत्यक्ष नहीं है; क्योंकि वह मन-इन्द्रिय द्वारा जात्यादि का विवेचन करके विषय का ग्रहण करता है। यह इन्द्रिय से वस्तु का आलोचनमात्र नहीं है। वस्तुमात्र का जो प्रथम सम्मुग्ध ग्रहण होता है, वही निर्विकल्प प्रत्यक्ष है। यही शुद्ध प्रत्यक्ष है। इसे पश्चात् मन द्वारा (नामस्मृति से) वस्तु के नाम का ज्ञान होता है। इसे प्रत्यक्ष

नहीं कह सकते। वह इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष से जन्य नहीं है। यह इन्द्रिय-व्यापार से उत्पन्न नहीं होता।

अन्य मतों के अनुसार सविकल्प भी प्रत्यक्ष है, क्योंकि वह इन्द्रिय व्यापार से जन्य है और इन्द्रिय-व्यापार उस समय भी उपरत नहीं होता जब सविकल्प का उत्पाद होता है; क्योंकि इसका अपरोक्षावभास होता है। किन्तु बौद्ध कहते हैं कि यह कहना कि सविकल्प प्रत्यक्ष है और साथ ही साथ यह अपरोक्षावभास है—परस्पर विरोधी है। वस्तुसंज्ञा का अवभास इन्द्रिय को नहीं होता। संज्ञाकरण और प्रत्यभिज्ञा की क्रिया वर्तमान अनुभव और अतीतानुभव के विषयों के एकीकरण से होते हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान को अभ्रान्त होना चाहिये। प्रत्यक्ष ज्ञान तभी प्रमाण हो सकता है जब कि वह विपर्यस्त न हो। भ्रान्ति भी दो प्रकार की हैं—१. मुख्य भ्रान्ति, जिसके अनुसार सभी व्यावहारिक ज्ञान एक प्रकार की भ्रान्ति है और २. प्रातिभासिकी भ्रान्ति। प्रत्यक्ष ग्राह्यरूप (परमार्थसत्) में अविपर्यस्त होता है।

२. मानस प्रत्यक्ष—इन्द्रियाश्रित ज्ञान प्रत्यक्ष का केवल एक प्रकार है। एक दूसरा प्रत्यक्ष है, जिसे मानस प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्येक प्रत्यक्षज्ञान में इसका एक क्षण होता है, यह इन्द्रियज्ञान के विषयक्षण से उत्तर क्षण है। इन्द्रिय और विकल्प का मौलिक भेद स्थापित कर प्रमाणवादी को इनके सहकारित्व को समझाने की आवश्यकता पड़ी। इन दोनों को पृथक् कर इन्हें पुनः मिलाने के लिये विवश होना पड़ा। पूर्व बौद्धधर्म में एक वर्णधर्म एक चक्षुधर्म और एक मनोधर्म के हेतु-प्रत्ययवश वर्ण का ज्ञान होता है।

इन्द्रिय और विकल्प का भेद स्थापित कर दिङ्नाग ने मन का लोप कर चक्षुरिन्द्रिय के स्थान में शुद्ध इन्द्रियविज्ञान को रखा। इस प्रकार वर्ण-ज्ञान को शुद्ध इन्द्रियविज्ञान के क्षण से समझाया, जिसके अनन्तर विकल्प-निर्माण होता है। इन्द्रियविज्ञान के लिये देश-काल नियत करना विकल्प का कार्य हो गया है। ये क्षण प्रत्यक्ष और अविकल्प हैं। पहला क्षण शुद्ध इन्द्रियविज्ञान हैं, दूसरा क्षण मानस प्रत्यक्ष है। चक्षु का जब व्यापार होता है तब रूपज्ञान चक्षुराश्रित होता है। जब चक्षु का व्यापार उपरत हो जाता है तब मनोविज्ञान का प्रत्यक्ष होता है।

३. योगि-प्रत्यक्ष—इन्द्रियविज्ञान के प्रथम क्षण में जैसा स्फुटाभ ज्ञान होता वैसा उत्तर क्षण में विकल्प-निर्माण से नहीं होता। सविकल्प ज्ञान अस्फुटाभ होता है। योगि-प्रत्यक्ष से भाव्यमान अर्थ का दर्शन योगी को होता है। वह योगी अतीत या भविष्यत् को उसी प्रकार जान सकता है, जिस प्रकार वर्तमान को। यह प्रत्यक्ष अलौकिक योगज सन्निकर्ष से जन्य है। इतर प्रत्यक्ष के तुल्य ही यह भी प्रत्यक्ष है।

स्फुटाभ होने से निर्विकल्प है। प्रमाण शुद्ध और अर्थग्राही होने से संवादक है।

४. **स्वसंवेदन**—सौत्रान्तिक योगाचार का मत है कि सर्वज्ञान स्वप्रकाश है; जैसे कि दीपक समीप की वस्तुओं को प्रकाशित करता है और साथ ही साथ अपने को भी प्रकाशित करता है। जैसे वह स्वप्रकाश के लिये किसी दूसरे प्रकाश पर निर्भर नहीं रहता, वैसे ही ज्ञान भी स्वप्रकाश है।

प्रभाकर के मत में ज्ञान का स्वतः प्रत्यक्ष होता है। **कुमारिल** के अनुसार ज्ञान क्रिया का प्रत्यक्ष नहीं होता। यह ज्ञानक्रिया ज्ञानता या प्राकट्य से अनुमित होती है।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय है, किन्तु इसका स्वतः प्रत्यक्ष नहीं होता, अन्तःकरण अर्थात् मन द्वारा अन्य ज्ञान से होता है। ज्ञान का अनुमान ज्ञातता से नहीं होता; एक ज्ञान का प्रत्यक्ष दूसरे ज्ञान से होता है जिसे अनुव्यवसाय कहते हैं। ज्ञान परप्रकाशक है, स्वप्रकाशक नहीं। ज्ञान ज्ञानान्तर से वेद्य है।

सांख्य-योग का मत है कि ज्ञान का प्रत्यक्ष आत्मा द्वारा होता है, अन्य ज्ञान से नहीं होता; क्योंकि ज्ञान अचेतन है। चित्त स्वप्रकाश नहीं है; क्योंकि चित्त आत्मा का दृश्य है। जिस प्रकार इतर इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियार्थ स्वप्रकाश नहीं हैं, क्योंकि वह दृश्य हैं; उसी प्रकार चित्त (=मन) भी स्वप्रकाश नहीं है। तब वह अर्थ का प्रकाश कैसे करता है! सांख्य-योग पुरुष की सत्ता को स्वीकार करता है। यह इसे ज्ञाता और भोक्ता मानता है। पुरुष प्रकाश-स्वभाव है। प्रकाश पुरुष का गुण नहीं है। स्वाभास पुरुष का प्रतिबिम्ब अचेतन बुद्धि पर पड़ता है और यह पुरुष बुद्धि की अवस्था को स्वावस्था के रूप में विपर्यासवश गृहीत करता है। पुरुष न अत्यन्त बुद्धिसरूप है और न अत्यन्त विरूप ही। यह बुद्धि से भिन्न है। किन्तु यदि पुरुष अत्यन्त सरूप नहीं है तो अत्यन्त विरूप भी नहीं है, क्योंकि पुरुष यद्यपि शुद्ध है तथापि बुद्धि में पुरुष के प्रतिसंक्रान्त होने से चैतन्यापन्न बुद्धि की वृत्ति को यह जानता है और अतदात्म होते हुए भी उसे तदात्मक के समान गृहीत करता है। बुद्धि जड़-स्वभाव है, तथापि स्वाभास पुरुष के प्रतिबिम्बित होने से यह चैतन्य को प्राप्त करती है।

शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश है।

हीनयान में आत्मा और उसके गुणों का प्रत्याख्यान है। किन्तु वहाँ भी विज्ञान, इन्द्रिय और विषय का त्रिक है। मन-इन्द्रिय या आयतन को भी यह मानता है, जिसके चैतसिक-धर्म विषय हैं। मन विज्ञान सन्तति है; यह चैतसिक धर्मों की उपलब्धि स्वतः करता है और बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष पञ्चेन्द्रियों द्वारा करता है।

दिङ्नाग इस वाद का प्रत्याख्यान करते हैं। मन नाम का कोई इन्द्रियान्तर नहीं है और सुखादि प्रमेय नहीं हैं। हीनयान के अन्तर्गत मन के सम्बन्ध में सर्व-सम्मत कोई विचार नहीं है। सर्वास्तिवादी मन-इन्द्रिय का बुद्धि से तादात्म्य मानता है। इसके अनुसार चित्त, मन और विज्ञान का एक ही अर्थ है। किन्तु स्थविरवादी विज्ञान के साथ हृदय-धातु भी मानते हैं।

दिङ्नाग नैयायिकों के मत का विरोध करते हुए कहते हैं कि न्यायसूत्र [१।१।१२] में भी केवल पाँच इन्द्रियाँ गिनायी गयी हैं। किन्तु वात्स्यायन कहते हैं कि मन इन्द्रिय हैं। ज्ञाता इन्द्रिय द्वारा व्यवसाय करता है; क्योंकि यदि इन्द्रिय-विशेष विनष्ट हो जाय तो अनुव्यवसाय (—'मैं इस घट के ज्ञान से संयुक्त हूँ') की उत्पत्ति नहीं होती।

पूर्वपक्षी प्रश्न करता है—आप बताइये कि आत्मा, आत्मीय वेदना और संज्ञा की उपलब्धि कैसे होती है? भाष्यकार (वात्स्यायन) उत्तर देते हैं कि यह अन्तःकरण (मन) द्वारा होती है। मन इन्द्रिय है; यद्यपि सूत्र में मन का पृथक् उल्लेख नहीं है। इसका कारण यह है कि मन इन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय से कुछ बातों में भिन्न है। तथापि इस सूत्र में भी षष्ठेन्द्रिय मन का निषेध नहीं किया गया है। दिङ्नाग इसका उत्तर देते हैं कि यदि अनिषेध ग्रहण समझा जाय तो अन्य इन्द्रियों का उल्लेख भी वृथा है, क्योंकि उनका अस्तित्व सभी मानते हैं। दिङ्नाग अन्तारन्द्रिय का प्रत्याख्यान करते हैं और उसके स्थान में मानस-प्रत्यक्ष मानते हैं।

सभी ज्ञान ग्राह्य और ग्राहक में विभक्त है, किन्तु ग्राहक अंश को इसी प्रकार पुनः विभक्त नहीं कर सकते; क्योंकि विज्ञान के दो भाग नहीं होते। अतः स्वसंवेदन को बाह्य प्रत्यक्ष के तुल्य समझना अयुक्त है।

धर्मोत्तर कहते हैं कि ज्ञान की प्रक्रिया में प्रथम क्षण के अनन्तर विकल्प अनुगमन करता है। निःसन्देह आत्मा का ज्ञान रूपवेदन होता है, किन्तु इसके अनन्तर विकल्प नहीं होता। चित्त की कोई अवस्था नहीं है, जिसमें यह संवेदन प्रत्यक्ष न होता हो। यदि हम नीलादि देखते हैं और साथ-साथ सुखादि आकार का संवेदन होता है तो यह नहीं कह सकते कि यह सुखादि रूप नीलादि से इन्द्रिय-विज्ञान के तुल्य आकार है। किन्तु जब किसी बाह्य अर्थ, जैसे नीलादि, का दर्शन होता है तो तुल्य काल में सुखादि आकार से किसी अन्य का संवेदन होता है। यह स्वात्मा की अवस्था का संवेदन है। वस्तुतः जिस रूप में आत्मा का संवेदन होता है वह रूप-प्रत्यक्ष का आत्म-संवेदन है। अतः रूपदर्शन के साथ-साथ हम किसी एक अन्य वस्तु का अनुभव करते हैं, जो दृष्ट अर्थ से अन्य है, जो प्रत्येक चित्तावस्था के साथ होता है और जिसके बिना कोई चित्तावस्था नहीं होती यह वस्तु स्वात्मा है। यह

ज्ञान ही है। इसी से ज्ञान का अनुभव होता है। यह ज्ञान रूपवेदन आत्मा का साक्षात्कार है; यह निर्विकल्पक एवं अभ्रान्त है; अतः यह प्रत्यक्ष है।

निष्कर्ष—इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्य दर्शनों का आत्मा उपनिषदों में ब्रह्म का स्थान पाकर सांख्य में एक द्रव्य के रूप में माना जाता है। हीनयान में हम इसे विज्ञान-सन्तान के रूप में पाते हैं, जिसका कारित्र षष्ठेन्द्रिय का है। बौद्ध-न्याय में इसका यह स्थान भी विलुप्त हो जाता है और यह प्रत्येक चित्तावस्था का साहचर्य करता है।

अनुमान

अनुमान दो प्रकार का है—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक है और परार्थानुमान शब्दात्मक। दोनों में अत्यन्त भेद होने से इनका लक्षण एक नहीं है। स्वार्थानुमान अपनी प्रतिपत्ति के लिये है, और परार्थानुमान वह है जिससे दूसरे को ज्ञान प्रतिपादित कराया जाय। पहले हम स्वार्थानुमान का वर्णन करेंगे।

१. स्वार्थानुमान—जो ज्ञान त्रिरूप लिङ्ग से उत्पन्न होता है और जिसका आलम्बन अनुमेय है, वह स्वार्थानुमान है। अनुमान में भी प्रत्यक्ष के समान प्रमाण-फल की व्यवस्था है। यथा नीलसरूप प्रत्यक्ष का अनुभव होने पर नीलबोधरूप अवस्थापित होता है। यही नीलसरूप जो अवस्थापन का हेतु है, प्रमाण है और नीलबोधरूप प्रमाणफल है। इसी प्रकार अनुमान के नीलाकार उत्पन्न होने पर नीलबोधरूप अवस्थापित होता है। नीलसारूप्य इसका प्रमाण है और नीलविकल्परूप इसका प्रमाणफल है। सारूप्यवश ही नीलप्रतीतिरूप सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं।

लिङ्ग की त्रिरूपता—लिङ्ग हेतु को कहते हैं। इसके तीन रूप हैं।

१. लिङ्ग का प्रथम रूप है—अनुमेय में होना (सत्त्व)। इसका होना निश्चित है, क्योंकि यह योग्यता के कारण नहीं, किन्तु इसलिये है कि आवश्यक रूप से परोक्ष ज्ञान का निमित्त है। अदृष्ट बीज भी अंकुर के उत्पादन की योग्यता रखता है, किन्तु अदृष्ट धूम से अग्नि की प्रतिपत्ति नहीं होती। यह प्रतिपत्ति भी नहीं होती कि अमुक स्थान में अग्नि है। लिङ्ग की तुलना उस दीप के प्रकाश से भी नहीं हो सकती जो घटादि को प्रकाशित करता है। यह परोक्षार्थ का प्रकाशन किसी वस्तु के ज्ञान के उत्पादन का हेतु है जो उपस्थित है। दीप और घट में कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि धूम का दर्शन है, तथापि अग्नि की प्रतिपत्ति नहीं होगी, जब तक कि हमें अग्नि के साथ उसके निश्चित अविनाभाव का ज्ञान न हो। अतः परोक्षार्थ (यथा अग्नि) और दृष्टलिङ्ग (यथा धूम) की नान्तरीयकता (अविनाभाव) का निश्चयन ही लिङ्ग का व्यापार है।

इस सत्त्ववचन (लिङ्ग के अनुमेय में होने) से असिद्ध लिङ्ग का निरसन होता है। लिङ्ग को पक्ष के एकदेश में प्रसिद्ध नहीं होना चाहिये! यथा—"वृक्ष चेतन हैं क्योंकि वे सोते हैं'। किन्तु सब वृक्ष नहीं सोते; क्योंकि उनका स्वाप केवल एक-देश में सिद्ध है। अतः अनुमान नहीं है।

२. लिङ्ग का द्वितीय रूप है—उसका सपक्ष में ही निश्चित सत्त्व।

इस सत्त्व-ग्रहण से 'विरुद्ध' का निरसन होता है, क्योंकि वह सपक्ष में नहीं है। 'साधारण अनैकान्तिक' का भी निरसन होता है; क्योंकि वह सपक्ष में ही नहीं, अपितु उभयत्र वर्तमान है। 'सपक्ष में ही लिङ्ग का सत्त्व है'—इसका यह अर्थ नहीं है कि सब सपक्षों में इसे होना ही चाहिये, किन्तु यह अर्थ है कि असपक्ष में इसे नहीं होना चाहिये।

३. इसी प्रकार लिङ्ग का तृतीय रूप है—लिङ्ग का असपक्ष में निश्चित असत्त्व।

असत्त्व-ग्रहण से 'विरुद्ध' का निरास होता है, क्योंकि विरुद्ध विपक्ष में होता है। 'साधारण' का भी निरास होता है; क्योंकि वह सब सपक्षों में होता है और असपक्ष के एकदेश में भी होता है। यथा—"शब्द बिना प्रयत्न के होते हैं, क्योंकि वह अनित्य हैं"। इस उदाहरण में अनित्यत्व लिङ्ग है। यह विपक्ष के एकदेश में है। यथा—विद्युत् आदि में (जो विना प्रयत्न के होते हैं और अनित्य हैं)। और दूसरे देश में, जैसे आकाशादि में, नहीं हैं, जो बिना प्रयत्न के नहीं होता अपितु नित्य है। यहाँ अनुमेय जिज्ञासित धर्मी है।

सपक्ष वह है जिसका पक्ष समान है। यह समान अर्थ है; यह अनुमेय के सदृश है। यह सामान्य क्या है ? जो पक्ष और सपक्ष को मिलाता है। यह साध्य धर्म की समानता के कारण है।

असपक्ष सपक्ष से अन्य या उसके विरुद्ध अथवा सपक्ष का अभाव है। जब तक सपक्ष के स्वभाव का अभाव नहीं जाना जाता, तब तक सपक्ष से अन्य और उसके विरुद्ध की प्रतीति नहीं हो सकती। अतः सपक्षाभाव अन्य दो के अन्तर्गत है।

त्रिरूप लिङ्ग के तीन प्रकार

त्रिरूप लिङ्ग के तीन प्रकार हैं—१. अनुपलब्धि, २. स्वभाव और ३. कार्य।

१. अनुपलब्धि हेतु—अनुपलब्धि का प्रयोग इस प्रकार है—'इस देश-विशेष में घट नहीं है; क्योंकि उस का ज्ञान प्रतिपत्ता को नहीं होता'। यद्यपि ज्ञान का लक्षण अर्थात् हेतु-प्रत्यय-सामग्री प्राप्त है। ज्ञान का जनक घट भी है; और अन्य चक्षुरादि भी जनक हैं। दृश्य घट के अतिरिक्त प्रत्ययान्तर हैं और उनकी सन्निधि है। जिसे हम अनुपलब्धि कहते हैं, वह ज्ञान का अभाव नहीं किन्तु वस्तु है और उसका

ज्ञान है। दर्शननिवृत्तिमात्र स्वयं अनिश्चित होने से गमक नहीं। किन्तु जब हम अनुपलब्धि की बात करते हैं, जिसका रूप दृश्य का अनुपलम्भ है, तो वचनसामर्थ्य से ही दृश्य-घटरहित प्रदेश और उनके ज्ञान का आशय होता है। अनुपलब्धि का अर्थ विविध प्रदेश और उनके ज्ञान का होना है।

२. स्वभाव हेतु—जिस साध्य की विद्यमानता हेतु की अपनी सत्ता की ही अपेक्षा करती है हेतुसत्ताव्यतिरिक्त किसी अन्य हेतु की नहीं, उस साध्य में जो हेतु है वह स्वभाव है।

प्रयोग—'यह वृक्ष है (साध्य)। क्योंकि यह शिंशपा है।' इसका अर्थ यह है कि इसके लिये 'वृक्ष' शब्द का व्यवहार हो सकता है, क्योंकि इसके लिये शिंशपा का व्यवहार हो सकता है। अब यदि किसी मूढ़ पुरुष को, जो शिंशपा का व्यवहार नहीं जानता और ऐसे देश में रहता है जहाँ प्रचुर मात्रा में शिंशपा है, कोई व्यक्ति एक ऊँचा शिंशपा दिखलाकर बताये कि यह वृक्ष है, तो वह जड़ पुरुष समझेगा कि शिंशपा का उच्चत्व वृक्षव्यवहार में निमित्त है। इसलिये एक छोटा शिंशपा देखकर वह समझेगा कि यह वृक्ष नहीं है। इस मूढ़ को बताना चाहिये कि प्रत्येक शिंशपा के लिये वृक्ष का व्यवहार होता है। उच्चत्वादि वृक्ष-व्यवहार के निमित्त नहीं, अपितु केवल शिंशपात्वमात्र निमित्त है।

३. कार्य हेतु—यह हेतु कार्य है।

प्रयोग—'यहाँ अग्नि है। क्योंकि यहाँ धूम है'। 'अग्नि' साध्य है; 'यहाँ' धर्मी है; 'क्योंकि धूम है' हेतु है। कार्यकारणभाव की प्रतीति लोक में है। जहाँ कार्य है वहाँ कारण है। और जहाँ कारण की विकलता है वहाँ कार्य के अभाव की प्रतीति होती है। अतः कार्य का लक्षण उक्त नहीं है।

हेतु-भेद का कारण—

यह कहा जा सकता है कि जब रूप तीन हैं तो एक लिङ्ग का होना अयुक्त है। यह भी कहा जा सकता है कि यदि ये तीन प्रकार-भेद हैं तो प्रकार अनन्त हैं।

हमारा उत्तर यह है कि इन तीन हेतुओं में से दो हेतु वस्तुसाधन हैं। ये विधि के गमक हैं। एक प्रतिषेध का हेतु है। यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रतिषेध से हमारा आशय है—अभाव और अभाव-व्यवहार इसका अर्थ यह है कि हेतु साध्य को सिद्ध करता है, इसलिये वह साध्य का अंग है। साध्य साधन है। अतः (साध्य के उपकरण) हेतु के भेद साध्य के भेद से होते हैं, न कि स्वरूप-भेद से। साध्य कभी विधि है, कभी प्रतिषेध; क्योंकि विधि और प्रतिषेध एक दूसरे का परिहार है। इसलिये इन के हेतु एक दूसरे से भिन्न हैं। कोई विधि हेतु

से भिन्न है, कोई अभिन्न है (स एव वृक्षः, सैव शिंशपा)। भेद और अभेद एक दूसरे का त्याग करते हैं। इसलिये उनकी आत्मस्थिति के हेतु भी भिन्न हैं। अतः साध्य के हेतु भिन्न हैं, क्योंकि साध्य में परस्पर विरोध है। किन्तु हेतु स्वतः एवं भिन्न नहीं है।

पुनः ऐसा क्यों है कि इन्हीं तीन का हेतुत्व है, अन्य का नहीं ?

क्योंकि कोई एक दूसरे का जनक तभी होता है जब वह दूसरे से स्वभावतः प्रतिबद्ध हो। जैसे धूम का अग्नि से स्वभाव-प्रतिबन्ध है। स्वभाव-प्रतिबन्ध होने पर ही साधनार्थ साध्यार्थ का ज्ञान कराता है। इसलिये ये तीन ही गमक हैं, अन्य नहीं।

इसका क्या कारण है कि स्वभाव-प्रतिबन्ध होने पर ही गम्यगमकभाव होता है, अन्यथा नहीं ? क्योंकि जो स्वभाव से अप्रतिबद्ध हैं, उनके लिये अव्यभिचार नियम का अभाव है।

साध्य और साधन में कौन किसका प्रतिबन्ध है ? साध्य में लिङ्ग का स्वभाव-प्रतिबन्ध है। लिङ्ग परायत्त है; इसलिये वह प्रतिबद्ध साध्य है। साध्य अर्थ अपरायत्त है, इसलिये वह प्रतिबद्ध नहीं है। जो प्रतिबद्ध है वह ग-क है, जो प्रतिबन्ध का विषय है वह गम्य है।

लिङ्ग का स्वभाव-प्रतिबन्ध क्यों है ? क्योंकि वस्तुतः साधन साध्यस्वभाव है, अथवा साध्य अर्थ से लिङ्ग की उत्पत्ति होती है। यदि साध्यस्वभाव साधन है, यदि उनका तादात्म्य है, तो साध्य-साधन का अभेद होगा। इसलिये कहा है कि वस्तुतः, अर्थात् परमार्थसत् रूप में, इनका अभेद है।

इसका क्या कारण है कि इन दो निमित्तों (स्वभाव और कार्य) से ही लिङ्ग का स्वभाव-प्रतिबन्ध होता है, अन्य से नहीं ? क्योंकि जब तादात्म्य नहीं होता या इसकी उत्पत्ति उससे नहीं होती, तब स्वभाव-प्रतिबन्ध नहीं होता। इसलिये कार्य और स्वभाव से ही वस्तु-विधि की सिद्धि होती है।

प्रतिषेध की सिद्धि—

ऐसा क्यों है कि जब प्रतिषेधवश पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, तो हम अदृश्य की अनुपलब्धि को सिद्धि का हेतु नहीं मानते ?

प्रतिषेध-व्यवहार की सिद्धि पूर्वोक्त दृश्यानुपलब्धि से होती है, अन्य से नहीं। प्रश्न है कि उसी से क्यों होती है ? क्योंकि यदि प्रतिषेध्य वस्तु विद्यमान होती तो दृश्य की अनुपलब्धि सम्भव न होती। इसके असम्भव होने से प्रतिषेध की सिद्धि होती है। अभाव-व्यवहार की सिद्धि तब होती है जब प्रतिपत्ता के अतीत या वर्तमान

की प्रत्यक्ष की निवृत्ति होती है, यदि इसका स्मृतिसंस्कार भ्रष्ट न हो गया हो। अतीत और वर्तमान काल की अनुपलब्धि ही अभाव का निश्चय करती है। अनागत अनुपलब्धि स्वयं संदिग्ध स्वभाव की है। क्योंकि वह असिद्ध है इसलिये अभाव का निश्चय नहीं करती।

अनुपलब्धि के प्रकार-भेद

अब अनुपलब्धि के प्रकार-भेद बताते हैं। इसके ११ भेद हैं। ये प्रयोगवश होते हैं। शब्द के अभिधान-व्यापार को 'प्रयोग' कहते हैं। शब्द कभी साक्षात् अर्थान्तर को सूचित कर अनुपलब्धि को सूचित करता है; कभी प्रतिषेधान्तर का अभिधायी होता है। दृश्यानुपलब्धि सर्वत्र जानी जायगी, भले ही वह शब्द से सूचित न भी हो। अतः वाचक के व्यापारभेद से अनुपलब्धि का प्रकार-भेद होता है, स्वरूप-भेद नहीं।

उस प्रकार-भेद का विस्तार यों है—

१. प्रतिषेध के स्वभाव की अनुपलब्धि। यथा—यहाँ (धर्मी) धूम नहीं है (साध्य)। हेतु—क्योंकि उपलब्धि के लक्षण प्राप्त होने पर भी अनुपलब्धि है।

२. प्रतिषेध्य के कार्य की अनुपलब्धि। यथा—यहाँ (धर्मी) धूमोत्पत्ति का अनुपहत-सामर्थ्य रखने वाले कारण नहीं है (साध्य)। हेतु—क्योंकि धूम का अभाव है।

३. व्याप्य (प्रतिषेध्य) का जो व्यापक धर्म है, उसकी अनुपलब्धि। यथा—यहाँ (धर्मी) शिंशपा नहीं है (साध्य)। हेतु—क्योंकि व्यापक अर्थात् वृक्ष का अभाव है। समान विषय में अभावसाधन का यह प्रयोग है।

४. प्रतिषेध्य के स्वभाव के विरुद्ध की उपलब्धि। यथा—यहाँ (धर्मी) शीत का स्पर्श नहीं है (साध्य)। हेतु—क्योंकि यहाँ अग्नि है।

५. प्रतिषेध्य के जो विरुद्ध है उसके कार्य की अनुपलब्धि। यथा—यहाँ (धर्मी) शीत का स्पर्श नहीं है (साध्य)। हेतु-क्योंकि यहाँ धूम है।

६. प्रतिषेध्य के जो विरुद्ध है उससे व्याप्त धर्मान्तर की उपलब्धि। यथा—जात वस्तु (भूत) का भी विनश्वर स्वभाव (धर्मी) ध्रुवभावी नहीं है (साध्य)। हेतु—क्योंकि उनका विनाश हेत्वन्तर की अपेक्षा करता है।

७. प्रतिषेध्य के कार्य के विरुद्ध की उपलब्धि। यथा—यहाँ (धर्मी) शीतजनन के अनुपहत सामर्थ्य के कारण नहीं हैं (साध्य)। हेतु—क्योंकि यहाँ अग्नि है।

जहाँ शीतकारण अदृश्य है और शीतस्पर्श भी अदृश्य है, वहाँ इस हेतु का प्रयोग होता है। जहाँ शीतस्पर्श होता है, वहाँ द्वितीय हेतु का प्रयोग करते हैं। जहाँ शीतकारण दृष्ट होते हैं वहाँ प्रथम हेतु का प्रयोग होता है।

८. प्रतिषेध्य के व्यापक विरुद्ध की उपलब्धि। यथा—यहाँ (धर्मी) तुषारस्पर्श नहीं है (साध्य)—हेतु क्योंकि यहाँ अग्नि है। यहाँ तुषारस्पर्श व्याप्य है और शीतस्पर्श व्यापक है। शीतस्पर्श दृश्य नहीं है।

९. प्रतिषेध्य के कारण की अनुपलब्धि। यथा—यहाँ (धर्मी) धूम नहीं है (साध्य)। हेतु— क्योंकि अग्नि नहीं है।

१०. प्रतिषेध का जो कारण है उसके जो विरुद्ध है उसकी उपलब्धि। यथा—उसके (धर्मी) रोमहर्षादि विशेष नहीं (साध्य)। हेतु—क्योंकि दहनविशेष उसके सन्निहित है। कोई-कोई दहन शीतनिवर्तन में समर्थ नहीं होता, जैसे प्रदीप। इसलिए 'दहनविशेष' कहा गया है।

११. प्रतिषेध का जो कारण है उसके जो विरुद्ध है उसका जो कार्य है उसकी उपलब्धि। यथा—इस देश (धर्मी) में रोमहर्षादिविशेषयुक्त पुरुष नहीं है (साध्य)। हेतु—क्योंकि यहाँ धूम है।

जब रोमहर्षादिविशेष का प्रत्यक्ष होता है, तो प्रथम हेतु का प्रयोग होता है। जब कारण अर्थात् शीतस्पर्श का प्रत्यक्ष होता है, तब नवें हेतु का प्रयोग होता है। जब अग्नि प्रत्यक्ष होता है, तब दसवें हेतु का प्रयोग होता है। जब इन तीनों का प्रयोग नहीं होता, तो ग्यारहवें हेतु का प्रयोग होता है।

यदि प्रतिषेध-हेतु एक है, तो अभाव के ये ११ हेतु क्यों वर्णित है ? प्रथम को छोड़कर शेष १० प्रयोगों का एक प्रकार से प्रथम में अन्तर्भाव है।

अदृश्यानुपलब्धि

दृश्यानुपलब्धि का हमने विवेचन कर दिया। यह अभाव और अभाव-व्यवहार में प्रमाण है। अब अदृश्यानुपलब्धि का क्या स्वभाव है ? और क्या व्यापार है !—बताते हैं।

अर्थ, देश, काल और स्वभाव में से किसी से या सबसे विप्रकृष्ट हो सकते हैं। इनका प्रतिषेध संशयहेतु है। इसका स्वभाव क्या है ? प्रत्यक्ष और अनुमान—दोनों की निवृत्ति इसका लक्षण है। प्रमाण से प्रमेयसत्ता की व्यवस्था होती है। अतः प्रमाण के अभाव में प्रमेय के अभाव की प्रतिपत्ति उचित है ? इसका उत्तर यह है—प्रमाण की निवृत्ति से दृश्यानुपलब्धि की सिद्धि नहीं होती। जब कारण की निवृत्ति होती है तब कार्य निवृत्त होता है। जब व्यापक की निवृत्ति होती है तब व्याप्य निवृत्त होता है। किन्तु प्रमाण प्रमेय का कारण नहीं है और न व्यापक है। अतः जब दोनों प्रमाणों की निवृत्ति होती है तब प्रमेय अर्थ की निवृत्ति सिद्ध नहीं होती। और क्योंकि प्रमाण का अभाव कुछ सिद्ध नहीं करता, इसलिये अदृश्य की अनुपलब्धि संशय का हेतु है, निश्चय-हेतु नहीं।

किन्तु यह कहना भी युक्त है कि प्रमाणसत्ता से प्रमेयसत्ता सिद्ध होती है। प्रमाण प्रमेय का कार्य है। कारण के बिना कार्य नहीं होता। किन्तु ऐसा नहीं कि कारण का कार्य अवश्य ही हो। अतः प्रमाण से प्रमेयसत्ता की व्यवस्था होती है; प्रमाणाभाव से प्रमेयाभाव की व्यवस्था नहीं होती।

२. **परार्थानुमान**—परार्थानुमान वह है जिससे दूसरे को ज्ञान का प्रतिपादन कराते हैं। यह त्रिरूप लिङ्ग का प्रकाशन है। यहाँ भी लिङ्ग या हेतु या साधन के तीन रूप हैं। ये इस प्रकार हैं--

१. अन्वय—यथा—"जहाँ धूम है वहाँ वह्नि है" अथवा "जो जात है वह अनित्य है।"

२. व्यतिरेक--यथा—"जहाँ वह्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है"।

३. पक्षधर्मत्व—यथा—"यहाँ वही धूम है, जिसका वह्नि के साथ अविनाभाव है"।

परार्थानुमान शब्दात्मक है। वचन द्वारा त्रिरूप लिङ्ग का आख्यान होता है। अनुमान को हमने पहले सम्यग्ज्ञानात्मक बताया है। इसका क्या कारण है कि अब हम उसे वचनात्मक कहते हैं?

उत्तर यह है कि कारण में कार्य का उपचार है। जब त्रिरूप लिङ्ग का वचनात्मक आख्यान होता है, तब उस पुरुष में त्रिरूप लिङ्ग की स्मृति उत्पन्न होती है और स्मृति से अनुमान होता है। उस अनुमान का त्रिरूप-लिङ्गाभिधान परम्परया कारण है। वचन उपचारवशात् अनुमान है, मुख्यतः नहीं।

लिङ्ग के स्वरूप तथा उसके प्रतिपादक शब्द—दोनों का व्याख्यान होना चाहिये। स्वार्थानुमान में लिङ्ग के स्वरूप का व्याख्यान तो हो चुका है, अब प्रतिपादक शब्द का व्याख्यान करना है।

परार्थानुमान के प्रकार-भेद--यह दो प्रकार का है। प्रयोग के भेद से यह द्विविध है—साधर्म्यवान्, और वैधर्म्यवान्। शब्द के अर्थाभिधान-भेद से प्रयोग-भेद होता है। दृष्टान्तधर्मी के साथ साध्यधर्मों का हेतुकृत सादृश्य 'साधर्म्य' कहलाता है। हेतुकृत असादृश्य 'वैधर्म्य' है।

साधर्म्य-यथा जो कृतक (=संस्कृत=संस्कार) है, वह अनित्य है; जैसे घटादि।
पक्षधर्मत्व—शब्द ऐसे ही कृतक हैं।
साध्य—वह अनित्य हैं।
वैधर्म्य—जो नित्य है वह अकृतक है, जैसे आकाश। किन्तु शब्द कृतक है, वह अनित्य है।

यदि इन दोनों प्रयोगों का अर्थ भिन्न है, तो त्रिरूप लिङ्ग अभिन्न क्यों है ?

प्रयोजन की दृष्टि से इन दोनों अर्थों में भेद नहीं है। दोनों से त्रिरूप लिङ्ग प्रकाशित होता है। केवल प्रयोग का भेद है। अभिधेय की अपेक्षा से ही वचन-भेद है, प्रकाश्य अभिन्न है। यथा 'पीन देवदत्त दिन में नहीं खाता', 'पीन देवदत्त रात्रि में खाता है'—इन दो वाक्यों में अभिधेय-भेद होते हुए भी गम्यमान वस्तु एक ही है।

१. अब हम साधर्म्यवान् अनुमान के उदाहरण देते हैं—

अनुपलब्धि का साधर्म्यवान् प्रयोग

(अन्वय) जहाँ कहीं उपलब्धिलक्षण प्राप्त दृश्य की उपलब्धि नहीं होती, वहाँ हम उसके लिये असत् का व्यवहार करते हैं। (दृष्टान्त) यथा—जब शशविषाणादि को, जिस दृश्य के लिये हम असत् व्यवहार करते हैं, हम चक्षु का विषय नहीं करते। (पक्षधर्मत्व) एक प्रदेशविशेष में हम दृश्य घट की उपलब्धि नहीं करते। (साध्य) अतः हम उसे असद्व्यवहारयोग्य कहते हैं।

स्वभाव-हेतु का साधर्म्यवान् प्रयोग

(अन्वय) जो सत् है वह अनित्य है। (दृष्टान्त) यथा घटादि। (पक्षधर्मत्व) शब्द सत् है। (साध्य) यह क्षणसन्तान है। यह निर्विशेषण स्वभाव का प्रयोग है।

सविशेषण स्वभाव का प्रयोग यों है—

(अन्वय) जो उत्पत्तिमान् है वह अनित्य है। (दृष्टान्त) यथा घटादि। (पक्षधर्मत्व) शब्द उत्पत्तिमान् हैं। (साध्य) शब्द अनित्य हैं।

अनुत्पन्न से इसकी व्यावृत्ति है। यहाँ वस्तु उत्पत्ति से विशिष्ट है। यह स्वभावभूत धर्म है।

अब कल्पित भेद से विशिष्ट स्वभाव का प्रयोग बताते हैं—

(अन्वय) जो कृतक है वह अनित्य है। (दृष्टान्त) यथा घटादि। (पक्षधर्मत्व) शब्द कृतक है। (साध्य) शब्द अनित्य हैं।

जो स्वभाव की निष्पत्ति के लिये अन्य कारणों के व्यापार की अपेक्षा करता है वह 'कृतक' कहलाता है। इसलिये कृतक का स्वभाव व्यतिरिक्त विशेषण से विशिष्ट है।

कार्य-हेतु का साधर्म्यवान् प्रयोग

यह वह है जहाँ हेतु कार्य हैं। (अन्वय) जहाँ धूम है वहाँ वह्नि है। (दृष्टान्त) यथा महानसादि में। (पक्षधर्मत्व) यहाँ धूम है। (साध्य) यहाँ अग्नि है। यह भी साधर्म्यवान् प्रयोग है।

२. वैधर्म्यवान् प्रयोग

(क) (अन्वय) जो सत् है उसकी उपलब्धि अवश्य होती है, यदि वह उपलब्धि-लक्षणप्राप्त है। (दृष्टान्त) यथा नीलादिविशेष। (पक्षधर्मत्व) किन्तु इस प्रदेश-विशेष में हम किसी दृश्य घट को नहीं देखते, यद्यपि उपलब्धिलक्षणप्राप्त है। (साध्य) अतः यहाँ घट नहीं है।

(ख) अब उस वैधर्म्य प्रयोग को कहेंगे जो स्वभाव हेतु है—

जो नित्य है वह न सत् है, न उत्पत्तिमान् है और न कृतक है। (दृष्टान्त) यथा आकाशादि (पक्षधर्मत्व) किन्तु शब्द सत् है, उत्पत्तिमान् है, कृतक है। (साध्य) अतः शब्द अनित्य है।

(ग) अब कार्य-हेतु का वैधर्म्यप्रयोग बताते हैं—(व्यतिरेक) जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है। (दृष्टान्त) यथा पुष्करिणी में। (पक्षधर्मत्व) किन्तु यहाँ धूम है। (साध्य) अतः यहाँ अग्नि है।

यहाँ भी वह्नि का अभाव धूमाभाव से व्याप्त बताया गया है। किन्तु "यहाँ धूम नहीं है" इसके व्यापक अर्थात् धूम का अभाव उक्त है, अतः व्याप्य (अग्नि का अभाव) का भी अभाव है। और जब वह्नि के अभाव का निषेध है तो साध्यगति होती है।

अनुमान-प्रयोग के अङ्ग

नैयायिकों के प्रयोग के अनुसार पाँच अङ्ग हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। इनमें प्रतिज्ञा=पक्ष और निगमन=साध्य यद्यपि एक ही हैं, तथापि भिन्नवचन दिखाये गये हैं और पक्षधर्मत्व दो बार आता है। जैसे—

१. पर्वत पर वह्नि है। २. क्योंकि वहाँ धूम है। ३. यथा महानस में। ४. यह धूम पर्वत पर है। ५. पर्वत पर वह्नि है।

दिङ्नाग ने प्रतिज्ञा=पक्ष, निगमन=साध्य को निकाल दिया है तथा पक्षधर्मत्व को एक ही बार रखा है। अतः बौद्धन्याय के प्रयोग के दो ही अंग होते हैं, क्योंकि अन्वय और व्यतिरेक से एक ही बात उक्त होती है।

बौद्धन्याय का अनुमान-प्रयोग

१. जहाँ धूम है वहाँ वह्नि है, यथा महानस में, जहाँ दोनों हैं; अथवा जल में, जहाँ धूम नहीं है क्योंकि वहाँ अग्नि नहीं है।

२. यहाँ धूम है जो अग्नि का लिङ्ग है। जब हम उक्त दो प्रकार के प्रयोग (साधर्म्य और वैधर्म्य) का उपयोग करते हैं तो पक्ष या साध्य को निर्दिष्ट करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि साधन (लिङ्ग या हेतु) साध्यधर्म में प्रतिबद्ध है

और साधन की प्रतिपत्ति तादात्म्य या तदुत्पत्ति से होती है। हम किसी प्रकार का भी प्रयोग क्यों न करें, दोनों अवस्थाओं में साध्य एक ही है। अतएव पक्ष-निर्देश अवश्यमेव होना चाहिये, ऐसा नहीं है। यदि यह प्रतीति हो कि साधन साध्यनियत है, तो हमको अन्वयवाक्य ज्ञात है। यदि हम किसी प्रदेशविशेष में उस साधन की उपलब्धि करें, तो हम को साध्य-प्रतीति स्वयं ही हो जाती है। तब साध्यनिर्देश की पुनः क्या आवश्यकता है!

यही सिद्धांत अनुपलब्धि-प्रयोग में भी समझना चाहिये। साधर्म्यवान् प्रयोग में भी साध्यवाक्य उसी तरह अनावश्यक है। यथा—उपलब्धिलक्षण प्राप्त होने पर भी जिसका अनुपलम्भ होता है, वह असद्व्यवहार का विषय है। इस प्रदेशविशेष में घट की उपलब्धि नहीं होती, यद्यपि उपलब्धिलक्षणप्राप्त है। "यहाँ घट नहीं है"—यह सामर्थ्य से ही अवगत होता है।

वैधर्म्यवान् प्रयोग में भी ऐसा ही है। जैसे—जो विद्यमान है और उपलब्धिलक्षण-प्राप्त है, उसकी अवश्य उपलब्धि होती है। किन्तु इस प्रदेश-विशेष में घट की उपलब्धि नहीं है। सामर्थ्य से ही सिद्ध होता है कि सद्व्यवहार का विषय घट यहाँ नहीं है। इसी प्रकार स्वभाव-हेतु और कार्य-हेतु दोनों में सामर्थ्य से पक्ष का समकालिक प्रत्यय होता है, अतः पक्षनिर्देश की आवश्यकता नहीं है।

पक्ष क्या है?—पक्ष वह अर्थ है जो वादी को साध्यवत्त्वेन इष्ट है और जो प्रत्यक्षादि से निराकृत नहीं है। साध्य और असाध्य की विप्रतिपत्ति का निराकरण करना पक्ष का लक्षण है। अतः साध्यवत्त्व ही इसका स्वरूप है। इसका कोई और रूप नहीं है। जब प्रतिवादी साधन को असिद्ध मानता है, तो उसको साधनत्वेन निर्दिष्ट साध्यत्वेन इष्ट नहीं होता। मान लीजिये कि शब्द का अनित्यत्व साध्य है और हेतु चाक्षुषत्व है। क्योंकि शब्द का चाक्षुषत्व असिद्ध है, इसे हम साध्य मान सकते हैं। किन्तु यह साधन उक्त है। अतः यहां उसका साधनत्व इष्ट नहीं है।

वाद-काल में वादी जिस धर्म को स्वयं साधना चाहता है, वही साध्य है। दूसरा धर्म साध्य नहीं है।

अर्थ तभी पक्ष है जब वह प्रत्यक्षादि से निराकृत न हो। इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि एक अर्थ के पक्ष में लक्षण विद्यमान हों तथापि वह यदि प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रतीति अथवा स्ववचन से वह निराकृत होता है, अर्थात् विपरीत सिद्ध होता है तो वह पक्ष नहीं है। यथा—

१. 'शब्द श्रोत्र-ग्राह्य नहीं है'। यह प्रत्यक्ष से निराकृत होता है। शब्द का श्रोत्रग्राह्यत्व प्रत्यक्ष सिद्ध है।

२. 'शब्द नित्य है'। यह अनुमान से निराकृत है।

३. 'शशि चन्द्र-शब्दवाच्य नहीं है'। यह प्रतीति से निराकृत है।

४. 'अनुमान प्रमाण नहीं है'। यह स्ववचन से निराकृत है।

हेत्वाभास

त्रिरूप में से यदि एक भी अनुक्त हो तो साधन का आभास होगा। ये साधन के सदृश हैं किन्तु साधन नहीं हैं। त्रिरूप की न्यूनता ही साधन का दोष है। प्रतिवादी या वादी को केवल अनुक्त होने पर ही नहीं, किन्तु उक्त के असिद्ध होने पर या सन्देह होने पर भी हेत्वाभास होता है।

साधन की असिद्धि या सन्देह होने पर हेत्वाभास की संज्ञा होती है? यदि प्रथमरूप, हेतु का धर्मी में सत्त्व असिद्ध है या सन्दिग्ध है, तो हेत्वाभास संज्ञा असिद्ध की होती है।

१. **असिद्ध हेत्वाभास**—यथा—जब साध्य यह है कि शब्द अनित्य है, तो चाक्षुषत्ववादी प्रतिवादी दोनों के लिये असिद्ध है।

दिगम्बर मत में वृक्षों का चैतन्य साध्य है, क्योंकि जब सारी त्वचा का अपहरण होता है, तो उनका मरण होता है। प्रतिवादी (बौद्ध) के लिये यह असिद्ध है। वह विज्ञान, इन्द्रिय और आयु के निरोध को मरण मानता है। वृक्षों में यह मरण असम्भव है क्योंकि उनमें विज्ञान नहीं होता। इसलिये उसके निरोध का प्रश्न ही नहीं है।

सांख्य का साध्य है कि सुखादि अचेतन है। सांख्यवादी उत्पत्तिमत्त्व या अनित्यत्व को लिङ्ग उपन्यस्त करते हैं, यथा रूपादि। चैतन्य पुरुष का स्वरूप है। पुरुष में वेदना नहीं होती। सांख्य के मत में उत्पत्तिमत्त्व और अनित्यत्व दोनों असिद्ध है।

सन्दिग्धासिद्ध—अब सन्दिग्धासिद्ध का उदाहरण देते हैं—

यदि हेतु के सम्बन्ध में सन्देह है, अथवा हेतु के आश्रयभूत साध्यधर्मी के विषय में सन्देह है, तो सन्दिग्धासिद्ध है। यथा—धूम वाष्पादि से सन्दिग्ध होता है।

यथा—इस निकुञ्ज (धर्मी) में मयूर है, क्योंकि हम उसकी ध्वनि सुनते हैं। यह आश्रयासिद्ध है। यह भी सम्भव है कि वहाँ बहुत से पास-पास निकुञ्ज हों। यह भ्रम हो सकता है कि ध्वनि इस निकुञ्ज से आ रही है या किसी दूसरे से।

जब धर्मी असिद्ध है तो हेतु असिद्ध है। यथा—आत्मा का सर्वगतत्व साध्य है। हेतु—आत्मा के सुखदुःखादि गुण सर्वत्र उपलभ्यमान हैं। यह हेतु असिद्ध है। बौद्ध आत्मा को नहीं मानते तो सर्वत्र उपलभ्यमान गुणत्व कैसे सिद्ध हो!

२. अनैकान्तिक हेत्वाभास—जब किसी लिङ्ग का वह रूप जिसमें उसका असपक्ष में निश्चित असत्त्व असिद्ध है, तो वह अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है। यथा—

१. साध्य है कि शब्द नित्य है। क्योंकि वह दृश्य है। जो दृश्य है वह नित्य है। यथा आकाश (दृश्य और नित्य)। घटवत् नहीं (अनित्य किन्तु अदृश्य नहीं)।

२. शब्द का अप्रयत्नानन्तरीयकत्व है। क्योंकि वह अनित्य है। जो अनित्य है वह प्रयत्नानन्तरीयक नहीं है! यथा विद्युत और आकाश (एक अनित्य दूसरा नित्य, किन्तु दोनों अप्रयत्नानन्तरीयक)। घटादिवत् नहीं (जो प्रयत्नानन्तरीयक है और जिन्हें नित्य होना चाहिये किन्तु अनित्य हैं)।

३. शब्द प्रयत्नानन्तरीयक है। क्योंकि वह अनित्य है। जो अनित्य है वह प्रयत्नानन्तरीयक है। यथा घट (जो प्रयत्नानन्तरीयक है)। विद्युत-आकाशवत् नहीं (जो ऐसे नहीं हैं, किन्तु एक अनित्य है दूसरा नित्य है)।

४. शब्द नित्य है। क्योंकि वह अमूर्त है। जो अमूर्त है वह अनित्य है। जैसे—आकाश-परमाणु (ये दोनों नित्य हैं)। घटवत् नहीं (दोनों अनित्य किन्तु पहला अमूर्त है)।

इन चार दृष्टान्तों में पक्षधर्म का असत्त्व विपक्ष में असिद्ध है। इससे अनैकान्तिकता है।

इसी प्रकार जब यह रूप सन्दिग्ध है तब भी अनैकान्तिक है। यथा साध्य है कि अमुक असर्वज्ञ है अथवा रागादिमान् है। यदि प्रकृत साध्य में वक्तृत्वादि धर्म को हेतु कहा जाय तो विपक्ष (सर्वज्ञ) में इसका असत्त्व सन्दिग्ध है। सर्वज्ञ में वक्तृत्वादिक धर्म होते भी हैं, नहीं भी होते। अतः अनैकान्तिक है।

किन्तु यह कहा जा सकता है कि सर्वज्ञ वक्ता उपलब्ध नहीं है, तो उसके वक्तृत्व के विषय में सन्देह क्यों? "सर्वज्ञ वक्ता का अनुपलम्भ है" यह संशय का हेतु है। जब कोई अदृश्य विषय हो तो अनुपलम्भ निश्चयहेतु नहीं, अपितु संशयहेतु है। अतः सर्वज्ञ में वक्तृत्व का असत्त्व सन्दिग्ध है। प्रतिवादी कह सकता है कि यह अनुपलब्धि नहीं है, जिसके कारण वह कहता है कि सर्वज्ञ में वक्तृत्व का अभाव है, किन्तु वह ऐसा इसलिये कहता है क्योंकि सर्वज्ञता का वक्तृत्व से विरोध है। हमारा उत्तर है कि विरोध नहीं है। इसलिये यह सिद्ध नहीं होता—क्योंकि सन्देह है, विरोध का अभाव है; इसलिये सन्देह है। सन्देह के कारण व्यतिरेक की असिद्धि है। विरोध का अभाव कैसे है? विरोध द्विविध है, अन्य प्रकार का नहीं है।

विरोध—विरोध क्या है? यदि कारण-वैकल्य से किसी का अभाव होता है, तो उसका किसी से विरोध नहीं होता। किन्तु जब तक समग्र कारण अविकल रहते

हैं, तब तक उस वस्तु की निवृत्ति कोई नहीं कर सकता। इसलिये उसका कोई विरोध कैसे कर सकता है ?

किन्तु निम्न प्रकार से यह सम्भव है। अविकल कारण होने पर भी जिसके द्वारा कारण-वैकल्य होकर अभाव होता है, उससे विरोध है। ऐसा होने पर जो जिसके विरुद्ध है, वह उसको क्षति पहुँचाता है। यदि कोई शीतस्पर्श का जनक होकर अन्य शीतस्पर्श की जनक-शक्ति में प्रतिबन्ध होता है, तो वह शीतस्पर्श का निवर्तक होता है, और इस अर्थ में विरुद्ध है। अतः हेतु-वैकल्य का कारक जो निवर्तक है, वह विरुद्ध है।

एक ही क्षण में दो विरुद्धों का सहावस्थान सम्भव नहीं है। दूरस्थ होने से विरोध नहीं होता। अतः निकटस्थ का ही निवर्त्य-निवर्तकभाव होता है। इसलिये जो जिसका निवर्तक है, वह उसको तृतीय क्षण से कम में नहीं हटा सकता। प्रथम क्षण में सन्निपात होता है; द्वितीय में वह विरुद्ध को असमर्थ करता है, तृतीय में असमर्थ निवृत्त होता है और वह उस देश को आक्रान्त करता है। उष्णस्पर्श से शीतस्पर्श की निवृत्ति होती है। इसी प्रकार आलोक जो गतिधर्मा है, क्रमेण जल-तरङ्गवत् देश को आक्रान्त कर अन्धकार में निरन्तर आलोकक्षण उत्पन्न करता है। तब आलोक का समीपवर्ती अन्धकार असमर्थ हो जाता है। तदनन्तर उसकी निवृत्ति होती है और अन्धकार क्रमेण आलोक से अपनीत होता है। जब आलोक उस अन्धकार देश में उत्पन्न होता है, तब जिस क्षण से आलोक का जनक-क्षण उत्पन्न होता है उसी क्षण से अन्धकार अन्धकारान्तर के जनन में असमर्थ हो जाता है। अतः जिस क्षण में जनक होता है, उससे तीसरे क्षण में अन्धकार निवृत्त होता है, यदि शीघ्र निवृत्त हो। यह दो सन्तानों का विरोध है, न कि दो क्षणों का। यद्यपि सन्तान नाम की कोई वस्तु नहीं है, तथापि सन्तानी वस्तुभूत हैं। अतः परमार्थ यह है कि दो क्षणों का नहीं, किन्तु बहुक्षणों का विरोध है। जब तक दहन के क्षण रहते हैं, तबतक शीतक्षण, प्रवृत्ति होते हुए भी, निवृत्त रहते हैं।

अब हम दूसरे प्रकार का विरोध दिखलाते हैं—जिन दो का लक्षण परस्पर परिहार का है उनका भी विरोध होता है। नील के परिच्छिद्यमान (नील का ज्ञान) होने पर तादात्म्य-अभाव (अनील) का अवच्छेद होता है। यदि इसका अवच्छेद न होता तो नील के अपरिच्छेद (अज्ञान) का प्रसंग होता। इसलिये वस्तु के भाव और अभाव परस्पर परिहार के रूप में स्थित हैं। जो नील से अन्य रूप है, वह नीलाभाव में अवश्य अन्तर्भूत है। जब हम पीतादि की उपलब्धि करते हैं, तब नील का अनुपलम्भ होता है और उसके अभाव का निश्चय होता है, क्योंकि जैसे नील अपने अभाव का परिहार करता है, उसी तरह पीतादिक भी अपने अभाव का

परिहार करते हैं। अतः भावाभाव (नील और अनील) का साक्षात् विरोध है और दो वस्तुओं (नील और पीत) का विरोध है, क्योंकि वे अन्योन्य अभाव का अन्तर्भूत करने में व्यभिचार नहीं करते।

किन्तु वह क्या है जिसे हम अन्यत्र अभाव मानते हैं? यह उसका नियताकार अर्थ नहीं है, यथा क्षणिकत्व। क्योंकि सभी नीलादि का स्वरूप क्षणिकत्व है, इसलिये नियताकार नहीं है। यदि क्षणिकत्व का परिहार करें तो कुछ भी नहीं दिखायी देगा।

यदि ऐसा है तो अभाव भी नियताकार नहीं है। क्यों, यह अनियताकार क्यों हो? क्योंकि इस अभाव का वस्तुरूप कल्पित विविक्ताकार है, इसलिये यह अनियताकार नहीं है। जब हम अन्यत्र किसी वस्तु के अभाव को उपलब्ध करते हैं तो हम उसे अनियताकार में नहीं किन्तु नियत रूप में, चाहे वह दृष्ट हो या कल्पित, उपलब्ध करते हैं। इसलिये जब हम नित्यत्व का निषेध करते है, अथवा जब हम पिशाचादि की उपलब्धि का प्रत्याख्यान करते हैं, तो हमको जानना चाहिये कि इनको नियताकार होना चाहिये।

यह विरोध एकात्मकत्व का विरोध है। जिन दो का परस्पर परिहार है उनका एकत्व नहीं होता। इसीलिये इस विरोध को 'लाक्षणिक विरोध' कहते हैं, इसका अर्थ यह है कि इस विरोध से वस्तुतत्त्व का विभक्तत्व व्यवस्थापित होता है। अतएव यदि किसी दृश्यमान रूप में हम किसी दूसरे का निषेध करते है, तो हम उस दृश्य का अभ्युपगम करके ही उसका निषेध करते हैं। जब पीत में हम उसके अभाव का निषेध करते हैं, अथवा यह पिशाच है इसका निषेध करते हैं, तब हम दृश्यात्मतया ही निषेध करते है। यदि ऐसा है तब रूप के ज्ञात होने पर उसके अभाव का दृश्यात्मतया व्यवच्छेद होता है। जो उसके अभाव के तुल्य नियताकार रूप है, वह दृश्य भी व्यवच्छिन्न होता है।

जब नील की उपलब्धि के साथ-साथ पीत का निषेध होता है, तो क्या इस अभूत पीत में भी अपीत का निषेध अन्तर्भूत है? हाँ! उसके अभाव के तुल्य जो नियताकार रूप है वह भी दृश्यात्मतया व्यवच्छिन्न होता है। अतः जो रूप परस्पर परिहारेण स्थित हैं, वह सब अन्तर्भूत सब निषेधों के साथ व्यवच्छिन्न हैं।

इस विरोध में सहावस्थान हो सकता है। अतः इन दो विधियों के भिन्न व्यापार हैं। एक से शीतोष्ण स्पर्श के एकत्व का निवारण होता है, दूसरे से उनका सहावस्थान होता है। इसकी प्रवृत्ति के विषय भी भिन्न हैं। वस्तु और अवस्तु में परस्पर परिहास से विरोध होता है, किन्तु सहानवस्थान-विरोध कतिपय वस्तु में ही होता है। इसलिये इनके भिन्न व्यापार और भिन्न विषय हैं। इनका अन्योन्यान्तर्भाव नहीं है।

वक्तृत्व और सर्वज्ञत्व के बीच दो में से कोई विरोध भी सम्भव नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि वक्तृत्व के होने से सर्वज्ञत्व का अभाव होता है। सर्वज्ञत्व अदृश्य है और अदृष्ट के अभाव का अध्यवसाय नहीं होता। इसी कारण इसके साथ विरोध नहीं है। यहाँ दूसरे प्रकार का विरोध भी नहीं है, क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि सर्वज्ञत्व वक्तृत्व-परिहार से होता है। इस अवस्था में काष्ठादि भी सर्वज्ञ होने लगेंगे, क्योंकि उनमें वक्तृत्व नहीं है। और सर्वज्ञत्व के परिहार से भी वक्तृत्व नहीं; क्योंकि यदि ऐसा होता तो काष्ठ में भी वक्तृत्व का प्रसङ्ग होता। अतः किसी विरोध के न होने से वक्तृत्व के विधान में हम सर्वज्ञत्व का निषेध नहीं कर सकते। अस्तु।

किन्तु यदि सर्वज्ञत्व और वक्तृत्व में कोई भी विरोध न होता तो घट-पट के समान उनकी सहावस्थिति दिखलायी पड़ती। क्या सहावस्थिति के अदर्शन से विरोधगति नहीं होती और इस विरोध से अभावगति नहीं होती? आचार्य इस आशंका का निराकरण यों करते हैं—यद्यपि वक्ता में सर्वज्ञत्व की उपलब्धि न हो, तथापि वक्तृत्व के भाव को सर्वज्ञत्व के विरुद्ध-विधि नहीं कह सकते। यद्यपि दोनों के सहावस्थान का अनुपलम्भ है; तथापि इन दोनों का विरोध नहीं है; क्योंकि सहानुपलम्भमात्र से विरोध सिद्ध नहीं होता। इसके विपरीत अध्यवसाय से सिद्ध होता है कि दो उपलभ्यमानों में निवर्त्य-निवर्तकभाव होता है। अतः यद्यपि सर्वज्ञत्व और वक्तृत्व के सहावस्थान का अनुपलम्भ है, तथापि वक्तृत्व का सद्भाव यह सिद्ध नहीं करता कि सर्वज्ञत्व विरुद्ध की विधि (=सत्त्व) है। अतः पूर्व के सद्भाव का अर्थ अपर का अभाव नहीं है।

इसी प्रकार वक्तृत्व रागादिमत्त्व का गमक नहीं है; क्योंकि यदि वक्तृत्व रागादि का कार्य होता तो वक्तृत्व की रागादि गति होती और रागादि की निवृत्ति होने पर वचनादि की निवृत्ति होती है। किन्तु वक्तृत्व कार्य नहीं है; क्योंकि रागादि और वचनादि का कार्यकारणभाव असिद्ध है। अतः वक्तृत्व विधि से रागादि गति नहीं होती। थोड़ी देर के लिये हम मान भी लें कि वचन रागादि का कार्य नहीं है; तथापि इन दोनों का सहावस्थान तो हो ही सकता है, तब रागादि की निवृत्ति होने पर वचन भी निवृत्त हो सकता है? इस आशङ्का का हमारा उत्तर यह है—जो अर्थान्तर वचन का कारण नहीं है, यदि उसकी निवृत्ति होती है तो सहचारित्व से ही वचनादि की निवृत्ति नहीं होती। अतः वक्तृत्व के साथ रागादि भी हो सकता है। वक्तृत्व सन्दिग्ध व्यतिरेक है, क्योंकि विपर्यय में उसका अभाव सन्दिग्ध है। सर्वज्ञत्व असर्वज्ञत्व का विपर्यय है और अरागादिसत्त्व रागादिसत्त्व का विपर्यय है।

३. विरुद्ध हेत्वाभास—जो एक रूप (प्रथम या तृतीय) के असिद्ध या

सन्दिग्ध होने पर होते हैं, उन हेतुदोषों को समझाकर अब हम उन हेतु-दोषों को बताते हैं जो दो रूप के असिद्ध या सन्दिग्ध होने पर होते हैं। जब दो रूपों का विपर्यय सिद्ध होता है तो हेतु-दोष को 'विरुद्ध' कहते हैं।

ये दो रूप कौन हैं? सपक्ष में सत्त्व और असपक्ष में असत्त्व। यथा—कृतकत्व विरुद्ध हेत्वाभास होता है, यदि नित्यत्व साध्य है। यथा—प्रयत्नानन्तरीयकत्व (प्रयत्न के विना जन्म या ज्ञान) विरुद्ध हेत्वाभास होता है, यदि नित्यत्व साध्य है।

ये दो विरुद्ध क्यों हैं? क्योंकि सपक्ष में असत्त्व और असपक्ष में सत्त्व है। यह निश्चित है कि सपक्ष में अर्थात् नित्य में न कृतकत्व और न प्रयत्नानन्तरीयकत्त्व होते हैं। दूसरी ओर उनकी विद्यमानता विपक्ष में अर्थात् अनित्य में ही निश्चित है। अतः विपर्यय की सिद्धि होती है।

पुनः ऐसा क्यों है कि जब विपर्यय की सिद्धि होती है तो हेतु विरुद्ध होते हैं?

यह विरुद्ध है, क्योंकि उनसे विपर्यय की सिद्धि होती है। वह नित्यत्व (साध्य) के विपर्यय (अनित्यत्व) को सिद्ध करते हैं। क्योंकि वह साध्य के बिपर्यय का साधन हैं, इसलिये वे विरुद्ध कहलाते हैं। यदि ये दो हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हैं, क्योंकि वे विपर्यय को सिद्ध करते हैं, तो परार्थानुमान में साध्य उक्त होना चाहिये। यह अनुक्त नहीं रह सकता, किन्तु अनुक्त भी कभी-कभी इष्ट है। अतः वह हेतु जो इष्ट का विघात करता है, इन दो से अन्य होगा। इसलिये एक तृतीय प्रकार का विरुद्ध है। दो विपर्यय के साधन हैं; तीसरा अनुक्त इष्टविघात करता है।

उदाहरण—चक्षुरादि (धर्मी)। परार्थ का उपकार करते हैं (साध्य)। हेतु—क्योंकि यह सञ्चित रूप है। यथा शयन-आसनादि पुरुष की उपभोग्य वस्तु है।

यह हेतु इष्ट विघात कैसे करता है?

यह विरुद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि यह वादी के इष्ट का विपर्यय सिद्ध करता है। यह सांख्यवादी है जिसे असंहत के लिये संघात रूप का अस्तित्व इष्ट है। इसका बिपर्यय संहत के लिये अस्तित्व है। क्योंकि यह विपर्यय को सिद्ध करता है। इसलिये हेतु साधन से विरुद्ध है। सांख्यमतवादी कहता है कि आत्मा है। बौद्ध पूछता है कि क्यों? वादी प्रमाण देता है। इस प्रकार साध्य है कि असंहत आत्मा के चक्षुरादि उपकारक हैं। किन्तु यह हेतु विपर्यय से व्याप्त है; क्योंकि जो जिसका उपकारक होता है वह उसका जनक होता है और कार्य (जन्यमान) युगपत् या क्रमशः संहत होता है। इसलिये "चक्षुरादि परार्थ हैं" का अर्थ है कि वे संहत परार्थ हैं, न कि असंहत परार्थ।

आचार्य दिङ्नाग ने इस प्रकार का विरुद्ध सिद्ध किया है। किन्तु धर्मकीर्ति ने इसका वर्णन नहीं किया। इसका कारण यह है कि इसका अन्य दो में अन्तर्भाव है। यह उनसे भिन्न नहीं हैं। उक्त और अनुक्त साध्य में भेद नहीं है। जब एक रूप असिद्ध है, और दूसरा रूप सन्दिग्ध है तो अनैकान्तिक होता है। जब इन दोनों रूपों का विपर्यय निश्चित होता है, तो हेतु विरुद्ध होता है। इसका क्या आकार है?

यथा—एक वीतराग या सर्वज्ञ है (साध्य)। हेतु—क्योंकि उसमें वक्तृत्व है। जिस पुरुष में वक्तृत्व है, वह वीतराग या सर्वज्ञ है। यहाँ व्यतिरेक असिद्ध है, और अन्वय सदिग्ध है।

हमारा अनुभव सिद्ध करता है कि एक पुरुष जो रागवान् है और सर्वज्ञ नहीं वह वक्तृत्व शक्ति से रहित नहीं होता। अतः यह नहीं जाना जाता कि वक्तृत्व से सर्वज्ञ होता है या नहीं। यह अनैकान्तिक है।

क्योंकि सर्वज्ञत्व और वीतरागत्व अतीन्द्रिय है, अतः यह सन्दिग्ध है कि वक्तृत्व जो इन्द्रियगम्य है, इनके साथ रहता है या नहीं।

जब दोनों रूप सन्दिग्ध है, तब भी अनैकान्तिक है। अन्वय-व्यतिरेक रूप के सन्दिग्ध होने पर संशय हेतु होता है।

जीवच्छरीर सात्मक है (साध्य)। क्योंकि इसके प्राणादि आश्वासादि हैं (हेतु)।

मृत की आत्मा इस वादी को इष्ट नहीं है। यह असाधारण संशय हेतु है। इसमें दो हेतु दिखाते हैं—सात्मक और निरात्मक। इन दो को छोड़कर कोई तीसरा राशि नहीं है, जहाँ प्राणादि वर्तमान हों। जो आत्मा के साथ वर्तमान हो वह सात्मक है। जिससे आत्मा निष्क्रान्त हो गया, वह निरात्मक है। इन दो से अन्य कोई राशि नहीं है, जहाँ प्राणादि वस्तु वर्तमान हो। अतः यह संशय-हेतु का कारण है। अन्य राशि का अभाव क्यों है? क्योंकि इन दो में सबका संग्रह है। यही संशयहेतु का कारण है। दूसरा संशयहेतु यह है कि इन दो राशियों में से किसी एक में भी वृत्ति का सद्भाव निश्चित नहीं है। इन दो राशियों को छोड़कर और कोई राशि नहीं है, जहाँ प्राणादि वस्तुधर्म पाये जाँय। अतः इतना ही ज्ञात है कि इन्हीं दो राशियों में से किसी में वर्तमान है। किन्तु विशेष के सम्बन्ध में वृत्तिनिश्चय नहीं है। कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें सात्मकत्व या अनात्मकत्व निश्चित और प्रसिद्ध हो और जिसमें साथ ही साथ प्राणादि धर्म का अभाव भी सिद्ध हो। अतः अनैकान्तिक है। हमने असाधारण धर्म के अनैकान्तिकत्व में दो कारण बताये हैं—१. क्योंकि यह सिद्ध नहीं है कि जीवच्छरीरसम्बन्धी प्राणादि सात्मक राशि या अनात्मक राशि से उसको व्यावृत्त करता है। २. इसलिये यह निश्चय करना कि किस राशि में उसका निश्चित अभाव है, सम्भव नहीं है। प्राणादि का होना कुछ

सिद्ध नहीं करता। न तो वह यही सिद्ध करता है कि आत्मा है, और न यही सिद्ध करता है कि आत्मा का अभाव है। अतः जीवच्छरीर में आत्मा का भाव है या नहीं—यह प्राणादि लिङ्ग द्वारा निश्चित नहीं हो सकता।

इस प्रकार तीन हेत्वाभास हैं—१. असिद्ध, २. विरुद्ध और ३. अनैकान्तिक। ये तब होते हैं जब तीन रूपों में से किसी एक या दो दो रूप असिद्ध या सन्दिग्ध हों।

आचार्य दिङ्नाग ने एक और संशयहेतु बताया है। उसे विरुद्धाव्यभिचारी कहते हैं। किन्तु धर्मकीर्ति ने उसका उल्लेख नहीं किया; क्योंकि वह अनुमान का विषय नहीं है।

●

AN ANALYSIS OF THE NYAYA-BINDU

Subjects

Nyāya-bindu is an excellent work on Logic by Dharmakirtti. The Sanskrit original of this work was discovered among the palm-leaf manuscripts preserved in the Jaina temple of Santinatha, Cambay, and has been published in the Bibliotheca Indica series of Calcutta by Professor Peterson. There exists a Tibetan translation of the work in the Bstan-hgyur, Mdo, Ce, folios 347—355. The work in Tibetan is called Rigs-pahi-thigs-pa signifying "A Drop of Logic." It is divided into three chapters as follows : (1) Perception (in Tibetan : Mnon-sum, in Sanskrit : *Pratyaksha*); (2) Inference for one's own self (in Tibetan : Bdag-gi-don gyi-rjes-su-dpag-pa, in Sanskrit : *Svārthanumāna*); and (3) Inference for the sake of others (in Tibetan : Gshan-gyi-don-rjes-su-dpag-pa, iu Sanskrit : *Parārthānumāna*). Some of the subjects discussed in the work are noted below.

Perception

Definition of Perception

In chapter I, it is stated that all objects of man are accomplished by perfect or Valid knowledge is of two kinds : (1) perception (in Sanskrit : *Pratyaksha*) and (2) Inference (in Sanskrit : *Anumāna*). Perception which is knowledge derived through the senses etc., is described as that which is free from preconception (*Kalpanā*) and devoid of error (*abhrānta*). Preconception refers to the experiences of false images which appear real as if they were capable of being addressed and touched e. g. the shadow of a tree may appear as the tree itself or a rope may appear as a snake Error is caused by such causes as darkness, quick motion, journey by boat, shaking, etc.; for instance, to a man journeying by boat, trees on both banks appear to move. Perception is of four kinds : (1) perception by the five senses; (2) perception by the mind; (3) self-consciousness; and (4) knowledge of a contemplative saint. An object of perception is like itself

(*sva-laksaṇa*) while an object of inference is like any one of its class (*sāmāṇya-lakṣana*) ; for instance, a cow which I see is a peculiar one possessing an infinite number of qualities which distinguish it from all cows, whereas a cow which I infer is a general one possessing certain qualities in common with other cows : that is, perception is individual knowledge while inference is general knowledge. According to the proximity or remoteness of an object, perception of it varies. This is the peculiar characteristic of an object of perception, and this characteristic proves the object to be absolutely real (*paramārtha-sat*), as it shows that it possesses some practical efficiency, and this characteristic also shows that perception is a source of valid knowledge for it exactly corresponds to the object perceived.

Inference for one's self

Definition of Inference for one's own self

In chapter II. Inference far one's own self (*Swárthānumána*) is defined as the knowledge of thə inferable is derived through the reason or middle term bearing its three forms or characteristics. In the instance 'this hill has fire, because it has smoke,' the knowledge of the hill as having fire is derivad through smoke which is the reason or middle term.

Forms or characteristics of the middle term

The three forms or characteristics of the reason or middle term are the following :—

(1) The middle term must abide in the minor term, e. g.

The hill has fire. Because it has smoke. Like a kitchen, but unlike a lake.

In this reasoning there must be 'smoke' on the 'hill.'

(2) The middle term must abide only in cases which are homologous with the major term, e. g., in the above reasoning 'smoke' abides in a kitchen which is homologous with things that contain fire.

(3) The middle term must never abide in cases which are heterologous from the major term, e. g., in the above reasoning 'smoke' does not abide in a lake which is heterologous from things that contain fire.

Three kinds of the middle term

The middle term is of three kinds according to the relation which it bears to the major term, thus :—

(1) Identity (in Tibetan : Ran-bshin, in Sanskrit : *Svabhāva, e. g.,*

This is a tree, Because it is simsapa.

(2) Effect (in Tibetan : Hbras-bu, in Sanskrit : *Kārya*), *e. g.,*
Here there is fire, because there is smoke.

(3) Non-perception (in Tibetan : Mi-dmigs-pa, in Sanskrit : *Anupalabdhi*), which is of 11 kinds as follows :—

(i) Non-perception of identity (*Svabhāvānupalabdhi*) *e. g.*
Here is no smoke, because it is perceivee (though smoke is of such a nature that it is perceptible if existent).

(ii) Non-perception of effect (*Kāryānupalabdhi*), *e. g.*
Here there are no causes of smoke of unobstructed capacity, because there is no smoke here.

(iii) Non-perception of the perveder or container (*Vyāpakānupalabdhi*). *e. g.*
Here there is no Simsapā, because there is no tree at all.

(iv) Perception contrary to identity (*Svabhāva-viruddhopalabdhi*) *e. g.*

There is no cold sensation here, because there is fire.

(v) Perception of the opposite effect (*Virvddhakāryopalabdhi*) *e. g.*

Here there is no cold sensation, because there is smoke.

(vi) Perception of contrary connection (*Viruddha vyāptopalabdhi*) *e. g* .
Even the destruction of the past entity is not certain because it is dependent on other causes.

(vii) Perception contrary to the effect (*Kārya-viruddhopalabdhi*) *e. g.*

Here there are no causes of cold of unobstructed capacity, because there is fire.

(viii) Perception contrary to the container (*vyāpakaviruddhopalabdhi*), *e. g.*
Here there is no icy sensetion, because there is fire.

(ix) Non-perception of the cause (*Kāranānupalabdhi*), *e. g.* There is no smoke, because there is no fire.

(x) Perception contrary to the cause (*Kāraṅa-viruddhopalabdhi*) ,*e. g.*
Hair on his body does not stand erect, because he sits near a fire.

(xi) Perception of effect contrary to its cause (*Kāraṅa-viruddhakāryopalabdhi*), *e. g.*
This place does not contain any person on whose body hair stands erect, because there is smoke here.

Inference for the sake of others

Definition of Inference for the sake of others

In chapter III, Inference for the sake of others (*Parārthānumāna*) is defined as the declaration of the three.formed middle term in words : that is, when the reason is set forth in words with a view to producing a conviction in others, it is said to be an infernce for the sake of others.

Inference is a kind of knowledge; and words are here called inference by the attributing of effect to cause for, though they are not themselves knowledge, they produce it. Inference for the sake of others is of two kinds : (1) positive or homogeneous (in Sanskrit : *Sādharmyavat*); and (2) negative or heterogeneous (in Sanskrt : *Vaidharmyavat*), as follows :—

(a) Sound is non-eternal, Because it is a product;
All products are non-eternal as a pot (positive).

(b) Sound is non-eternal, Because it is a product,
No non-non-eternal, i. e. eternal (thing) is a product as ether (negative).

Thesis

The minor term (*Paksha*) is that to which the relation of the major term is to be proved, as—This hill has fire, because it has

smoke. In this reasoning 'hill' is the minor term which is to be proved as having 'fire' which is the major term. A minor term and its corresponding major term combined together, constitute a propostion which, when offered for proof, is called a thesis.

Fallacies of the thesis or Pakshābhasa

There are four fallacies of the thesis (*Pakshābhāsa*).

A thesis is fallacious if it is incompatible with—

(1) Perception, *e. g.* Sound is inaudible;

(2) Inference, *e. g.* Sound is eternal;

(3) Conception, *e. g.* The moon is not *luna* (Sasi a chandra) or

(4) One's own statement, *e. g.* Inference is not a source of knowledge.

Fallacies of the middle term

It has already been stated that the middle term must possess three characteristics. Fallacies *of* the middle term (*Hetvābhāsa*) occur even if one of the characteristics is unproved, uncertain or contradictory, thus—

A. Unproved (*Asiddha*).

(1) Sound is eternal, because it is visible.

(Visibility of sound is admitted by neither party).

(2) Trees are conscious, because they die if their bark is taken off.

This peculiar kind of death of trees in not admitted by the opponent).

(3) The hill has fire, because it has vapour.

(Vapour as an effect of fire is questioned).

(4) The soul is all-pervading, because it is perceived everywhere.

(It is a matter of doubt whether the soul is perceived everywhere).

B. Uncertain (*Anaikāntika*).

(5) Sound is non-eternal, Because it is knowable.

(The knowable is too general, because it includes the eternal as well as the non-erernal).

(6) A certain man is omniscient, Because he is a speaker.

(The reason is not general enough, for speakers are not necessarily either omniscient or non-omniscient).

C. Contradictory (*Viruddha*).

(7) Sound is eternal, Because it is a product.

(Here 'product' is not homogeneous whith 'eternal,' that is, the middle term is opposed to the major term).

(8) Sound is eternal, Because it is a product.

(Here 'product' is not heterogeneous from 'non-eternal').

Fallacies of the homogeneous example

Example is of two kinds ; (1) homogeneous and (2) heterogeneouse. Fallacies of the homogeneouse example occur as follows :—

(1) Sound is eternal, Because it is incorporeal, Like action.

(Action cannot serve as an example, because it is not eternal that is, because it is excluded from the major term).

(2) Sound is eternal, Because it is incorporeal, Like atoms.

(Atoms cannot serve as an example, because they are not incorporeal, that is, because they are excluded from the middle term).

(3) Sound is eternal, Because it is incorporeal, Like a pot.

(Pot cannot serve as an example, because it is neither eternal nor incorporeal, that is, because it is excluded from both major and middle terms).

(4) This man is passeionate, Because he is a speaker, Like the person in the street.

(The person in the street cannot serve as an example, as it is questionable whether he is passionate; that is, it involves doubt as to the validity of the major term).

(5) This man is mortal, Because he is passionate, Like the person in the street.

(This example involves doubt as to the validity of the middle term, that is, it is questionable whether the person in the street is passionate).

(6) This man is on-omniscient, Because he is passionate, Like the person in the street.

(This example involves doubt as to the validity of both the major and middle terms, that is, it is questionable whether the person in the street is passionate and non-ommniscient).

(7) This man is pessionate, Because he is a speaker, Like a certain person.

(This example is unconnected (*Ananvya*), for there is no inseparable connection between being 'passionate' and being a 'speaker').

(8) Sound is non-eternal, Because it is a product, Like a pot.

(This example involves the fallacy of connection unshown, *Apradarshitānvaya* : the connection should be shown as follows :' All products are non-eternal like a pot).

(9) Sound is a product, Because it is non-eternal,
All non-eternal things are products like a pot.

(The example involves the fallacy of inverted connectien, *Viparitanvaya* : the real connection should be shown as follows All products are non-eternal like a pot).

Similerly there are nine fallacies of the heterogeneous example.

Refutation

Refutation (*Dūṣaṅa*) consists in pointing out in the reasoning of an opponent any one of the fallacies mentioned above. The fallacies or semblances of refutation are the analogues futilities called in Sanskrit: *Jati*.

Concluding part

In the concluding lines of the Nyāyabindu it is stated by the translators that "Dharmakīrtti vanquished the entire Tīrthikas as Sākyamuni had subdued the large army of Māra; and as the sun dispels darkness, the Nyāyabindu has exterminated the Ātmake theory (that is. the Tirthike doctrine)—wonderful !

न्यायबिन्दुप्रकरणस्य

सूत्रपाठः

१. प्रथमः प्रत्यक्षपरिच्छेदः

१. सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति तद्व्युत्पाद्यते ।

२. द्विविधं सम्यग्ज्ञानम् । ३. प्रत्यक्षम्, अनुमानं चेति ।

४. तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम् ।

५. अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना ।

६. तया रहितं तिमिराशुभ्रमणनौयानसम्भ्रमाद्यनाहितविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । ७. तच्चतुर्विधम् । ८. इन्द्रियज्ञानम् । (१)

९. स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम् । (२) १०. सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम् । (३)

११. भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति । (४)

१२. तस्य विषयः स्वलक्षणम् ।

१३. यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत्स्वलक्षणम् ।

१४. तदेव परमार्थसत् । १५. अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद् वस्तुनः ।

१६. अन्यत् सामान्यलक्षणम् । १७. सोऽनुमानस्य विषयः ।

१८. तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलम् । १९. अर्थप्रतीतिरूपत्वात् ।

२०. अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम् । २१. तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेरिति ।

इति प्रथमः प्रत्यक्षपरिच्छेदः ॥

●

द्वितीयः स्वार्थानुमानपरिच्छेदः

१. अनुमानं द्विधा । २. स्वार्थं परार्थं च ।

३. तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम् ।

४. प्रमाणलक्षणव्यवस्थाऽत्रापि पूर्ववत् ।

५. त्रैरूप्यं पुनर्लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव, सपक्ष एव सत्त्वम्, असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम् । ६. अनुमेयोऽत्र जिज्ञासितविशेषो धर्मी ।

७. साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थः सपक्षः । ८. न सपक्षोऽसपक्षः ।

९. ततोऽन्यस्तद्विरुद्धस्तदभावश्चेति । १०. त्रिरूपाणि च त्रीण्येव लिङ्गानि ।

११. अनुपलब्धिः स्वभावः कार्यं चेति ।

१२. तत्रानुपलब्धिर्यथा—न प्रदेशविशेषे क्वचिद् घटः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति ।

१३. उपलब्धिलक्षणप्राप्तिरुपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यं स्वभावविशेषश्च ।

१४. यः स्वभावः सत्स्वन्येषूपलम्भप्रत्ययेषु सन् प्रत्यक्ष एव भवति, स स्वभावविशेषः। १५. स्वभावः स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः।
१६. यथा-वृक्षोऽयं शिंशपात्वादिति। १७. कार्यं यथा—वह्निरत्र धूमादिति।
१८. अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ। एकः प्रतिषेधहेतुः।
१९. स्वभावप्रतिबन्धे हि सत्यर्थोऽर्थं गमयेत्।
२०. तदप्रतिबद्धस्य तदव्यभिचारनियमाभावात्।
२१. स च प्रतिबन्धः साध्येऽर्थे लिङ्गस्य।
२२. वस्तुतस्तादात्म्यात् तदुत्पत्तेश्च।
२३. अतत्स्वभावस्यातदुत्पत्तेश्च तत्राप्रतिबद्धस्वभावत्वात्।
२४. ते च तादात्म्यतदुत्पत्ती स्वभावकार्ययोरेवेति ताभ्यामेव वस्तुसिद्धिः।
२५. प्रतिषेधसिद्धिरपि यथोक्ताया एवानुपलब्धेः।
२६. सति वस्तुनि तस्या असम्भवात्।
२७. अन्यथा चानुपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु देशकालस्वभावविप्रकृष्टेष्वर्थेष्वात्मप्रत्यक्षनिवृत्तेरभावनिश्चयाभावात्।
२८. अमूढस्मृतिसंस्कारस्यातीतस्य वर्तमानस्य च प्रतिपत्तृप्रत्यक्षस्य निवृत्तिरभावव्यवहारप्रसाधनी।
२९. तस्या एवाभावनिश्चयात्। ३०. सा च प्रयोगभेदादेकादशप्रकारा।
३१. स्वभावानुपलब्धिर्यथा—नात्र धूम उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति। (१)
३२. कार्यानुपलब्धिर्यथा—नात्राप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति, धूमाभावादिति। (२)
३३. व्यापकानुपलब्धिर्यथा—नात्र शिंशपा, वृक्षाभावादिति। (३)
३४. स्वभावविरुद्धोपलब्धिर्यथा—नात्र शीतस्पर्शो वह्नेरिति। (४)
३५. विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा—नात्र शीतस्पर्शो धूमादिति। (५)
३६. विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा— न ध्रुवभावी भूतस्यापि भावस्य विनाशः, हेत्वन्तरापेक्षणादिति। (६)
३७. कार्यविरुद्धोपलब्धिर्यथा—नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सन्ति, वह्नेरिति। (७)
३८. व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा—नात्र तुषारस्पर्शो वह्नेरिति। (८)
३९. कारणानुपलब्धिर्यथा—नात्र धूमो वह्न्यभावादिति। (९)
४०. कारणविरुद्धोपलब्धिर्यथा—नास्य रोमहर्षादिविशेषाः, सन्निहितदहनविशेषत्वादिति। (१०)

४१. कारणविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा—न रोमहर्षादिविशेषयुक्तपुरुषवानयं प्रदेशः, धूमादिति । (११)

४२. इमे सर्वे कार्यानुपलब्ध्यादयो दशानुपलब्धिप्रयोगाः स्वभावानुपलब्धौ संग्रहमुपयान्ति ।

४३. पारम्पर्येणार्थान्तरविधिप्रतिषेधाभ्यां प्रयोगभेदेऽपि ।

४४. प्रयोगदर्शनाभ्यासात् स्वयमप्येवं व्यवच्छेदप्रतीतिर्भवति स्वार्थेऽप्यनुमानेऽस्याः प्रयोगनिर्देशः ।

४५. सर्वत्र चास्यामभावव्यवहारसाधन्यामनुपलब्धौ येषां स्वभावविरुद्धदीनामुपलब्ध्या कारणादीनामनुपलब्ध्या च प्रतिषेध उक्तस्तेषामुपलब्धिलक्षणप्राप्तानामेवोपलब्धिश्च वेदितव्या ।

४६. अन्येषां विरोधकार्यकारणभावासिद्धेः ।

४७. विप्रकृष्टविषया पुनरनुपलब्धिः प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा संशयहेतुः ।

४८. प्रमाणनिवृत्तावप्यर्थाभावासिद्धेरिति ।

इति द्वितीयः स्वार्थानुमानपरिच्छेदः ॥

तृतीयः परार्थानुमानपरिच्छेदः

१. त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थमनुमानम् । २. कारणे कार्योपचारात् ।
३. तद् द्विविधम् । ४. प्रयोगभेदात् । ५. साधर्म्यवद् वैधर्म्यवच्च ।
६. नानयोरर्थतः कश्चिद् भेदः । ७. अन्यत्र प्रयोगभेदात् ।

८. तत्र साधर्म्यवत्प्रयोगः—यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते सोऽसद्व्यवहारविषयः सिद्धः । यथा—अन्यो दृष्टः कश्चिद् शशविषाणादिः । नोपलभ्यते च क्वचित् प्रदेशविशेषे उपलब्धिलक्षणप्राप्तो घट इत्यनुपलब्धिप्रयोगः ।

९. तथा स्वभावहेतोः प्रयोगः—यत् सत् तत् सर्वमनित्यम्, यथा घटादिरिति शुद्धस्य स्वभावहेतोः प्रयोगः ।

१०. यदुत्पत्तिमत् तदनित्यमिति स्वभावभूतधर्मभेदेन स्वभावस्य प्रयोगः ।

११. यत् कृतकं तदनित्यमित्युपाधिभेदेन ।

१२. अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इति ।

१३. एवं प्रयत्नानन्तरीयक-प्रत्ययभेदभेदित्वादयोऽपि द्रष्टव्याः ।

१४. सन्नुत्पत्तिमान् कृतको वा शब्द इति पक्षधर्मोपदर्शनम् ।

१५. सर्वे एते साधनधर्मा यथास्वं प्रमाणैः सिद्धसाधनधर्ममात्रानुबन्धे एव साध्यधर्मेऽवगन्तव्याः । १६. तस्यैव तत्स्वभावत्वात् ।

१७. स्वभावस्य च हेतुत्वात् । १८. वस्तुतस्तयोस्तादात्म्यम् ।
१९. तन्निष्पत्तावनिष्पन्नस्य तत्स्वभावत्वाभावात् ।
२०. व्यभिचारसम्भवाच्च ।
२१. कार्यहेतोः प्रयोगः—यत्र धूमस्तत्राग्निः । यथा महानसादौ । अस्ति चेह धूम इति ।
२२. इहापि सिद्धे एव कार्यकारणभावे कारणे साध्ये कार्यहेतुर्वक्तव्यः ।
२३. वैधर्म्यवतः प्रयोगः—यत् सदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं तदुपलभ्यत एव । यथा नीलादिविशेषः । न चैवमिहोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य सत उपलब्धिर्घटस्येत्यनुपलब्धिप्रयोगः ।
२४. असत्यनित्यत्वे, नास्ति सत्त्वमुत्पत्तिमत्त्वं कृतकत्वं वा । संश्च शब्द उत्पत्तिमान् कृतको वेति स्वभावहेतोः प्रयोगः ।
२५. असत्यग्नौ न भवत्येव धूमः । अत्र चास्ति धूम इति कार्यहेतोः प्रयोगः ।
२६. साधर्म्येणापि हि प्रयोगेऽर्थाद् वैधर्म्यगतिरिति ।
२७. असति तस्मिन् साध्येन हेतोरन्वयाभावात् ।
२८. तथा वैधर्म्येणाप्यन्वयगतिः ।
२९. असति तस्मिन् साध्याभावे हेत्वभावस्यासिद्धेः ।
३०. नहि स्वभावप्रतिबन्धेऽसत्येकस्य निवृत्तावपरस्य नियमेन निवृत्तिः ।
३१. स च द्विप्रकारः—सर्वस्य तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिलक्षणश्चेत्युक्तम् ।
३२. तेन हि निर्वृत्तिं कथयता प्रतिबन्धो दर्शनीयः । तस्मात् निवृत्तिवचनमाक्षिप्तप्रतिबन्धोपदर्शनमेव भवति । यच्च प्रतिबन्धोपदर्शनं तदेवान्वयवचनमित्येकेनापि वाक्येनान्वयमुखेन व्यतिरेकमुखेन वा प्रयुक्तेन सपक्षासपक्षयोर्लिङ्गस्य सदसत्त्वख्यापनं कृतं भवतीति नावश्यं वाक्यद्वयप्रयोगः ।
३३. अनुपलब्धावपि—यत् सद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं तदुपलभ्यत एवेत्युक्ते, अनुपलभ्यमानं तादृशमसदिति प्रतीरेरन्वयसिद्धिः ।
३४. द्वयोरप्यनयोः प्रयोगयोर्नावश्यं पक्षनिर्देशः ।
३५. यस्मात् साधर्म्यवत्प्रयोगेऽपि यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते, सोऽसद्व्यवहारविषयः । नोपलभ्यते चात्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तो घट इत्युक्ते सामर्थ्यादेव नेह घट इति भवति ।
३६. तथा वैधर्म्यवत्प्रयोगेऽपि—यः सद्व्यवहारविषय उपलब्धिलक्षणप्राप्तः स उपलभ्यत एव । न तथाऽत्र तादृशो घट उपलभ्यते—इत्युक्ते सामर्थ्यादेव नेह सद्व्यवहारविषय इति भवति ।
३७. कीदृशः पुनः पक्ष इति निर्देश्यः ?
३८. स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्ष इति ।

३९. स्वरूपेणेति साध्यत्वेनेष्टः ।

४०. स्वरूपेणैवेति साध्यत्वेनैवेष्टो न साधनत्वेनापि ।

४१. यथा शब्दस्यानित्यत्वे साध्ये चाक्षुषत्वं हेतुः, शब्देऽसिद्धत्वात् साध्यं भवतीति न पुनस्तदिह साध्यत्वेनैवेष्टम्, साधनत्वेनाप्यभिधानात् ।

४२. स्वयमिति वादिना । ४३. यस्तदा साधनमाह ।

४४. एतेन यद्यपि क्वचिच्छास्त्रे स्थितः साधनमाह, तच्छास्त्रकारेण तस्मिन् धर्मिण्यनेकधर्माभ्युपगमेऽपि यस्तदा तेन वादिना धर्मः स्वयं साधयितुमिष्टः स एव साध्यो नेतर इत्युक्तं भवति ।

४५. इष्ट इति यत्रार्थे विवादेन साधनमुपन्यस्तं तस्य सिद्धिमिच्छता सोऽनुक्तोऽपि वचनेन साध्यो भवति । ४६. तदधिकरणत्वाद् विवादस्य ।

४७. यथा परार्थाश्चक्षुरादयः सङ्घातत्वाच्छयनासनाद्यङ्गवदिति । अत्रात्मार्था इत्यनुक्तावप्यात्मार्थतैव साध्या । तेन नोक्तमात्रमेव साध्यम्—इत्युक्तं भवति ।

४८. अनिराकृत इति—एतल्लक्षणयोगेऽपि यः साधयितुमिष्टोऽप्यर्थः प्रत्यक्षानुमानप्रतीतिस्ववचनैर्निराक्रियते, न स पक्ष इति प्रदर्शनार्थम् ।

४९. तत्र प्रत्यक्षनिराकृतो यथा—अश्रावणः शब्द इति । (१)

५०. अनुमाननिराकृतो यथा—नित्यः शब्द इति । (२)

५१. प्रतीतिनिराकृतो यथा—अचन्द्रः शशीति । (३)

५२. स्ववचननिराकृतो यथा—नानुमानं प्रमाणमिति । (४)

५३. इति चत्वारः पक्षाभासा निराकृता भवन्ति ।

५४. एवं सिद्धस्य असिद्धस्यापि साधनत्वेनाभिमतस्य, स्वयं वादिना तदा साधयितुमनिष्टस्य, उक्तमात्रस्य, निराकृतस्य च विपर्ययेण साध्य इति । तेनैव स्वरूपेणाभिमतो वादिन इष्टोऽनिराकृतः पक्ष इति पक्षलक्षणमनवद्यं दर्शितं भवति ।

५५. त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानमित्युक्तम् । तत्र त्रयाणां रूपाणामेकस्यापि रूपस्यानुक्तौ साधनाभासः ।

५६. उक्तावप्यसिद्धौ सन्देहे वा प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः ।

५७. एकस्य रूपस्य धर्मिसम्बन्धस्यासिद्धौ सन्देहे वाऽसिद्धो हेत्वाभासः ।

५८. यथा—'अनित्यः शब्दः' इति साध्ये चाक्षुषत्वमुभयासिद्धम् ।

५९. 'चेतनास्तरवः' इति साध्ये सर्वत्वगपहरणे मरणं प्रतिवाद्यसिद्धम्, विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणस्य मरणस्यानेनाभ्युपगमात्, तस्य च तरुष्वसम्भवात् ।

६०. 'अचेतनाः सुखादयः' इति साध्ये उत्पत्तिमत्त्वम्, अनित्यत्वं वा सांख्यस्य स्वयं वादिनोऽसिद्धम् । ६१. तथा स्वयं तदाश्रयणस्य वा सन्देहेऽसिद्धिः ।

६२. यथा वाष्पादिभावेन सन्दिह्यमानो भूतसङ्घातोऽग्निसिद्धावुपदिश्यमानः सन्दिग्धासिद्धः ।

६३. यथेह निकुञ्जे मयूरः केकायितादिति । ६४. तदापातदेशभ्रमे ।

६५. धर्म्यसिद्धावप्यसिद्धः-यथा सर्वगत आत्मेति साध्ये सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वम् ।

६६. तथैकस्य रूपस्यासपक्षेऽसत्त्वस्यासिद्धावनैकान्तिको हेत्वाभासः ।

६७. यथा शब्दस्यानित्यत्वादिके धर्मे साध्ये प्रमेयत्वादिको धर्मः सपक्षविपक्षयोः सर्वत्रैकदेशे वा वर्तमानः ।

६८. तथा—अस्यैव रूपस्य सन्देहेऽप्यनैकान्तिक एव ।

६९. यथाऽसर्वज्ञः कश्चिद्विवक्षितः पुरुषो रागादिमान् वेति साध्ये वक्तृत्वादिको धर्मः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकः ।

७०. 'सर्वज्ञो वक्ता नोपलभ्यते' इत्येवम्प्रकारस्यानुपलम्भस्यादृश्यात्मविषयत्वेन सन्देहहेतुत्वात् । ततोऽसर्वज्ञविपर्याद् वक्तृत्वादेर्व्यावृत्तिःसन्दिग्धा।

७१. वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोर्विरोधाभावाच्च यः सर्वज्ञः स वक्ता न भवतीत्यदर्शनेऽपि व्यतिरेको न सिध्यति, सन्देहात् ।

७२. द्विविधो हि पदार्थानां विरोधः ।

७३. अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावाद् विरोधगतिः ।

७४. शीतोष्णस्पर्शवत् ।

७५. परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया वा भावाभाववत् ।

७६. स च द्विविधोऽपि विरोधो वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोर्न सम्भवति ।

७७. न चाविरुद्धविधेरनुपलब्धावप्यभावगतिः ।

७८. रागादीनां वचनादेश्च कार्यकारणभावासिद्धेः ।

७९. अर्थान्तरस्य चाकारणस्य निवृत्तौ न वचनादेर्निवृत्तिः ।

८०. इति सन्दिग्धव्यतिरेकोऽनैकान्तिको वचनादिः ।

८१. द्वयो रूपयोर्विपर्ययसिद्धौ विरुद्धः । ८२. कयोर्द्वयोः ?

८३. सपक्षे सत्त्वस्य, असपक्षे चासत्त्वस्य । यथा कृतकत्वं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं च नित्यत्वे साध्ये विरुद्धो हेत्वाभासः ।

८४. अनयोः सपक्षेऽसत्त्वम्, असपक्षे च सत्त्वमिति विपर्ययसिद्धिः ।

८५. एतौ च साध्यविपर्ययसाधनाद् विरुद्धौ ।

८६. ननु च तृतीयोऽपीष्टविघातकृद् विरुद्धः ।

८७. यथा परार्थाश्चक्षुरादयः सङ्घातत्वाच्छयनासनाद्यङ्गवदिति ।

८८. तदिष्टासंहतपारार्थ्यविपर्ययसाधनाद् विरुद्धः।

८९. स इह कस्मान्नोक्तः ? ९०. अनयोरेवान्तर्भावात्।

९१. नह्ययमाभ्यां साध्यविपर्ययसाधनत्वेन भिद्यते।

९२. नहीष्टोक्तयोः साध्यत्वेन कश्चिद्विशेष इति।

९३. द्वयो रूपयोरेकस्यासिद्धावपरस्य च सन्देहेऽनैकान्तिकः।

९४. यथा वीतरागः कश्चित् सर्वज्ञो वा, वक्तृत्वादिति। व्यतिरेकोऽत्रासिद्धः। सन्दिग्धोऽन्वयः।

९५. सर्वज्ञवीतरागयोर्विप्रकर्षाद् वचनादेस्तत्र सत्त्वमसत्त्वं वा सन्दिग्धम्।

९६. अनयोरेव द्वयो रूपयोः सन्देहेऽनैकान्तिकः।

९७. यथा सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादिति।

९८. न हि सात्मकनिरात्मकाभ्यामन्यो राशिरस्ति यत्रायं प्राणादिर्वर्तेत।

९९. आत्मनो वृत्तिव्यवच्छेदाभ्यां सर्वसंग्रहात्।

१००. नाप्यनयोरेकत्र वृत्तिनिश्चयः।

१०१. सात्मकत्वेनाऽनात्मकत्वेन वा प्रसिद्धे प्राणादेरसिद्धेः।

१०२. तस्माज्जीवच्छरीरसम्बन्धी प्राणादिः सात्मकादनात्मकाच्च सर्वस्माद् व्यावृत्तत्वेनासिद्धेस्ताभ्यां न व्यतिरिच्यते।

१०३. न तत्रान्वेति। १०४. एकात्मन्यप्यसिद्धेः।

१०५. नापि सात्मकादनात्मकाच्च तस्यान्वयव्यतिरेकयोरभावनिश्चयः।

१०६. एकाभावनिश्चयस्यापरभावनिश्चयनान्तरीयकत्वात्।

१०७. अन्वय-व्यतिरेकयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वात्, तत एवान्वयव्यतिरेकयोः सन्देहादनैकान्तिकः।

१०८. साध्येतरयोरतो निश्चयाभावात्।

१०९. एवमेषां त्रयाणां रूपाणामेकैकस्य द्वयोर्द्वयोर्वा रूपयोरसिद्धौ सन्देहे वा यथायोगमसिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः।

११०. विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः। स इह कस्मान्नोक्तः ?

१११. अनुमानविषयेऽसम्भवात्।

११२. न हि सम्भवोऽस्ति कार्यस्वस्वभावयोरुक्तलक्षणयोरनुपलम्भस्य च विरुद्धतायाः। ११३. न चान्योऽव्यभिचारी।

११४. तस्मादवस्तुदर्शनबलप्रवृत्तमागमाश्रयमनुमानमाश्रित्य तदर्थविचारेषु विरुद्धाव्यभिचारी साधनदोष उक्तः।

११५. शास्त्रकाराणामर्थेषु भ्रान्त्या विपरीतस्वभावोपसंहारसम्भवात्।

११६. न ह्यस्य सम्भवो यथावस्थितवस्तुस्थितिष्वात्मकार्यानुपलम्भेषु।

११७. तत्रोदाहरणम्—यत् सर्वदेशस्थितैः स्वसम्बन्धिभिर्युगपदभिसम्बध्यते

तत् सर्वगतम्। यथाऽऽकाशम्। अभिसम्बध्यते च सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धिभिर्युगपत् सामान्यमिति।

११८. तत्सम्बन्धिस्वभावमात्रानुबन्धिनी तद्देशसन्निहितस्वभावता।

११९. न हि यो यत्र नास्ति स तद्देशमात्मना व्याप्नोतीति स्वभावहेतुप्रयोगः।

१२०. द्वितीयोऽपि प्रयोगः—यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते न तत् तत्रास्ति। तद्यथा—क्वचिदविद्यमानो घटः। नोपलभ्यते चोपलब्धिलक्षणप्राप्तं सामान्यं व्यक्त्यन्तरालेष्विति। अयमनुपलम्भः स्वभावश्च परस्परविरुद्धार्थसाधनादेकत्र संशयं जनयतः।

१२१. त्रिरूपो हेतुरुक्तः। तावता नार्थप्रतीतिरिति न पृथग्दृष्टान्तो नाम साधनावयवः कश्चित्। तेन नास्य लक्षणं पृथगुच्यते; गतार्थत्वात्।

१२२. हेतोः सपक्षः एव सत्त्वमसपक्षाच्च सर्वतो व्यावृत्तो रूपमुक्तमभेदेन। पुनर्विशेषेण कार्यस्वभावयोरुक्तलक्षणयोर्जन्मतन्मात्रानुबन्धौ दर्शनीयावुक्तौ। तच्च दर्शयता—यत्र धूमस्तत्राग्निः, असत्यग्नौ न क्वचिद् धूमो यथा महानसेतरयोः। यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वम्, अनित्यत्वाभावे कृतकत्वासम्भवो यथा घटाकाशयोरिति दर्शनीयम्। न ह्यन्यथा सपक्षविपक्षयोः सदसत्त्वे यथोक्तप्रकारे शक्ये दर्शयितुम्। तत्कार्यतानियमः कार्यलिङ्गस्य, स्वभावलिङ्गस्य च स्वभावेन व्याप्तिः। अस्मिंश्चार्थे दर्शिते दर्शित एव दृष्टान्तो भवति; एतावन्मात्ररूपत्वात् तस्येति। १२३. एतेनैव दृष्टान्तदोषा अपि निरस्ता भवन्ति।

१२४. यथा नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात्, कर्मवत् परमाणुवद् घटवदिति। एते दृष्टान्ताभासाः साध्यसाधनधर्मोभयविकलाः।

१२५. तथा सन्दिग्धसाध्यधर्मादयश्च। यथा—रागादिमानयं वचनाद् रथ्यापुरुषवत्। मरणधर्मायं पुरुषो रागादिमत्त्वाद् रथ्यापुरुषवत्। असर्वज्ञोऽयं (पुरुषो) रागादिमत्त्वाद् रथ्यापुरुषवदिति।

१२६. तथाऽनन्वयोऽप्रदर्शितान्वयश्च। यथा—यो वक्ता स रागादिमान्, इष्टपुरुषवत्। अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदिति।

१२७. तथा विपरीतान्वयः—यदनित्यं तत् कृतकमिति।

१२८. साधर्म्येण दृष्टान्तदोषाः।

१२९. वैधर्म्येणापि—परमाणुवत् कर्मवद् आकाशवदिति साध्याद्यव्यतिरेकिणः।

१३०. तथा सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेकादयः। यथा—असर्वज्ञाः कपिलादयोऽनाप्ता वा अविद्यमानसर्वज्ञताऽऽप्ततालिङ्गभूतप्रमाणातिशयशासनत्वादिति। अत्र वैधर्म्योदाहरणम्—यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमु-

पदिष्टवान् । यथा—ऋषभवर्धमानादिरिति । तत्रासर्वज्ञतानाप्ततयोः साध्यधर्मयोः सन्दिग्धो व्यतिरेकः ।

१३१. सन्दिग्धसाधनव्यतिरेको यथा—न त्रयीविदा ब्राह्मणे ग्राह्यवचनः कश्चिद् विवक्षितः पुरुषो रागादिमत्त्वादिति । अत्र वैधर्म्योदाहरणम्—ये ग्राह्यवचना न ते रागादिमन्तः, तद्यथा गौतमादयो धर्मशास्त्राणां प्रणेतार इति । गौतमादिभ्यो रागादिमत्त्वस्य साधनधर्मस्य व्यावृत्तिः सन्दिग्धा ।

१३२. सन्दिग्धोभयव्यतिरेको यथा—अवीतरागाः कपिलादयः, परिग्रहाग्रहयोगादिति । अत्र वैधर्म्येणोदाहरणम्—यो वीतरागो न तस्य परिग्रहाग्रहः, यथर्षभादेरिति । ऋषभादेरवीतरागत्वपरिग्रहाग्रहयोगयोः साध्यसाधनधर्मयोः सन्दिग्धो व्यतिरेकः ।

१३३. अव्यतिरेको यथा—अवीतरागोऽयं वक्तृत्वात् । वैधर्म्येणोदाहरणम्—यत्रावीतरागत्वं नास्ति, न स वक्ता । यथा—उपलखण्ड इति । यद्यप्युपलखण्डादुभयं व्यावृत्त तथापि सर्वो वीतरागो न वक्तेति व्याप्त्या व्यतिरेकासिद्धेरव्यतिरेकः ।

१३४. अप्रदर्शितव्यतिरेको यथा—अनित्यः शब्दः कृतकत्वादाकाशवदिति वैधर्म्येण ।

१३५. विपरीतव्यतिरेको यथा—यदकृतकं तन्नित्यं भवतीति ।

१३६. न ह्येभिर्दृष्टान्ताभासैर्हेतोः सामान्यलक्षणं सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षे च सर्वत्रासत्त्वमेव निश्चयेन शक्यं दर्शयितुं विशेषलक्षणं वा । तदर्थापत्त्यैषां निरासो द्रष्टव्यः ।　　१३७. दूषणा न्यूनताद्युक्तिः ।

१३८. ये पूर्वं न्यूनतादयः साधनदोषा उक्तास्तेषामुद्भावनं दूषणम् । तेन परेष्टार्थसिद्धिप्रतिबन्धात् ।

१३९. दूषणाभासास्तु जातयः ।

१४०. अभूतदोषोद्भावनानि जात्युत्तराणीति ।

इति तृतीयः परार्थानुमानपरिच्छेदः ।।

❀ न्यायबिन्दुप्रकरणं समाप्तम् ❀

आचार्यधर्मकीर्तिविरचितम्

न्यायबिन्दुप्रकरणम्

(टीकात्रयोपेतम्)

* मञ्जुश्रीकुमारभूताय नमः *

न्यायबिन्दुप्रकरणे

प्रथमः प्रत्यक्षपरिच्छेदः



आर्यविनीतदेवकृतिः

न्यायबिन्दुविस्तरटीका

(शिष्यहिता)

यस्य कुलप्रभावेण विशुद्धन्यायवर्त्मनि ।
सिद्धिं प्राहुः परां, तस्मै प्रवाचे मुनये नमः ॥

आचार्यधर्मोत्तरकृता

न्यायबिन्दुटीका

जयन्ति जातिव्यसनप्रबन्धप्रसूतिहेतोर्जगतो विजेतुः ।
रागाद्यरतेः सुगतस्य वाचो मनस्तमस्तानवमादधानाः ॥

आचार्यधर्मोत्तरकृताया न्यायबिन्दुटीकायाः

अज्ञातकर्तुः टिप्पणी

सर्व एव हि विशिष्टो जनः शास्त्रारम्भे स्वेष्टदेवतास्तुतिं कृतवान् । तथायमपि आर्यधर्मोत्तरः सदाचारानुवृत्तिमात्मनः ख्यापयन्, स्वेष्टदेवतास्तुतेश्च पुण्योपचयम्, ततश्च शास्त्रस्याविघ्नेन परिसमाप्तिं व्याख्यायाः, श्रोतॄणां स्तुतिपुरःसरया प्रवृत्त्या पुण्यातिशयोत्पादनात् पारार्थ्यं चालोच्य बुद्धस्य भगवतः स्तुतिमारब्धवान्—जयन्तीत्यादि । अनेन श्लोकेन बुद्धस्य भगवत एव पूजा स्तोत्रतः, नान्येषाम्; निर्दिष्टगुणोद्भवात् ।

स्तोत्रमपि स्व-परार्थसम्पत्त्यै सम्भवतीति पूर्वं स्वार्थसम्पदं भगवतो दर्शयति—जयन्ति जातिव्यसनेत्यादिना सुगतपर्यन्तेन; मनस्तमस्तानवेत्यादिना परार्थसम्पदम् ।

जयन्ति = जयं कुर्वन्ति । वाच इति सम्बन्धः । कस्य वाचः ? इत्याह—सुगतस्येति । सुशब्दोऽत्र शोभने, अतिशये, अपुनरावृत्तौ च वर्तते; अनेकार्थत्वात् निपातानाम् । तदयमर्थः—शोभनं गतः सुगतः, सुचरितवत् । अतिशयेन गतः सुगतः, सुपरिपूर्ण-

१. सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति तद् व्युत्पाद्यते ॥

[न्या०] अथ न्यायबिन्दुः प्रतिपदं विभज्यते—सम्यगिति।

'सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति तद्व्युत्पाद्यते' इति प्रथमवाक्येनास्य प्रकरणस्य सम्बन्ध-प्रयोजन-अभिधेयानि, तथा प्रयोजनस्य प्रयोजनमप्युपदिश्यन्ते। तथा हि सम्बन्ध-प्रयोजन-अभिधेयानामभावे प्रकरणशास्त्रमिदं प्रेक्षापूर्व-

[ध०] सम्यग्ज्ञानपूर्विकेत्यादिना अस्य प्रकरणस्याभिधेय-प्रयोजनमुच्यते।

[टि०] घटवत्। अपुनरावृत्त्या गतः सुगतः, प्रदीपवत्। किंविशिष्टस्य तस्य? इत्याह—रागाद्यरातेरिति। रागशक्तिरादौ। स आदिर्येषां द्वेषादीनां ते रागादयो भवन्ति क्लेशाः। तेषामरातिः = शत्रुः। यतो भगवता सर्वक्लेशाः निःशेषं निर्दग्धाः, यत एव रागाद्यरातिर्भगवान्, अत एव जगतस्त्रैधातुकजीवलोकस्य विजेता। अनेन स्वार्थसम्पत् सोपाया दर्शिता।

किंविशिष्टस्य जगतो विजेतुः? इत्याह—जातिव्यसनेत्यादि। व्यसनम् = अनर्थसञ्जननम्। जातौ व्यसनमिति "सप्तमी" (पा० सू० २.१.४०) इति योगविभागात् समासः। तत्राभिलाष इति यावत्। 'देवोऽहं स्याम्', 'मनुष्योऽहं स्याम्' इत्यभिलाषः। यद्वा—विविधमनेकप्रकारेणास्यते क्षिप्यते इति व्यसनम्। सामान्येन कर्मसाधनम्। पश्चाज्जातिशब्दस्य विशेषणसमासः—जातिरेव व्यसनम्। जात्या व्यसनं विशिष्यते। तेन जातिशब्दस्य विशेषणत्वात् पूर्वनिपातः। जातिव्यसनस्य प्रबन्धः = प्रवाहः, तस्य प्रसूतिः = प्रसवः, उत्पत्तिः। तस्या हेतुः = कारणम्, जगत् तस्य जगतो विजेतुरिति। तत्रायं समुदायार्थः—यस्माच्छोभनादिना गतो भगवान्, अतएव रागाद्यरातिः, यत एव निर्दग्धक्लेशोऽतो जगतो विजेतेति।

किंविशिष्टा वाचो जयन्ति? इत्याह—मनस्तम इत्यादि। मनसः = विकल्पविज्ञानस्य। तृष्णा अविद्या तम एव। तम इति कृत्वा न गमतया तमोऽन्धकारो घटादिप्रतिबन्धं करोति। तनोर्भावस्तानवम्। "इगन्ताच्च लघुपूर्वात्" (पा० सू० ५.१.१३१) इत्यण्। मनस्तमसि तानवम्, षष्ठी-समासो वा वचन-प्रमाथो द्रष्टव्यः। मनस्तमस्तानवमादधानाः = तनुत्वं कुर्वाणाः सकलजनस्य श्रुतिचिन्ता-भावनाक्रमेण सुगतस्य वाचः सूत्र-अभिधर्म-विनयस्वभावाः जयन्ति। जयः पुनस्तासां तीर्थिकशास्त्राभिभवलक्षणः। यस्माद् भगवत्प्रवचने प्रमाणपरिच्छिन्न उपायो विमुक्तिलक्षणश्च उपायो निर्दिश्यते, तेषां चागम उपायोपेययोः प्रमाणरहितत्वात् ततो भगवत एव वाचो जयन्ति, नान्येषामिति भगवतः स्तुतिः।

सम्यग्ज्ञानेत्यादिना विनीतदेवव्याख्यां दूषयति। यतोऽभिधेयस्यैव प्रयोजनम्,

[न्या०] गामिनामनुमतं न स्यात् । ततश्च किमिह व्याख्येयम् ?–इत्याशङ्कानिरासार्थम् अभिधेयमुक्तम् । फलाभावशङ्कानिराकरणार्थं प्रयोजनमुक्तम् । उपायाभावशङ्का-निराकरणार्थं सम्बन्ध उक्तः । तेन श्रोतृत्साहविवर्धनार्थं सम्बन्धादिकमुक्तमिति ।

तत्र तद् व्युत्पादचते इत्यनेन अभिधेयं प्रयोजनं च साक्षादुक्तं । सम्बन्धस्तु सामर्थ्यात् प्रतिपादचते । एतच्च तत्र सामर्थ्यम् —सम्यग्ज्ञानप्रतिपादनार्थं प्रकरणारम्भाद् अर्थाद् प्रकरणमुपाय एवेति दर्शितम् । अन्यथा यदि उपायो न स्यात्, किमर्थमारभ्येत ! तस्मात् सम्बन्धोऽर्थात् प्रतिपादचते ।

अत्र सम्यग्ज्ञानमित्येतदभिधेयम् । सम्यग्ज्ञानव्युत्पत्तिस्तु प्रयोजनम् । तच्च व्युत्पत्त्यात्मकं सम्यग्ज्ञानप्रतिपादनमनेन क्रियत इति प्रकरणमिदं तस्यार्थस्य साधनं भवति । तेन प्रकरण-प्रयोजनयोः साध्यसाधनलक्षणः सम्बन्धः । तथा च —एतत्प्रकरण-श्रवणात् सम्यग्ज्ञानस्वरूपमभ्रान्ततया ज्ञायते । तेन प्रकरणं साधनम्, सम्यग्ज्ञान-परिज्ञानं च उपायसाध्यमिति स्थितिः । स च साध्य-साधनलक्षणः सम्बन्धः कार्य-कारणलक्षण एव । तथा च प्रकरणं साधनम्, फलं च साध्यम्; प्रकरणं कारणम्, फलं च कार्यमिति । तस्मात् सम्यग्ज्ञानपरिज्ञानहेतोरेतत्प्रकरणारम्भ इति स्थितिः ॥

अथैवं स्थितेऽपि, यदि कश्चित् पृच्छति—कोऽर्थः सम्यग्ज्ञानव्युत्पादने ? तदेव तावन्निष्प्रयोजनमिति । एतत् काकदन्तपरीक्षाकल्पम् ।

मा भूदुपदेशः, किमर्थमयं श्रम इति ? तस्मादाह–सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थ-सिद्धिरिति । तेन प्रयोजनस्य प्रयोजनमुक्तम् । तत्रायं वाक्यार्थः—यस्मात् सर्वपुरुषार्थ-

[ध०] द्विविधं हि प्रकरणशरीरम्—शब्दः, अर्थश्च ।

तत्र शब्दस्य स्वाभिधेयप्रतिपादनमेव प्रयोजनम्, नान्यत् । अतस्तन्न निरूप्यते ।

[टि०] न सम्यग्ज्ञानव्युत्पत्तेः शास्त्रप्रयोजनस्य प्रयोजनम् । सर्वपुरुषार्थसिद्धिर्व्युत्पत्तेः सम्यग्ज्ञानपरिज्ञानस्यैव प्रयोजनम् । सर्वपुरुषार्थसिद्धिः प्रयोजनं येन स्यात् प्रयोजन-प्रयोजनम्, तेन च प्रयोजन-प्रयोजनमाख्यातमिति दूषितम्; सामर्थ्यात् ।

अथ कस्मात् प्रकरणस्याभिधेयप्रयोजनमित्युक्तम्, न पुनः प्रकरणस्य शरीर-प्रयोजनम् ? इत्याह—द्विविधं हीत्यादि । यतो द्विविधं प्रकरणस्य शरीरं प्रकरणस्य स्वभावः । तस्मात् अभिधेयेति विशेषणं कृतम् ।

ननु यथाभिधेयस्य प्रयोजनं चिन्त्यते, तथा शब्दस्यापि किमिति न चिन्त्यते ? इत्याह—तत्रेत्यादि ।

तत्प्रतिपत्तय इति । अभिधेयप्रतिपत्तये । सन्दर्भो रचनाविशेषः । अपिशब्दादर्थ-सम्बन्धोऽपि गृह्यते ।

[न्या०]सिद्धौ सम्यग्ज्ञानमावश्यकम्, तस्मादनुबद्धं पुरुषार्थसिद्ध्या। तच्च व्युत्पाद्यम्। तद्धि व्युत्पादनं प्रकरणाद् भवति। तेन आवश्यकसम्यग्ज्ञानव्युत्पत्तिहेतोः प्रकरणमिदमारब्धमिति। एष समासार्थः॥

अवयवार्थस्तु—सम्यग्ज्ञानपूर्विका इति। अत्र अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। अर्थक्रियायां यदविसंवादकं तदभ्रान्तम्, तदेव च सम्यग्ज्ञानम्। अन्यथा प्रकरणेन योगाचारनयनिरासः स्यात्। इष्टश्च प्रकरणारम्भः सौत्रान्तिक-योगाचारोभयनयानु-

[ध०] अभिधेयं तु यदि निष्प्रयोजनं स्यात्, तदा तत्प्रतिपत्तये शब्दसन्दर्भोऽपि नारम्भणीयः स्यात्।

यथा काकदन्तप्रयोजनाभावात् न तत्परीक्षा आरम्भणीया प्रेक्षावता।

तस्मादस्य प्रकरणस्यारम्भणीयत्वं दर्शयता अभिधेयप्रयोजनमनेनोच्यते।

यस्मात् सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिः, तस्मात् तत्प्रतिपत्तये इदमारभ्यते—इत्ययमत्र वाक्यार्थः।

अत्र च प्रकरणाभिधेयस्य सम्यग्ज्ञानस्य सर्वपुरुषार्थसिद्धिहेतुत्वं प्रयोजनमुक्तम्।

अस्मिंश्चार्थ उच्यमाने सम्बन्धप्रयोजनाभिधेयानि उक्तानि भवन्ति।

तथा हि–'पुरुषार्थोपयोगि सम्यग्ज्ञानं व्युत्पादयितव्यमनेन प्रकरणेन' इति ब्रुवता सम्यग्ज्ञानस्य शब्दसन्दर्भस्य अभिधेयम्, तद्व्युत्पादनं प्रयोजनम्, प्रकरणं चेदमुपायो व्युत्पादनस्य—इत्युक्तं भवति।

तस्मादभिधेयभागप्रयोजनाभिधानसामर्थ्यात् सम्बन्धादीनि उक्तानि भवन्ति। न त्विदमेकं वाक्यं सम्बन्धम्, अभिधेयं, प्रयोजनं च वक्तुं साक्षात् समर्थम्। एकं तु वदत् त्रयं साक्षात् सामर्थ्याद् दर्शयति।

[टि०] परीक्षेति। परीक्ष्यतेऽनयेति परीक्षा, शास्त्रमुच्यते। अनेनेति। आदिवाक्येन।

यस्मादित्यादिना समुदायार्थं दर्शयति। अत्रेति। आदिवाक्ये।

ननु च यत्राभिधेयप्रयोजनं प्रेक्षावतां प्रवृत्तावङ्गं तथा सम्बन्धादीन्यपि, अतस्तानि किमिति न कथ्यन्ते? इत्याह—अस्मिन्निति। अस्मिन्नभिधेयप्रयोजने कथिते तान्यपि सामर्थ्यात् कथितानि भवन्तीत्यर्थः। अभिधेय एव भागः=अंशः, सम्बन्धादिराशेः। तस्य प्रयोजनं कथयतीत्यर्थः। तद् दर्शयति। अभिधेयप्रयोजनमेव साक्षाद् वाच्यतया निर्दिश्यते, अभिधेयादीनि तु तद्विशेषणतया। चोदकेन प्रधानवाच्यतयाभिधेयादीन्यपश्यता चोदितम्। सामर्थ्यापाततया परिहृतं सिद्धान्तवादिना।

न चैकेन वाक्येनार्थत्रयं साक्षाच्छक्यते दर्शयितुमिति दर्शयति—न त्विदमित्यादि। एकं त्वित्यादिवाक्यं प्राधान्येनैकं वदद‍भिधेयव्युत्पत्तिप्रयोजनसम्बन्धार्थत्रयं प्रतिपादयति—तत्र तदित्यादिना। अपोद्धारेणावयवार्थं दर्शयति तत्रेत्यादिवाक्ये। ननु च तद्-

[न्या०]धावनार्थम्। तस्मादुभयनयसंग्रहादविसंवादकं ज्ञानमेव सम्यग्ज्ञानमिति बोध्यम्। सम्यग्ज्ञानं पूर्वं यस्याः सा सम्यग्ज्ञानपूर्विका। पूर्वशब्दोऽयं कारणपरः। यस्मात् कारणं पूर्वं कार्यस्य, तस्मात् तत् पूर्वमित्युच्यते। सम्यग्ज्ञानकारणिकेति शेषः।

सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति। पुरुषस्यार्थः पुरुषार्थः। अर्थशब्देन प्रयोजनमुच्यते। पुरुषप्रयोजनमिति शेषः। सर्वश्चासौ पुरुषार्थश्चेति सर्वपुरुषार्थः। सर्व इति सन्निकृष्ट-विप्रकृष्ट-लौकिक-लोकोत्तर-हेयोपादेयोपेक्षणीयाः। तत्र समीपदेशवर्ती सन्निकृष्टः। दूरदेशवर्ती विप्रकृष्टः। लौकिकः संसारमध्यपर्यापन्नः। लोकोत्तरस्तु दुःखातीतः। हेयः अनिष्टः, अहि-कण्टक-विष-शूलादिलक्षणः। उपादेय इष्टः, स्रक्-चन्दन-वसनाशन-

[ध०] तत्र 'तद्' इत्यभिधेयम्, 'व्युत्पाद्यते' इति प्रयोजनपदम्। प्रयोजने चात्र वक्तुः प्रकरणकरणव्यापारस्य चिन्त्यते, श्रोतुश्च श्रवणव्यापारस्य।

तथा हि—सर्वे प्रेक्षावन्तः प्रवृत्तिप्रयोजनमन्विष्य प्रवर्तन्ते। ततश्चाचार्येण प्रकरणं किमर्थं कृतम्, श्रोतृभिश्च किमर्थं श्रूयते?—इति संशये व्युत्पादनं प्रयोजनमभिधीयते। सम्यग्ज्ञानं व्युत्पद्यमानानामात्मानं व्युत्पादकं कर्तुं प्रकरणमिदं कृतम्। शिष्यैश्चाचार्यप्रयुक्तामात्मनो व्युत्पत्तिमिच्छद्भिः प्रकरणमिदं श्रूयत इति प्रकरणकरण-श्रवणयोः प्रयोजनं व्युत्पादनम्।

सम्बन्धप्रदर्शनपदं तु न विद्यते। सामर्थ्यादेव तु स प्रतिपत्तव्यः।

[टि०] व्युत्पत्तिः क्रियत इत्येवं युज्यते वक्तुम्, किमिति तद्व्युत्पाद्यते इति णिचा निर्देश इति। तत्फलमाह—प्रयोजनं चात्रेत्यादि। अत्रेति, प्रकरणे। वक्तुरिति शास्त्रकर्तुः श्रोतुश्च प्रकरणकरणश्रवणव्यापारस्य प्रयोजनं चिन्त्यते।

यस्माद् द्वयोरपि वक्तृश्रोत्रोस्तत्र प्रकरणे प्रकरणकरणश्रवणाख्यौ व्यापारौ स्तः, किमिति पुनस्तयोः करणश्रवणयोः प्रयोजनं चिन्त्यते? इत्याह—तथा हीत्यादि। तत आचार्येणेत्यादिना द्वयोर्व्यापारस्य प्रयोजनं दर्शयति। यस्मादनेन सम्यग्ज्ञानं व्युत्पाद्यते इत्यत्र वाक्ये व्युत्पत्तिक्रियानिष्पत्तौ करणश्रवणक्रियाद्वयकर्तव्यतया प्रविष्टम्। तच्च व्युत्पत्तिकरण शास्त्रकारस्यैव नान्यस्येति णिचा निर्दर्शितम्। यस्मात् सम्यग्ज्ञानं व्युत्पाद्यमानान् शिष्यान् प्रेरयति—'व्युत्पादितं सम्यग्ज्ञानं व्युत्पद्यध्वम्' इति। आत्मानं व्युत्पादकं कर्तुमारब्धं प्रकरणम्। तस्माद् वक्तुरेव करणव्यापारस्य प्रयोजनं व्युत्पादनम्, न भाजनादीनाम्। यद्यपि तैर्विना व्युत्पादनं न भवति, तथापि न तानि व्युत्पादकानि; तेषां शिष्यविषये प्रेरकत्वाभावात्। शिष्यैश्चेत्यादि। यस्माच्छिष्या आचार्यप्रयुक्तां व्युत्पत्तिमात्मनः सम्बन्धिनीं कर्तुमिच्छन्ति यतस्ते प्रचोद्याः। तस्मात् 'तत् प्रकरणं तैः श्रूयते' इति श्रवणस्य प्रयोजनं व्युत्पादनम्। एतच्चार्थद्वयं णिचा प्रतिपादितम्। अन्यथा असाधारणव्यापारो वक्तुर्व्युत्पत्तौ न दर्शितः स्यात्, शिष्याणां श्रवणव्यापारश्च। यस्मात् सर्व एव प्रयोजकपरतन्त्रो

[न्या०] पान-शय्यासनलक्षणः। इष्टानिष्टयोर्यो विपरीतः स उपेक्षणीयः। सर्वस्यैतस्य पुरुषार्थस्य कारणं सम्यग्ज्ञानम्। तथाहि —प्रत्यक्षादिज्ञानेन निर्धार्य शूल-विष-कण्टकादिकं परिहरति, पुष्पमाल्यादिकमादत्ते, तद्भिन्नानन्यांश्चोपेक्षते।

[ध०] प्रेक्षावता हि सम्यग्ज्ञानव्युत्पादनाय प्रकरणमिदमारब्धवता 'अयमेवोपायो नान्यः' इति दर्शित एवोपायोपेयभावः प्रकरणप्रयोजनयोः सम्बन्ध इति।

ननु च प्रकरणश्रवणात् प्रागुक्तान्यपि अभिधेयादीनि प्रमाणाभावात् प्रेक्षावद्भिर्न गृह्यन्ते, तत् किमेतैरारम्भप्रदेश उक्तैः?

सत्यम्; अश्रुते प्रकरणे कथितान्यपि न निश्चीयन्ते। उक्तेषु त्वप्रमाणकेष्वपि अभिधेयादिषु संशय उत्पद्यते, संशयाच्च प्रवर्तन्ते। अर्थसंशयोऽपि हि प्रवृत्त्यङ्गं प्रेक्षावताम्। अनर्थसंशयोऽपि निवृत्त्यङ्गम्। अतएव शास्त्रकारेणैव सम्बन्धादीनि युज्यन्ते वक्तुम्।

[टि०] भवति, असति गिचि शिष्या अप्रयोज्याः। ये चाप्रयोज्यास्ते स्वतन्त्राः। स्वतन्त्राणां चाचार्यप्रयुक्तां व्युत्पत्तिमनिच्छतां श्रवणाभावात् कथं श्रवणव्यापारस्य प्रयोजनं चिन्त्यते?—इति स्थितम्। ननु च यथाभिधेयव्युत्पादनप्रयोजनयोरपोद्धारेण प्रतिपादकपदं कथं सम्बन्धस्यापि किमिति न कथितम्? इत्याह—सम्बन्धप्रदर्शनपदं त्वित्यादि। अयमेव प्रकरणविशेषो लघूपायतया वक्ष्यमाणया नीत्योपायः, व्युत्पादनम् = उपेयम्। उपायोपेयसम्बन्धश्च कार्यकारणसम्बन्ध एव, स च प्रतीयत इति न पदान्तरेण कथितः। तथा चोक्तम्—

"शास्त्रं प्रयोजनं चैव सम्बन्धस्याश्रयादुभौ।
तदुक्त्यन्तर्गतस्तेन भिन्नो नोक्तः प्रयोजनात्'' इति।

(श्लो० वा० १.१८)

एवमादिवाक्येनाभिधेयप्रयोजनादौ कथिते सति प्रामाणिकानां प्रवृत्तौ तदसङ्गतमेवेति मन्यमानश्चोदयति—नन्वित्यादिना। एवं मन्यते—यो हि प्रामाणिकः, स प्रमाणे प्रवर्तते। न चादिवाक्ये प्रयोजनादिना कथितेन शास्त्रश्रवणात् प्राग्वर्तते शास्त्रम्, आदिवाक्यस्याप्रामाण्यात्। अप्रामाण्यं चार्थेन सहासम्बन्धाच्छब्दस्य। एतैरिति। अभिधेयादिभिः। आरम्भप्रदेशोक्तैरिति प्रकरणस्यैकदेशोक्तैः, आदावुक्तैरित्यर्थः।

उक्तेष्वित्यादि। एवं मन्यते—यद्यप्यस्याप्रमाणं प्रयोजनप्रतिपादकमादिवचनम्, तथापि शास्त्रादौ प्रतिपादनीयम् अर्थसंशयजननार्थम्। यो हि सम्यग्ज्ञानार्थी स तथाभूतं शास्त्रकर्त्रादिवाक्यं श्रुत्वा तत्र संशेते, संशयाच्च प्रवर्तत इति तात्पर्यम्। अत एवेति। यत एवादिवाक्येनार्थसंशयः, संशयाच्च प्रवृत्तिः; अतएव शास्त्रकारेणैव

[न्या०] सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति सर्वपुरुषार्थसाधकम्। सिद्धिशब्देनात्र साधकमुच्यते। तेन सर्वपुरुषार्थसिद्धौ निश्चितमेव सम्यग्ज्ञानं कारणं भवतीति प्रदर्शितम्। इतिशब्दः

[ध०] व्याख्यातॄणां हि वचनं क्रीडाद्यर्थमन्यथापि सम्भाव्यते। शास्त्रकृतां तु प्रकरणप्रारम्भे न विपरीताभिधेयाद्यभिधाने प्रयोजनमुत्पश्यामः, नापि प्रवृत्तिम्। अतस्तेषु संशयो युक्तः। अनुक्तेषु तु प्रतिपत्तृभिर्निष्प्रयोजनमभिधेयं सम्भाव्येतास्य प्रकरणस्य, काकदन्तपरीक्षाया इव। अशक्यानुष्ठानं वा, ज्वरहरतक्षकचूडारत्नालङ्कारोपदेशवत्। अनभिमतं वा प्रयोजनम्; मातृविवाहक्रमोपदेशवत्, अतो वा प्रकरणाल्लघुतर उपायः प्रयोजनस्य, अनुपाय एव वा प्रकरणं सम्भाव्येत।

एतासु चानर्थसम्भावनासु एकस्यामप्यनर्थसम्भावनायाम्, न प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्ते। अभिधेयादिषु तूक्तेष्वर्थसम्भावना अनर्थसम्भावनाविरुद्धा उत्पद्यते, तथा प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्ते। इति प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यङ्गमर्थसम्भावनां कर्तुं सम्बन्धादीन्यभिधीयन्त इति स्थितम्।

[टि०] युज्यते वक्तुम्, नाख्यानकर्त्रेति। तेन यदुक्तं केनचिद्—'व्याख्यानकारा एव प्रयोजनादीनि प्रतिपादयिष्यन्ति' इति, तत् प्रत्युक्तम्।

उत्पश्याम इत्यादिनैतद् दर्शयति—यद्यपि प्रमाणं नास्ति, महता प्रबन्धेन शास्त्रकरणात् सम्भाव्यत इत्यर्थः। ननु च बाधकसाधकप्रमाणाभावात् सम्यग्ज्ञानव्युत्पत्त्यर्थी विनापि आदिवचनेन संशयानस्तत्र प्रवर्तते—इति किमादिवाक्येन तत्रोक्तेन? इत्याह—अनुक्तेष्वित्यादि। एवं मन्यते—यो ह्यमूढः, तं प्रति न कर्तव्यमेव। यो हि काकदन्तपरीक्षादिशास्त्रं दृष्ट्वा प्रयोजनादिरहितम्, अत्राप्यप्रयोजनादीन् सम्भावयन्ननर्थं संशेते, अनर्थसंशयाच्च प्रवर्त्तते, तं प्रत्येतत् कथनस्य प्रयोजनम्। कथिते च वचने शास्त्रकारेण तदनुरोधाद् वचनादर्थसंशयो जायते, ततः प्रवर्तत इत्यर्थः।

अनर्थसंशयो यैः कारणैर्भवति तन्निदर्शयति—निष्प्रयोजनमित्यादिना। अतो वा प्रकरणादन्यस्य प्रकरणस्य लघुतरोपायतां सम्भाव्यास्य प्रकरणस्यासारतया अनुपायता स्यादित्यर्थः।

एवं समुदायेन वाक्यस्य तात्पर्यं व्याख्यायावयवार्थं दर्शयितुमाह—अविसंवादकमित्यादि। 'अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्' इति ब्रुवता टीकाकृता अर्थावबोधकं ज्ञानं मीमांसकपरिकल्पितम्, अर्थदर्शनं च चार्वाकोपकल्पितम्, अथापि विपरीतं ज्ञानं कैश्चित् परिकल्पितं सम्यक्त्वेन, तन्निरस्तं सर्वम्; एतेषां सम्यग्ज्ञानलक्षणाभावात्। यथा च न तानि सम्यग्ज्ञानानि, तथा स्वयं टीकायामपहस्तितानि।

[न्या०] तस्मादित्यर्थे । यत्तदौ नित्यसम्बन्धौ । तेन यस्मात् सर्वपुरुषार्थसिद्धौ सम्यग्ज्ञानं पूर्वभावि, तस्मादेव तद् व्युत्पाद्यत इत्युक्तं भवति ।

[ध०] अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् ।

लोके च पूर्वमुपदर्शितमर्थं प्रापयत् संवादकमुच्यते । प्रदर्शिते चार्थे प्रवर्तकत्वमेव प्रापकम्, नान्यत् । तथा हि—न ज्ञानं जनयद् अर्थं प्रापयति, अपि त्वर्थे पुरुषं प्रवर्तयत् प्रापयत्यर्थम् । प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदर्शकत्वमेव । न हि पुरुषं हठात् प्रवर्तयितुं शक्नोति विज्ञानम् ।

अत एव चार्थाधिगतिरेव प्रमाणफलम् । अधिगते चार्थे प्रवर्तितः पुरुषः, प्रापितश्चार्थः । तथा च सति अर्थाधिगमात् समाप्तः प्रमाणव्यापारः । अत एव च अनधिगतविषयं प्रमाणम् । येनैव हि ज्ञानेन प्रथममधिगतोऽर्थः, तेनैव प्रवर्तित पुरुषः, प्रापितश्चार्थः । तत्रैव च अर्थे किमन्येन ज्ञानेनाधिकं कार्यम् ! अतोऽधिगतविषयमप्रमाणम् ।

तत्र योऽर्थो दृष्टत्वेन ज्ञातः स प्रत्यक्षेण प्रवृत्तिविषयीकृतः । यस्माद् यस्मिन्नर्थे प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वव्यापारो विकल्पेनानुगम्यते, तस्य

[टि०]एकस्मिन्नेवार्थे त्रयाणां ज्ञानानां प्रदर्शक-प्रवर्तक-प्रापकभेदेन प्रामाण्यमिष्टं परेण, तन्निराकर्तुमाह—प्रदर्शिते चार्थ इत्यादि । प्रदर्शिते चार्थे प्रथमेन दर्शकेन ज्ञानेन यद् द्वितीयं ज्ञानं तत्रैवार्थे पुरुषस्य प्रवर्त्तकम्, तृतीयमपि तत्रैवार्थे प्रापकम्, ततो नाद्यादधिकं प्रापणयोग्यीकरणेनेति तदेव प्रमाणम् । अमुमेवार्थं समर्थयति—तथा हीत्यादिना । न जनयन् नोत्पाद्यदर्थम्; स्वहेतोरेवार्थस्योत्पन्नत्वात् । अनेन प्रवर्तकात् प्रापकस्याभेदो दर्शितः । प्रवर्तकस्यापि प्रदर्शकादभेदं दर्शयितुमाह—प्रवृत्तीत्यादि । यत् प्रदर्शकमादावुत्पन्नमर्थे ज्ञानं तदेव प्रवृत्तिविषयं करोति, प्रवृत्तिविषययोग्यीकरोतीत्यर्थः, न तु द्वितीयं ज्ञानम्; आद्येनैव प्रवृत्तिविषययोग्यीकृतत्वात् । अपिशब्दः पूर्वापेक्षः ।

अत एवेत्यादिना आचार्यग्रन्थे स्वमतं संवादयति । कुतोऽयं लभ्यते यदा प्रथमं दर्शयत्येव, न प्रवर्तयति न प्रापयति; द्वितीयमपि प्रवर्त्तयत्येव, न प्रापयति । एवं सत्यन्यत् प्रदर्शकप्रमाणम्; अन्यत् प्रवर्तनादिकफलम् ? न चैवम्, तस्माद् युक्तमुक्तम् ।

ननु च यद्यप्यर्थाधिगतिरेव प्रमाणफलं तथापि यावदुत्तरे प्रवर्तक-प्रापकज्ञाने न भवतः, तत्रार्थे तावन्न प्रमाणव्यापारपरिसमाप्तिरित्याह—अधिगत इत्यादि । एवं मन्यते—अधिगते चार्थे समाप्तः प्रमाणव्यापार इति तयोः प्रामाण्ये कर्त्तव्येऽनुपयोगित्वम्, अतोऽप्रमाणे ते ।

कथं समाप्तः प्रमाणव्यापारः, को वासौ ? इत्याह—अत एवेति । स्वव्यापारः स्वविषयनिश्चयजनकत्वं नाम । स च निश्चयः प्रथमया चार्थाधिगत्या कृत इति समाप्तो

[न्या०] तद्वच् रूपाद्यत इति । अत्र तदिति सम्यग्ज्ञानं योजनीयम्; नपुसंकलिङ्गेन स्वरूपनिर्देशात् । नतु अव्यवहिता सर्वपुरुषार्थसिद्धिः; अप्राधान्यात् ॥ १ ॥

[ध०] प्रदर्शकं प्रत्यक्षम्; तस्माद् दृष्टतया ज्ञातः प्रत्यक्षादर्शितः । अनुमानं तु लिङ्गदर्शनान्निश्चिन्वत् प्रवृत्तिविषयं दर्शयति ।

तथा च प्रत्यक्षं प्रतिभासमानं नियतमर्थं दर्शयति । अनुमानं च लिङ्ग-सम्बद्धं नियतमर्थं दर्शयति । अत एते नियतस्यार्थस्य प्रदर्शके । तेन ते प्रमाणे, नान्यद् विज्ञानम् ।

प्राप्तुं शक्यमर्थमादर्शयत् प्रापकम् । प्रापकत्वाच्च प्रमाणम् ।

आभ्यां प्रमाणाभ्यामन्येन च ज्ञानेन दर्शितोऽर्थः कश्चिद् अत्यन्त-विपर्यस्तः; यथा—मरीचिकासु जलम्; स चासत्त्वात् प्राप्तुमशक्यः । कश्चिदनियतो भावाभावयोः, यथा—संशयार्थः । न च भावाभावाभ्यां युक्तोऽर्थो जगत्यस्ति; ततः प्राप्तुमशक्यस्तादृशः ।

[टि०] व्यापारः; तावतैव पुरुषस्य प्रवृत्तेः । अतो द्वितीयादीनामत्रैवार्थेऽधिको व्यापारो नास्तीति । अधिगतगन्तृत्वादप्रामाण्यमित्यर्थः । प्रवर्तितः पुरुष इति । प्रवर्तनयोग्य-त्वात् प्रवर्तित इत्युच्यते । प्रापणयोग्यत्वात् प्रापितः । एवं सामान्येन संवादकं सम्यग्ज्ञानं प्रतिपाद्य विशेषेण च प्रत्यक्षानुमाने स्वव्यापारं कुर्वती सम्यग्ज्ञाने भवत इति दर्शयन्नाह—तत्र योऽर्थ इत्यादिना । तत्र तयोर्मध्ये प्रत्यक्षस्य व्यापारं दर्शयति । दृष्टत्वेन ज्ञातो दृष्टत्वेन निश्चितः । विकल्पेनानुगम्यत इति । तत्पृष्ठभाविना विकल्पे-नावसीयते । एतदुक्तं भवति—प्रतिभासमानार्थव्यवसायं कुर्वत् प्रत्यक्षं प्रमाणं संवादक-मित्यर्थः । अनुमानं त्वित्यादिना अनुमानस्य प्रवृत्तिविषयं दर्शयति । लिङ्गदर्शनम् = लिङ्गज्ञानम् । तच्च वह्न्यव्यभिचारिधूमनिश्चयनं सामान्येन साध्याविनाभावि च स्मरणज्ञानम् । यथा धूमं प्रत्यक्षेण गृहीत्वा सर्वत्र 'अयं वह्निजः' इति स्मरणम् । तस्माल्लिङ्गज्ञानान्निश्चिन्वत् प्रवृत्तिविषयं दर्शयति । तदनुमानं विशिष्टसम्बन्धेन यदुदेति ज्ञानम्, यथा 'अत्रत्यो धूमो वह्निजः' इति ज्ञानम् । एतदुक्तं भवति—प्रत्यक्षस्य स्वविषयनिश्चयजननव्यापारोऽभिन्नः, अनुमानस्य तु लिङ्गदर्शनात् स्वविषये निश्च-यात्मनोत्पत्तिरेव निश्चयव्यापार इति ।

तथा चेत्यादिना अनयोर्दर्शितं व्यापारं स्पष्टयति । अत 'एते प्रमाणे, नान्यद्विज्ञानम्' इत्येवं ब्रुवता एते एव सम्यग्ज्ञाने, नान्यानि शब्दादीनि । तेषां नियतार्थानुपदर्शकत्वा-दिति सम्यग्ज्ञानस्य प्रवृत्तिदर्शिता । यथैते प्रमाणे, संशयादिज्ञानं न तथा प्रमाणम् ।

प्राप्तुं शक्यमित्यादिना दर्शयति । एतदुक्तं भवति—यथा प्रत्यक्षानुमाने स्वेन स्वेन प्रमाणेनोपदर्शितार्थस्य प्रापके, न तथा संशयविपर्ययज्ञाने; तथाभूतस्यार्थस्या-भावादिति ।

[ध०]सर्वेण चालिङ्गजेन विकल्पेन नियामकमदृष्ट्वा प्रवृत्तेन भावाभावयोरनियत एवार्थो दर्शयितव्यः। स च प्राप्तुमशक्यः।

तस्मादशक्यप्रापणम्—अत्यन्तविपरीतम्, भावाभावानियतं चार्थं दर्शयत् अप्रमाणम्, अन्यद् विज्ञानम्।

अर्थक्रियार्थिभिश्च अर्थक्रियासमर्थवस्तुप्राप्तिनिमित्तं ज्ञानं मृग्यते। यच्च तैर्मृग्यते तदेव शास्त्रे विचार्यते। ततोऽर्थक्रियावस्तुप्रदर्शकं सम्यग्ज्ञानम्।

यच्च तेन प्रदर्शितं यदेव प्रापणीयम्। अर्थाधिगमात्मकं हि प्रापकम्—इत्युक्तम्। तत्र प्रदर्शितादन्यद् वस्तु भिन्नाकारम्, भिन्नकालम्, भिन्नदेशं च। विरुद्धधर्मसंसर्गाद्धि अन्यद् वस्तु। देशकालाकारभेदश्च विरुद्धधर्मसंसर्गः।

यस्मादन्याकारवद्वस्तुग्राहि नाकारान्तरवति वस्तुनि प्रमाणम्; यथा—पीतशङ्खग्राहि शुक्ले शङ्खे। देशान्तरस्थग्राहि च न देशान्तरस्थे प्रमाणम्; यथा—कुञ्चिकाविवरदेशस्थायां मणिप्रभायां मणिग्राहि ज्ञानं नापवरकस्थे मणौ। कालान्तरयुक्तग्राहि च न कालान्तरवर्ति वस्तुनि प्रमाणम्; यथा—अर्धरात्रे मध्याह्नकालवस्तुग्राहि स्वप्नज्ञानं अर्धरात्रकाले वस्तुनि प्रमाणम्।

[टि०] ननु च मा भून् संशयविपर्ययज्ञानयोः प्रामाण्यम्, तथाभूतस्यार्थस्यासत्त्वादिति; यत् पुनः 'इह कूपे जलम्' इति ज्ञानं तत् प्रमाणान्तरं किमिति न भवति ? न तावत् प्रत्यक्षम्, तत्र जलस्य परोक्षत्वात्; नाप्यनुमानम्, लिङ्गाभावात्; नापि संशयरूपम्, उभयांशाभावात्; नापि विपरीतम्, विपरीतार्थाभावात् ? इत्याशङ्क्याह—सर्वेण चालिङ्गजेनेत्यादि।

एवं मन्यते—यद्यपि साक्षात् संशयज्ञानं न प्रतीयते, यस्तु संशयविकल्पकस्य ज्ञानस्य 'इह कूपे जलम्' इत्येवञ्जातीयस्य; तथापि नियामकं लिङ्गमन्तरेण तदप्रमाणम्, नियतार्थापरिच्छेदात्। ततश्चायमर्थः—'स्यात् कदाचित् कूपे जलम्' इति यच्चैवं स्वरूपम्, तत् संशयज्ञानमेवेत्यप्रमाणम्। यत् पुनस्तत्र प्रवृत्तेन कदाचिज्जलं लभ्यते तज्ज्ञानान्तरादिति विनिश्चयटीकायां प्रतिपादितम्।

ननु च यद्यपि संशयादीनामुपदर्शितस्यार्थस्य प्रापकत्वं नास्ति, किं तानि न व्युत्पादयन्ते ? इत्याह—अर्थक्रियार्थिभिश्चेत्यादि। पुरुषार्थसिद्धावनुपयोगादित्यभिप्रायः।

ननु च यदप्युपदर्शितार्थप्रापणात् प्रमाणं सम्यग्ज्ञानम्, शुक्लशङ्खे पीतज्ञानम्, कुञ्चिकाविवरे मणिप्रभायां मणिज्ञानम्, अर्धरात्रे मध्याह्नकालवस्तुग्राहि स्वप्नज्ञानं

[ध०] ननु च देशनियतम्, आकारनियतं च प्रापयितुं शक्यम्; यत्कालं तु परिच्छिन्नं तत्कालं न शक्यं प्रापयितुम् ? नोच्यते—यस्मिन्नेव काले परिच्छिद्यते तस्मिन्नेव काले प्रापयितव्यमिति; अन्यो हि दर्शनकालः, अन्यश्च प्राप्तिकालः; किन्तु यत्कालं परिच्छिन्नं तदेव तेन प्रापणीयम् । अभेदाध्यवसायाच्च सन्तानगतमेकत्वं द्रष्टव्यमिति ।

सम्यग्ज्ञानं पूर्वं कारणं यस्याः सा यथोक्ता । कार्यात् पूर्वं भवत् कारणं पूर्वमुक्तम् । कारणशब्दोपादाने तु पुरुषार्थसिद्धेः साक्षात् कारणं गम्येत । पूर्वशब्दे पूर्वमात्रम् ।

द्विविधं च सम्यग्ज्ञानम्— अर्थक्रियानिर्भासम्, अर्थक्रियासमर्थे च प्रवर्तकम् । तयोर्मध्ये यत् प्रवर्तकं तदिह परीक्ष्यते । तच्च पूर्वमात्रम्, न तु साक्षात् कारणम् । सम्यग्ज्ञाने हि सति पूर्वदृष्टस्मरणम्, स्मरणादभिलाषः अभिलाषात् प्रवृत्तिः, प्रवृत्तेश्च प्राप्तिः । ततो न साक्षाद् हेतुः ।

[टि०] च प्रमाणं प्राप्नोतीत्येभिरुपदर्शितस्यार्थमात्रस्य प्राप्तेः, ततश्च सम्यग्ज्ञानमित्याशङ्क्याह–अर्थाधिगमात्मकं हीत्यादि । एवं मन्यते–एभिरुपदर्शितस्यार्थस्य पीताकारस्य कुञ्जिकाविवरस्थस्य मणेर्नियतदेशस्य, नियतकालस्य चार्धरात्रेऽप्रापणात्, देशकालव्यतिरिक्तस्यावयवादेरभावात् । अत एव तान्यप्रमाणान्येव, न सम्यग्ज्ञानानीति । यद्यप्येतान्यभ्रान्तग्रहणस्य व्यावर्त्यानि तत्रैवाभ्रान्तग्रहणप्रस्तावे दर्शयितव्यानि, तथापीह सम्यज्ञानव्यावर्त्यप्रस्तावात् कथितानीत्यदोषः ।

ननु चेत्यादि । एवं मन्यते चोदकः—देशाकाराभ्यां नियतस्य प्राप्तुं शक्यत्वाद् भवत्वन्याकारस्यान्यदेशस्य च प्राप्तावप्रमाणम्, न त्वन्यकालस्य, नियतकालस्य चाप्राप्तेः; क्षणिकत्वाद् भावानाम् । ततश्च यथा सत्यनीले नीलज्ञानस्यान्यो ग्राह्यकालोऽन्यश्च प्राप्यकालः, अथ च कालभेदेऽपि प्रामाण्यम्, तथा स्वप्नज्ञानस्यार्धरात्रोपदर्शितं मध्याह्नकालपुत्रप्रापणस्य प्रामाण्यं भविष्यतीति ।

नोच्यते इत्यादिना सिद्धान्तवादी त्वेवं मन्यते—सत्यं क्षणभेदेन वस्तुनो भेदोऽस्त्येव; किन्तु क्षणापेक्षया न प्रामाण्यलक्षणमुच्यते, अपि तु सन्तानापेक्षया । ततश्च नीलादौ य एव सन्तानः परिच्छिन्नो नीलज्ञानेन, स एव तेन प्रापितः । तेन प्रमाणं नीलज्ञानम् । न तथा स्थूलकालभेदेन प्रदर्शितस्य पुत्रस्य स्वप्नज्ञानम् । न प्राप्तिकालभेदेन; सन्तानैकाध्यवसायायोगात् । सन्तानगतमेकत्वं द्रष्टव्यमित्यनेन निश्चयप्रवृत्त्योर्हेतुहेतुमद्भावं दर्शयति । स च हेतुहेतुमद्भावः कथं भवति, यदि सन्तानापेक्षया प्रामाण्यमवतिष्ठते, न लक्षणापेक्षयेति !

सम्यग्ज्ञानं पूर्वं कारणं यस्या इति । कथं पूर्वशब्दः कारणे वर्तते ? इत्याह—कार्यादित्यादि । कारणशब्द एव कस्मान्न कृतः ? इत्याह–कारणशब्द इत्यादि । किम-

[ध०] अर्थक्रियानिर्भासं तु यद्यपि साक्षात्प्राप्तिः तथापि तन्न परीक्ष्यम्। यत्रैव हि प्रेक्षावन्तोऽर्थिनः साशङ्काः, यत् परीक्ष्यते। अर्थक्रियानिर्भासे च ज्ञाते सति सिद्धः पुरुषार्थः, तेन तत्र न साशङ्का अर्थिनः। अतस्तन्न परीक्षणीयम्। तस्मात् परीक्षार्हमसाक्षात् कारणं सम्यग्ज्ञानमादर्शयितुं कारणशब्दं परित्यज्य पूर्वग्रहणं कृतम्।

पुरुषस्यार्थः पुरुषार्थः। अर्थ्यते इति अर्थः, काम्यते इति यावत्। हेयोऽर्थः, उपादेयो वा। हेयो ह्यर्थो हातुमिष्यते, उपादेयोऽपि उपादातुम्। न च हेयोपादेयाभ्यामन्यो राशिरस्ति। उपेक्षणीयो ह्यनुपादेयत्वाद् हेय

[टि०] नन्तरकारणं ज्ञानं भवति, यदपेक्षया व्यवहितस्य ग्रहणार्थं पूर्वशब्दग्रहणं कृतम्? इत्याह—द्विविधमित्यादि।

ननु किमुच्यते अर्थक्रियानिर्भासं ज्ञानमनन्तरं कारणम्, नहि तत् कारणज्ञानम्, एवं तु युज्यते वक्तुम्—यत् साधननिर्भास्यनन्तरं ज्ञानमर्थक्रियानिर्भासज्ञानमुपजनयति, तत् साधनज्ञानमनन्तरकारणमित्युच्यते, तदेवात्राभिप्रेतमर्थक्रियानिर्भासशब्देन। कथम्? अर्थक्रियाया निर्भासः=प्रतिबिम्बनम्, तदाकारज्ञानोत्पत्तिर्यस्मादनन्तरज्ञानात् तत् साधनज्ञानम्, तदर्थक्रियानिर्भासं साधनज्ञानम्। एवमत्रापि समासः कर्तव्यः। अथवा—अर्थक्रियाज्ञानमेवानन्तरकारणम्, तत् प्रापितहेयोपादेयानुष्ठानव्यवहारापेक्षया प्रवर्तकमिति व्यवहितं साधननिर्भासज्ञानम्।

यद्येवम्, अनन्तरमेव किमिति न परीक्ष्यते? इत्याह—यत्रैव हीत्यादि। यत्रैव ज्ञानेऽर्थक्रियासमर्थवस्तुप्रवर्तके पुरुषस्य सन्देहः, तदेव परीक्ष्यते। न चानन्तरसाधनज्ञाने सन्देहः; तदनन्तरं सुखदुःखप्रतिभासज्ञानोदयात्। तयोरनुभवे सति साधनज्ञानात् प्रवर्तितुं वा युज्यत इति न परीक्षार्हम्। यद्वा—अर्थक्रियानिर्भासस्यानया युक्त्या न परीक्षार्हत्वमिति।

अर्थ्यत इत्यादि। 'अर्थ याच्ञायाम्' (पा०धा०चु० २८७) इत्यस्य कर्मणि घञ्। अर्यते इत्यपि द्रष्टव्यम्। उपलक्षणत्वादस्यार्तेरौणादिकः स्थन्प्रत्ययः।

हेयोऽर्थ इत्यादिना विनीतदेवस्य व्याख्या दूषिता। तेन ह्येवं व्याख्यातम्—'अर्थशब्देन प्रयोजनमुच्यते, पुरुषस्य प्रयोजनं दारुपाकादि, तस्य सिद्धिर्निष्पत्तिः' इति। तच्चायुक्तम्; यस्मादर्थस्य दारुपाकादेर्न सम्यग्ज्ञानान्निष्पत्तिः, किं तर्हि? स्वहेतोरेव वह्न्यादेः। धर्मोत्तरव्याख्याने तु हेयोपादेयार्थविषया या सिद्धिः=अनुष्ठितिः, सा सम्यग्ज्ञानपूर्विकेति न दोषः। अमुमेवार्थं दर्शयिष्यति-'हेयस्य च हानमनुष्ठानम्' (१५ पृ०) इति।

ननु च हेयोपादेयाभ्यामन्योऽप्युपेक्षणीयोऽस्ति, तस्य किमिति न कथनम्?

[धर्मो०] एव। तस्य सिद्धिः—हानम्, उपादानं च। हेतुनिबन्धना हि सिद्धिः उत्पत्तिरुच्यते। ज्ञाननिबन्धना तु सिद्धिरनुष्ठानम्। हेयस्य च हानमनुष्ठानम्, उपादेयस्य चोपादानम्। ततो हेयोपादेययोर्हानोपादानलक्षणानुष्ठितिः सिद्धिरुच्यते।

सर्वा चासौ पुरुषार्थसिद्धिश्चेति। सर्वशब्द इह द्रव्यकार्त्स्न्ये वृत्तः, न तु प्रकारकार्त्स्न्ये। ततो नायमर्थः—द्विप्रकारापि सिद्धिः सम्यग्ज्ञाननिबन्धनैवेति। अपि त्वयमर्थः—या काचित् सिद्धिः सा सर्वा कृत्स्नैवासौ सम्यग्ज्ञाननिबन्धनेति। मिथ्याज्ञानाद्धि काकतालीयापि नास्त्यर्थसिद्धिः। तथा हि—यदि प्रदर्शितमर्थं प्रापयति, एवं ततो भवत्यर्थसिद्धिः। प्रदर्शितं च प्रापयत् सम्यग्ज्ञानमेव। प्रदर्शितं चाप्रापयत् मिथ्याज्ञानम्। अप्रापकं च कथमर्थसिद्धिनिबन्धनं स्यात्! तस्माद् यन्मिथ्याज्ञानं न ततोऽर्थसिद्धिः। यतश्चार्थसिद्धिस्तत् सम्यग्ज्ञानमेव। अत एव सम्यग्ज्ञानं यत्नतो व्युत्पादनीयम्; यतस्तदेव पुरुषार्थसिद्धिनिबन्धनम्।

ततो यावद् ब्रूयात्—या काचित् पुरुषार्थसिद्धिः सा सम्यग्ज्ञाननिबन्धनैवेति, तावदुक्तम्—सर्वा सा सम्यग्ज्ञानपूर्विकेति। इतिशब्दः तस्मादित्यस्मिन्नर्थे। यत्तदोश्च नित्यमभिसम्बन्धः। तदयमर्थः—यस्मात् सम्यग्-

[टि०] इत्याह—न च हेयेत्यादि। एवं मन्यते—सत्यमस्ति, किन्तु तस्यानुपादेयत्वाद् हेयत्वमेवेति न पृथक्कथनम्। तेन यदुक्तं कैश्चित्—'हेयोपादेययोः पुरुषार्थोपयोगित्वात् कथनम्, उपेक्षणीयस्य तद्विपर्ययान्न कथनम्' इति, तत् प्रत्युक्तम्। अमुमेवार्थं व्याचष्टे उत्तरेण ग्रन्थेन।

सर्वशब्द इत्यादिना टीकाकृतां व्याख्यां दूषयति। विनीतदेव-शान्तभद्राभ्यामेवमाशङ्क्य व्याख्यातम्। कथमाशङ्कितम्? ननु सर्वा हानोपादानार्थसिद्धिः सम्यग्ज्ञानादेव, अपि तु मिथ्याज्ञानादपि, काकतालीयेत्याशङ्क्य परिहृतम्। सत्यमस्ति; किन्त्वेवं व्याख्यायते—सर्वशब्दोऽयं प्रकारवाची। तेनायमर्थः—सर्वपुरुषार्थसिद्धिः द्विप्रकारा हानोपादानार्थसिद्धिलक्षणा, लौकिकलोकोत्तरार्थसिद्धिलक्षणा सम्यग्ज्ञाननिबन्धना बाहुल्येनेति। तद् दूषितम्; यस्मात् सर्वशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः, कार्त्स्न्ये वर्तते, 'सर्वं ब्रह्मणा सृष्टम्' इति, तेनायमर्थः—यावती कृत्स्नार्थसिद्धिर्हानोपादानलक्षणा, सर्वा सम्यग्ज्ञानादेव, न मिथ्याज्ञानादप्रार्थप्त्यसिद्धेरिति।

अमुमेवार्थमनन्तरेण ग्रन्थेन दर्शयति। द्विप्रकारापीत्यादिना परव्याख्यां दर्शयति। अपि त्वयमर्थ इत्यादिनात्मीयां व्याख्याम्।

ततो यावद् ब्रूयादित्यादिनोपसंहारव्याजेनैवशब्देन प्रयुक्तेनावधारणार्थवाचिना यावानर्थस्तावानेव सर्वशब्देन प्रयुक्तेन कृत्स्नार्थवाचिना भवतीति दर्शयति।

२. द्विविधं सम्यग्ज्ञानम् ॥

[न्याय०] तच्च सम्यग्ज्ञानं विप्रतिपत्तिचतुष्टयनिराकरणेन यथार्थतो ज्ञायते। विप्रतिपत्तिचतुष्टयं तु—१. संख्याविप्रतिपत्तिः, २. स्वरूपविप्रतिपत्तिः, ३. विषयविप्रतिपत्तिः, ४. फलविप्रतिपत्तिश्चेति।

तत्र संख्याविप्रतिपत्तिः—केषाञ्चिदेकमिति, यथा बार्हस्पत्यानाम्। केषाञ्चित् त्रीणीति, यथा साङ्ख्यानाम्। नैयायिकानां चत्वारि। मीमांसकानां च षडिति।

[धर्मो०] ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिः तस्मात् तत् सम्यग्ज्ञानं व्युपादयते।

यद्यपि च समासे गुणीभूतं सम्यग्ज्ञानम्, तथापीह प्रकरणे व्युत्पादयितव्यत्वात् प्रधानम्, ततस्तस्यैव तच्छब्देन सम्बन्धः।

व्युत्पाद्यते इति। विप्रतिपत्तिनिराकरणेन प्रतिपाद्यते ॥ १ ॥

चतुर्विधा चात्र विप्रतिपत्तिः संख्या-लक्षण-गोचर-फलविषया। तत्र संख्याविप्रतिपत्तिं निराकर्तुमाह—द्विविधमिति। द्वौ विधौ=प्रकारावस्येति द्विविधम्। संख्याप्रदर्शनद्वारेण च व्यक्तिभेदो दर्शितो भवति।

[टि०] ननु बहुव्रीहिणा पुरुषार्थसिद्धिरुच्यते, तस्याः प्राधान्यात् तच्छब्देन सम्बन्धो युक्तो न सम्यग्ज्ञानस्य? इत्याह—यद्यपीत्यादि। एवं मन्यते—शब्दार्थो हि द्विविधः—शाब्दः, प्रतिपाद्यश्च। शब्दापेक्षया चोद्यं प्रतिपाद्यापेक्षया परिहृतम्, सम्यग्ज्ञानस्यैव व्युत्पाद्यतया प्रस्तुतत्वादितरस्याः सिद्धेस्तद्विपर्ययादिति। ननु च किमिदं ज्ञानस्य व्युत्पादनम्? किं ज्ञानस्योत्पादनम्, उत दोषापनयनम्, अथ स्वरूपकथनमिति? न तावदुत्पादनमनेन प्रकरणेन क्रियते, स्वहेतोरेवोत्पत्तेः। नापि दोषापनयनम्, न ह्यनेन प्रकरणेन दोषोऽपनेतुं शक्यते, अकारकत्वादस्य। नापि ज्ञापयितुम्, अविद्यमानत्वाद् दोषस्य। नापि स्वरूपकथनं युज्यते, निष्प्रयोजनत्वात् प्रकरणस्य? इत्याशङ्क्याह—व्युत्पाद्यत इति विप्रतिपत्तिनिराकरणेनेति।

एवं मन्यते—विप्रतिपत्तिनिराकरणद्वारेण सम्यग्ज्ञानस्वरूपं ज्ञाप्यतेऽनेन प्रकरणेनेति ॥ १ ॥

'वक्ष्यमाणलक्षणयुक्तं सम्यग्ज्ञानं नान्यलक्षणयुक्तम्' इति स्वरूपकथनम्। तामेव विप्रतिपत्तिं क्रमेण दर्शयति—चतुर्विधेति। चतुःप्रकारा संख्यालक्षणेत्यादिना। तत्रेत्यादिना संख्याविप्रतिपत्तिनिराकरणं दर्शयति। अनेकप्रकारा पुनः सम्यग्ज्ञानस्य विप्रतिपत्तिः।

तथाहि—मीमांसकाः प्रत्यक्षानुमानशब्दोपमानार्थापत्त्यभावलक्षणं पदव्याख्यायुक्तं सम्यग्ज्ञानं मन्यन्ते। नैयायिकाश्चतुःसंख्यायुक्तं प्रत्यक्षानुमानशब्दोपमानलक्षणं मन्यन्ते। चार्वाकास्तु केचित् प्रत्यक्षमेवैकमिति। तन्निरासेन दर्शयति—द्विविधमिति।

[न्या०] स्वरूपविप्रतिपत्तिर्यथा—केषाञ्चित् प्रत्यक्षं सविकल्पकम् । केषाञ्चित् निर्विकल्पकमिति ।

विषयविप्रतिपत्तिर्यथा—केचिदाहुः—प्रत्यक्षस्य विषयः स्वलक्षणमेव, अनुमानस्य विषयः सामान्यलक्षणमेवेति । अन्यैस्तु अन्ये उक्ताः ।

फलविप्रतिपत्तिर्यथा – केचित् प्रमाणफलयोर्भेदमभ्युपगच्छन्ति, केचित् पुनरभेदमभ्युपगच्छन्तीति । तस्मात् तादृशविप्रतिपत्तिचतुष्टयनिराकरणेन सर्वथा अभ्रान्ततया सम्यग्ज्ञानस्वरूपं प्रतिपादितं भवति ।

तत्र च प्रथममेव सङ्ख्याविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थमुक्तम्—द्विविधं सम्यग्ज्ञानमिति । द्वे विधे अस्य इति द्विविधम् । सङ्ख्याशब्दकथनं तु द्विविधमेवेति स्पष्टप्रतिपादनार्थम् । तेन त्रिविधत्वैकविधत्वादीनां निरासः । सङ्ख्याया द्वैविध्यमात्रं प्रतिपादितम् ॥ २ ॥

[धर्मो०] द्वे एव सम्यग्ज्ञानव्यक्ती इति । व्यक्तिभेदे च प्रदर्शिते प्रतिव्यक्तिनियतं सम्यग्ज्ञानलक्षणमाख्यातुं शक्यम् । अप्रदर्शिते तु व्यक्तिभेदे सकलव्यक्त्यनुयायि सम्यग्ज्ञानलक्षणमेकं न शक्यं वक्तुम् । ततो लक्षणकथनाङ्गमेव संख्याभेदकथनम् । अप्रदर्शिते तु व्यक्तिभेदात्मके संख्याभेदे लक्षणभेदस्य दर्शयितुमशक्यत्वात् । लक्षणनिर्देशाङ्गत्वादेव च प्रथमं संख्याभेदकथनम् ॥२॥

किं पुनस्तद् द्वैविध्यम्? इत्याह—प्रत्यक्षमिति । प्रतिगतमाश्रितम् अक्षम् । "अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया" (पा० सू० वा० २. २. १८) इति समासः । प्राप्तापन्नालङ्गतिसमासेषु परवल्लिङ्गप्रतिषेधात् अभिधेयवल्लिङ्गे सति सर्वलिङ्गः प्रत्यक्षशब्दः सिद्धः ।

[टि०] ननु च सम्यग्ज्ञानस्य लक्षणे कथिते सति पश्चात् तद्भेदः प्रदर्शयितुं युज्यते—इत्थम्भूतलक्षणं सम्यग्ज्ञानं द्विविधमिति, तत् किमित्यादावेव प्रदर्शितम्? इत्याह—व्यक्तिभेदे चेत्यादि । एवं मन्यते—सत्यमेवमेव, किन्त्वत्र संख्याभेदेऽकथिते सम्यग्ज्ञानस्य लक्षणमेव न शक्यते कथयितुम्, अतः प्रत्यक्षस्यान्यल्लक्षणं प्रतिनियतं शक्यते कथयितुमित्यतो लक्षणाङ्गमेवादौ संख्याभेदकथनमिति । ननु च 'प्रत्यक्षमनुमानं च' (न्या०वि० १. ३) इति निर्देशाद् द्विविधमिति लब्धम्, किमर्थं द्विविधग्रहणम्? उच्यते; 'द्विविधमेव सम्यग्ज्ञानम्' इत्यवधारणार्थम्, तेनैकत्रिचतुरा संख्या निरस्ता स्यात् ।

असति द्वित्वकथने प्रत्यक्षानुमाने तावत् सम्भवतोऽन्यान्यपि प्रमाणानि भविष्यन्तीति स्यादाशङ्का ॥ २ ॥

प्रतिगतमक्षमित्यादिना गतिसमासं दर्शयति । अक्षमक्षं प्रति प्रत्यक्षमित्यव्ययीभावसमासः, कस्मान्न प्रदर्श्यतेऽयं समासः? यतोऽव्ययीभावश्चेन्नपुंसकलिंगता स्यात्

३. प्रत्यक्षम्, अनुमानं चेति ।।

[न्या०] कीदृशं च द्वैविध्यम् ? कथं न वा चतुर्विधं ज्ञानमिति ? अतः विशेषेणोक्तम्—प्रत्यक्षम् अनुमानं चेति ।

अक्षेषु आश्रितं प्रत्यक्षम् । निपातोऽयं ज्ञानविषयस्य प्रत्यक्षकारकत्वं सूचयति । यथा—गमनेन गौरिति । तत्र गमनं गोत्वस्योपलक्षणम्, तस्माद् गोत्वाश्रयपिण्डो गोशब्दाभिधेय इत्युपदर्श्यते । तथात्रापि इन्द्रियाश्रितत्वेन ज्ञानविषयस्य प्रत्यक्षकारकत्व-सूचनात् प्रत्यक्षचतुष्टयमेव प्रत्यक्षत्वेनाश्रीयते ।

मीयतेऽनेनेति मानम् । परिच्छेदकमिति शेषः । अनुशब्द आनन्तर्यबोधकः । पश्चान्मानम् अनुमानम् । पक्षधर्मग्रहप्रतिबन्धस्मरणपूर्वकं प्रवर्तमानमिति शेषः ।

[ध०] अक्षाश्रितत्वं च व्युत्पत्तिनिमित्तं शब्दस्य, न तु प्रवृत्तिनिमित्तम् । अनेन त्वक्षाश्रितत्वेनैकार्थसमवेतमर्थसाक्षात्कारित्वं लक्ष्यते । तदेव शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम् । ततश्च यत्किञ्चिदर्थस्य साक्षात्कारि ज्ञानं तत् प्रत्यक्षमुच्यते ।

यदि त्वक्षाश्रितत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं स्यात्, इन्द्रियविज्ञानमेव प्रत्यक्षमुच्येत, न मानसादि । यथा 'गच्छतीति गौः' इति गमनक्रियायां व्युत्पादितोऽपि गोशब्दो गमनक्रियोपलक्षितमेकार्थसमवेतं गोत्वं प्रवृत्तिनिमित्तीकरोति । यथा च गच्छत्यगच्छति च गवि गोशब्दः सिद्धो भवति ।

मीयतेऽनेनेति मानम् । करणसाधनेन मानशब्देन सारूप्यलक्षणं प्रमाणमभिधीयते । लिङ्गग्रहण-सम्बन्धस्मरणस्य पश्चात् मानम् अनुमानम् । गृहीते पक्षधर्मे, स्मृते च साध्यसाधनसम्बन्धेऽनुमानं प्रवर्तते इति पश्चात्-कालभावि उच्यते ।

[टि०] प्रत्यक्षस्य, ततश्च प्रत्यक्षा बुद्धिः, प्रत्यक्षो घट इति न स्यात्; इदमेव स्यात्—प्रत्यक्षं ज्ञानम्, प्रत्यक्षं कुण्डं चेति । गतिसमासे तु सर्वलिंगता भवति । ननु च प्रतिगतमक्षमित्यस्यां व्युत्पत्तावक्षाश्रितस्यैवेन्द्रियज्ञानस्य प्रत्यक्षशब्दवाच्यता स्यात्, न योगिज्ञानादेः, तेषामक्षानाश्रयात् ? इत्याशङ्क्याह—अक्षाश्रितत्वं चेत्यादि । एकार्थसमवेतमित्येकस्मिन्निन्द्रियज्ञाने समवेतमक्षाश्रितत्वमर्थसाक्षात्कारित्वं च सम्बद्धमित्यर्थः ।

सारूप्यलक्षणमित्यनेनार्थसारूप्यलक्षितं ज्ञानमेवोच्यते, तन्न सारूप्यमात्रम्; अन्यथा त्रिरूपाल्लिंगादनुमेये ज्ञानमिति विरुद्धयेत । अत्रापि पश्चान्मानमनुमानमित्यव्ययीभावसमासे पूर्ववच्चोदयमुद्भाव्य गतिसमास आश्रयितव्यः—अनुगतं मानमनुमानमिति । पश्चादित्यर्थकथनं कृतम्, न तस्मिन् वाक्ये समासः ।

४. तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम् ॥

[न्या०] प्रत्यक्षमनुमानं चेति विभक्तिभेदेन निर्दिष्टम् । अर्थाद् विषयभेदो गम्यते । यथा तयोर्विभक्तिभेदः, तथा तयोर्विषयभेदोऽपीति शेषः ।

च-शब्दः समुच्चयार्थः । तेन प्रत्यक्षानुमानयोः समबलत्वसंग्रहः । यथा प्रत्यक्षमर्थेनोत्पन्नं सद् अभ्रान्तमिति प्रमाणं भवति, तथानुमानमपि तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामर्थप्रतिबन्धादभ्रान्तमिति तत् प्रमाणं भवति । एतेन यदुक्तं कैश्चित्—'सर्वेषु प्रमाणेषु मुख्यं प्रत्यक्षम्' इति, तन्निरस्तम् ।

अभ्रान्तत्वमुभयोरपि समानमेव । प्रतिपादितं हि केनचित् प्रत्यक्षस्य मुख्यत्वम् ॥ ३ ॥

स्वरूपविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमित्युक्तम् । तत्रेति शब्दः निर्धारणार्थः । सम्यग्ज्ञानस्य प्रत्यक्षमधोलक्षणेन निर्धार्यते । प्रत्यक्षमित्यनेन लक्ष्यमुक्तम्, कल्पनापोढमभ्रान्तमित्यनेन लक्षणमुक्तम् । तेन 'कल्पनापोढमभ्रान्तं यद् भवति तदेव प्रत्यक्षं वेदितव्यम्' इत्यर्थं उक्तो भवति ।

(ध०) चकारः प्रत्यक्षानुमानयोस्तुल्यबलत्वं समुच्चिनोति । यथार्थाविनाभावित्वादर्थं प्रापयत् प्रत्यक्षं प्रमाणम्, तद्वदर्थाविनाभावित्वाद् अनुमानमपि परिच्छिन्नमर्थं प्रापयत् प्रमाणमिति ॥ ३ ॥

तत्रेति सप्तम्यर्थे वर्तमानो निर्धारणे वर्तते । ततोऽयं वाक्यार्थः—तत्र तयोः प्रत्यक्षानुमानयोरिति समुदायनिर्देशः । प्रत्यक्षमिति एकदेशनिर्देशः ।

[टि०] चकारः प्रत्यक्षानुमानयोस्तुल्यबलत्वं समुच्चिनोतीत्यादिना यदुक्तं शबरस्वामिप्रभृतिभिः—'प्रत्यक्षं श्रेष्ठं प्रमाणं नानुमानम्', तथा चोक्तं मीमांसाभाष्ये—"प्रत्यक्षे बलीयसि कथमनुमानम्" इति तत् प्रयुक्तम्; यतो द्वयोरपि स्वव्यापारे तुल्यबलत्वम् । अमुमेवार्थं दर्शयति-यथार्थाविनाभावीत्यादिना । अनेन विनीतदेव-शान्तभद्रयोर्व्याख्या च दूषिता । ताभ्यामेवं व्याख्यातम्—"प्रत्यक्षमनुमानं च" इति भिन्नविभक्तिनिर्देशोऽर्थाद् विषयभेदं दर्शयति । यथाऽनयोर्विभक्तिर्भिन्ना, एवं विषयोऽपि भिन्नः' इति, एतच्चायुक्तम्; यस्माद् एकविभक्तिनिर्देशे क्रियमाणे चकारेण तुल्यबलत्वं न प्रदर्शितं स्यादिति ॥ ३ ॥

प्रत्यक्षत्वजात्येति । प्रत्यक्षाणां बहुत्वात् तज्जात्या निर्धार्यते ।

प्रत्यक्षमनूद्येति लक्ष्यनिर्देशः । कल्पनापोढत्वमभ्रान्तत्वं च विधीयत इति लक्षणनिर्देशः । अनेन लक्ष्यलक्षणभावं दर्शयता विनीतदेवव्याख्यानं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धरूपं प्रत्युक्तम् । न हि संज्ञा यथार्थं सम्भवति । यथार्थकथनेन हि विप्रतिपत्तिर्निराकृता स्यात् । यदयप्यन्वर्थसंज्ञया कल्पनापोढं यद्भ्रान्तं च तत्प्रत्यक्षमिति शक्यते यथार्थं कथयितुम्, तथापि न स्वरूपं प्रत्यक्षस्य कथितं स्यात्; यतोऽन्यदपि प्रत्यक्षस्य स्वरूपमर्थ-

[न्या०] अवयवार्थस्तु—कल्पनाभ्य अपोढमिति कल्पनापोढम्। कल्पनावियुक्तमिति शेषः। यद्वा—कल्पनया अपोढं कल्पनापोढम्। कल्पनाविवर्जितमिति शेषः। न भ्रान्तमभ्रान्तम्। प्रापकविषयेऽविसंवादकमिति शेषः।

कस्माद् विशेषणद्वयमुक्तमिति चेद्? उच्यते; तिमिरवतो भ्रान्तज्ञानव्यच्छेदार्थम् अभ्रान्तमित्युक्तम्। कल्पनापोढमिति चानुमानव्यवच्छेदार्थमुक्तम्। एवमभ्रान्तत्वं

[ध०] तत्र समुदायात् प्रत्यक्षत्वजात्यैकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम्। प्रत्यक्षमनूद्य कल्पनापोढत्वम्, अभ्रान्तत्वं च विधीयते। यत् तद् भवताम् अस्माकं चार्थेषु साक्षात्कारि ज्ञानं प्रसिद्धम्, तत् कल्पनापोढाभ्रान्तत्वयुक्तं द्रष्टव्यम्।

न चैतन्मन्तव्यम्—कल्पनापोढाभ्रान्तत्वं चेदप्रसिद्धम्, किमन्यत् प्रत्यक्षस्य ज्ञानस्य रूपमवशिष्यते यत् प्रत्यक्षशब्दवाच्यं सद् अनूद्येतेति, यस्मादिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधाय्यर्थेषु साक्षात्कारि ज्ञानं प्रत्यक्षशब्दवाच्यं सर्वेषां प्रसिद्धम्, तदनुवादेन कल्पनापोढाभ्रान्तत्वविधिः।

[टि०]साक्षात्कारादिकमस्तीति। लक्ष्यलक्षणे तु कथिते यथार्थं कथितं भवति। यत् किञ्चित् प्रत्यक्षं तत् कल्पनापोढाभ्रान्तमिति प्रतिपत्तव्यम्। अत एव लक्षणकरणं संज्ञाकरणं भवति; संज्ञाकरणत्वेनाप्रतीतेर्लक्षणकरणस्य। शब्दमनूद्यानित्यत्वं लक्षणं विधीयते, न चानित्यत्वं संज्ञेति गम्यत इति संज्ञा-लक्षणकरणयोर्भेदः।

यस्त्वनयोः प्रदेशान्तरप्रसिद्धयोरनुवादं कृत्वा प्रत्यक्षत्वं विदधाति, तेनाप्यत्र लक्ष्यलक्षणभावो विपरीतमाख्यातं भङ्ग्या; यतो लक्षणविधानकाले लक्ष्यमनूद्य लक्षणं विधीयते, न तु लक्षणमनूद्य लक्ष्यं विधीयते। सिद्धे तु लक्ष्यलक्षणभावे सति लक्षणमनूद्य लक्ष्यं विधीयते, यथा—'यः शिखावान् स परिव्राजकः' इति। शिखालक्षणविधानकाले तु परिव्राजकानुवादेन शिखैव विधीयते। विपरीतविधानमित्यन्यदपि अस्मिन्मते दूषणं दत्तं विनिश्चयटीकायां टीकाकृतेति तत्रैव द्रष्टव्यम्।

ननु च लक्षणविधिपक्षे प्रत्यक्षस्याद्याप्यसिद्धत्वादनूद्यं न सम्भवति, ततश्च कथं प्रत्यक्षलक्षणमनूद्य लक्षणं विज्ञाप्यते, यथा—'शिखया परिव्राजकः' इत्यत्र शिखालक्षणमनूद्य कल्पनापोढादि विधीयते? इत्याशङ्क्याह—यत् तद् भवतामित्यादि। एवं मन्यते—यद्यपि कल्पनापोढत्वेन प्रत्यक्षं न सिद्धम्, तथापि अर्थसाक्षात्कारित्वेन सामान्यं प्रत्यक्षं प्रसिद्धम्, ततोऽप्युच्यते—प्रत्यक्षमनूद्येति।

ननु च तयोरप्रसिद्धत्वात् प्रत्यक्षस्याप्रसिद्धिरेव, प्रत्यस्य तत्स्वभावत्वात्? इत्याशङ्क्याह—न चैतन्मन्तव्यमित्यादि। सुबोधम्।

[न्या०]प्रापकविषये उपादेयम्, न तु आलम्बनविषये। यद्यालम्बनविषये अभ्रान्तत्वमभ्युपगम्यते, तदत्र योगाचारनयनिरासः स्यात्। योगाचारा हि सर्वमालम्बनज्ञानं भ्रान्तं

[ध०] कल्पनाया अपोढम् अपेत कल्पनापोढम्। कल्पनास्वभावरहितमित्यर्थः। **अभ्रान्तम्** अर्थक्रियाक्षमे च वस्तुरूपेऽविपर्यस्तमुच्यते। अर्थक्रियाक्षमं च वस्तुरूपं सन्निवेशोपाधिवर्णात्मकम्। तत्र यन्न भ्राम्यति तदभ्रान्तम्।

एतच्च लक्षणद्वयं विप्रतिपत्तिनिरासार्थम्, न त्वनुमाननिवृत्त्यर्थम्; यतः कल्पनापोढग्रहणेनैवानुमानं निवर्तितम्।

तत्रासति अभ्रान्तग्रहणे गच्छद्वृक्षदर्शनादि प्रत्यक्षं कल्पनापोढत्वात् स्यात्। ततो हि प्रवृत्तेन वृक्षमात्रमवाप्यते इति संवादकत्वात् सम्यग्ज्ञानम्, कल्पनापोढत्वाच्च प्रत्यक्षमिति स्यादाशङ्का। तन्निवृत्त्यर्थम् अभ्रान्तग्रहणम्।

[टि०] कल्पनास्वभावरहितमिति। भावप्रधानो निर्देशः। कल्पनात्वस्वभावरहितमित्यर्थः। अभ्रान्तमर्थक्रियाक्षमे च वस्तुरूप इत्यादिनाऽविसंवादोऽर्थोऽभ्रान्तशब्दस्य न सम्भवतीति दर्शयति। अविसंवादार्थेऽभ्रान्तशब्दे गृह्यमाण उत्तरत्र दूषणं प्रतिपादयति। सन्निवेशोपाधिवर्णात्मकमित्यनेनैतद् दर्शयति—वर्णादन्यत् संस्थानादिकं परपरिकल्पितं नास्तीति।

एतच्च लक्षणद्वयमित्यादिना पदद्वयेन विप्रतिपत्तिनिरासं दर्शयता विनीतदेवव्याख्या पदद्वयव्यवच्छेदकथनरूपा दूषिता। तेन त्वेवं व्याख्यातम्—अभ्रान्तमिति यद् विसंवादि न भवति। एवं सत्यनुमानस्यापि प्रत्यक्षलक्षणं प्राप्नोतीति कल्पनापोढग्रहणं तन्निवृत्त्यर्थम्। यद्येवं व्याख्यायते, 'आलम्बने यन्न भ्रान्तं तदभ्रान्तम्' इत्येवमुच्यमाने सर्वं प्रत्यक्षं ज्ञानमालम्बने भ्रान्तमिति न कस्यचित् प्रत्यक्षत्वं स्यात्।

तथा चाह—सर्वमालम्बने भ्रान्तं मुक्त्वा तथागतज्ञानम्, इति योगाचारमतेन; तदप्यत्राचार्येण संगृहीतमिति तदयुक्तम्, यत आचार्येण विप्रतिपत्तिनिरासार्थं पदद्वयं कृतम्, न व्यवच्छेदार्थम्। अत एवाचार्यमनुमापयता धर्मोत्तरेण पदद्वयं व्याख्यातमिति।

ननु च भवतः पक्षेऽपि किमिति व्यवच्छेदार्थं न भवति ? इत्याह—एतच्चेत्यादि। एवं मन्यते—भ्रान्तशब्दोऽयं नाविसंवादार्थो गृह्यते, अपि त्वर्थक्रियाक्षमे वस्तुरूप आलम्बने यन्न भ्राम्यति तदभ्रान्तशब्देन गृह्यते। ननूक्तं योगाचारमतमसंगृहीतं स्यादिति ? उच्यते; बाह्यनयेन सौतान्त्रिकमतानुसारेणाचार्येण लक्षणं कृतमित्यदोषः। योगाचारमतेन त्वभ्रान्तग्रहणं न कर्तव्यम्; संवादकस्य सम्यग्ज्ञानस्य प्रस्तुतत्वात्। अन्यव्यावर्त्यस्याभावात्। तस्मादभ्रान्तग्रहणेनानुमाने निरस्ते कल्पनापोढग्रहणमधिकं सिद्धिविप्रतिपत्तिं निराकरोति। अत एवाह—न त्वनुमाननिवृत्त्यर्थमिति। अस्ति चात्र

[न्या०] मन्यन्ते। ततश्च प्रकरणारम्भस्तन्नयनिराकरणार्थः स्यात्। इष्टश्च प्रकरणारम्भः सौत्रान्तिक-योगाचारोभयमतानुधावनार्थम्। प्रापकविषयेऽविसंवादकलक्षणम-

[ध.]तद्धि भ्रान्तत्वान्न प्रत्यक्षम्। त्रिरूपलिङ्गजत्वाभावाच्च नानुमानम्। न च प्रमाणान्तरमस्ति। अतो गच्छद्वृक्षदर्शनादि मिथ्याज्ञानम्--इत्युक्तं भवति। यदि मिथ्याज्ञानम्, कथं ततो वृक्षावाप्तिः? इति चेत्, न ततो वृक्षावाप्तिः। नानादेशगामी हि वृक्षस्तेन परिच्छिन्नः। एकदेशनियतश्च वृक्षोऽवाप्यते। ततो यद्देशो गच्छद् वृक्षो दृष्टः, तद्देशो नावाप्यते। यद्देशश्चावाप्यते स न दृष्ट इति तस्मात् कश्चिदर्थोऽवाप्यते। ज्ञानानन्तरादेव तु वृक्षादिरर्थोऽवाप्यते। इत्येवमभ्रान्तग्रहणं विप्रतिपत्तिनिरासार्थम्।

[टि०] विप्रतिपत्तिः। तथा हि मीमांसकादय एवमाहुः-यथा निर्विकल्पकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं तथा जात्यादियोजनाज्ञानमपि सम्यग्ज्ञानमिन्द्रियजम्; उपदर्शितस्यार्थस्य प्रापणात्। तथा चाहः—

"ततः परं पुनर्वस्तुधर्मैर्जात्यादिभिर्यया।
बुद्धयावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता"॥

(श्लो० वा०, प्र० सू० १२०) इति।

तथा च वैयाकरणा आहुः—

"वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेन सा हि प्रत्यवमर्शिनी"॥ (वा० प० १-८९)

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञान सर्वं शब्देन भासते॥"

(वा० प० १.१२४)

तथा नैयायिकादीनां सविकल्पकं प्रत्यक्षमिति कल्पनापोढग्रहणेन निराक्रियते। तथा कल्पनापोढग्रहणेन निर्विकल्पे सिद्धेऽग्रहणमतिरिच्यमान द्विचन्द्रज्ञानादेः सम्यग्ज्ञानाधिकरण एव निरस्तत्वाद् विप्रतिपत्तिनिरासार्थत्वमेव भवति। तथाचार्यैकदेशीयाः शुक्ले शंखे पीतज्ञानम्, गच्छद्वृक्षदर्शनज्ञानं चालातचक्रज्ञानमभ्रान्तमपि सम्यग्ज्ञानमिच्छन्ति; वस्तुनोऽभ्रान्तत्वात् पीताकारादेश्च भ्रान्तत्वाद्—इत्यस्ति विप्रतिपत्तिः, तन्निराक्रियतेऽभ्रान्तग्रहणेनेति स्थितं द्वयोरपि विप्रतिपत्तिनिरासार्थत्वमिति। तथा सति अभ्रान्तग्रहण इत्यादिनाऽभ्रान्तविषयस्य विप्रतिपत्तिविषयं दर्शयति। न ततो वृक्षावाप्तिरित्युपदर्शितस्य गच्छद्वृक्षस्याप्राप्तेरित्यभिप्रायः। ज्ञानान्तरादेव त्विति। प्रत्यक्षान्तरात् स्थिरवृक्षस्य प्राप्तेः।

५. अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना ॥

[न्या०] भ्रान्तत्वं चोभयानुमतमेव। एवमनुमानस्यापि प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः, तदपि हि अविसंवादकमभ्रान्तमेवेष्टम्। अत एवानुमाननिरासार्थं कल्पनापोढमित्युक्तम्। तस्माद् विशेषणद्वयमुक्तप्रयोजनकम् ॥ ४ ॥

सिद्धान्ते प्रसिद्धकल्पना निरस्ता। लौकिककल्पनोपदेशार्थम् 'अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना' इत्युक्तम्। अभिलप्यतेऽनेनेति अभिलापः=वाच्यः

[ध०] तथा अभ्रान्तग्रहणेनाप्यनुमाने निवर्तिते कल्पनापोढग्रहणं विप्रतिपत्तिनिराकरणार्थम्। भ्रान्तं हि अनुमानं स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽध्यवसायेन प्रवृत्तत्वात्। प्रत्यक्षं तु ग्राह्ये रूपे न विपर्यस्तम्।

न त्वविसंवादकमभ्रान्तिमिह ग्रहीतव्यम्; यतः सम्यग्ज्ञानमेव प्रत्यक्षम्, नान्यत्। तत्र सम्यग्ज्ञानत्वादेवाविसंवादकत्वे लब्धे पुनरविसंवादकग्रहणं निष्प्रयोजनमेव। एवं हि वाक्यार्थः स्यात्--प्रत्यक्षाख्यं यदविसंवादकं ज्ञानं तत् कल्पनापोढमविसंवादकं चेति। न चानेन द्विरविसंवादकग्रहणेन किञ्चित्। तस्माद् ग्राह्येऽर्थक्रियाक्षमे वस्तुरूपे यदविपर्यस्तं तदभ्रान्तमिह वेदितव्यम् ॥ ४ ॥

कीदृशी पुनः कल्पनेह गृह्यते? इत्याह—**अभिलापे**त्यादि। अभिलप्यतेऽनेनेति **अभिलापः**, वाचकः शब्दः। अभिलापेन संसर्गः **अभिलापसंसर्गः**= एकस्मिन् ज्ञानेऽभिधेयाकारस्याभिधानाकारेण सह ग्राह्याकारतया मिलनम्। ततो यदैकस्मिन् ज्ञानेऽभिधेयाभिधानयोराकारौ सन्निविष्टौ भवतः, तदा

[टि.]तथाभ्रान्तग्रहणेनेत्यादिना कल्पनापोढग्रहणस्य विप्रतिपत्तिनिरासार्थत्वं दर्शयति।

विप्रतिपत्तिविषयश्च टीकाकृता न दर्शित; अतिप्रसिद्धत्वात्। यदुक्तं प्राक्—नाविसंवादार्थोऽभ्रान्तार्थ इति। तस्यार्थस्य ग्रहणे दोषं दर्शयति— न त्वविसंवादकमित्यादिना ॥ ४ ॥

कीदृशी पुनः कल्पनेत्यादिना कल्पनाबहुत्वात् कस्याः कल्पनाया ग्रहणमिति कल्पनाविशेषमजानन् पृच्छति। तथा हि--वैभाषिका इन्द्रियविज्ञानं वितर्क-विचारचैतसिकसम्प्रयुक्तं कल्पनामिच्छन्ति। योगाचारमतेन च तथागतज्ञानमद्वयं मुक्त्वा सर्वज्ञानं ग्राह्यग्राहकत्वेन विकल्पितं कल्पना। जात्यादिसंसृष्टं तु मनोज्ञानं कल्पनेत्यन्ये कथयन्ति। अभिलापेत्यादिना शब्दसंसृष्टस्य विकल्पस्य ग्रहणं नागमपरिपठितानामिति दर्शयति। तेषां ग्रहणे सतीन्द्रियविज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः। अभिलप्यतेऽनेनेति करणसाधनेन एतद् दर्शयति--वाचकोऽभिलापशब्देनेष्टः, न तु वाच्यं

[न्या०] शब्दसामान्यरूपः। अभिलापेन संसर्ग इति अभिलापसंसर्गः। संसर्गस्तु सम्बन्धः। अभिलापसंसर्गस्य योग्यमिति अभिलापसंसर्गयोग्यम्। अर्थसामान्यम्। तदेव हि अन्वयव्यतिरेकवत्त्वाद् व्याप्तत्वाद् अभिलापयितुं शक्यम्। अर्थविशेषः स्वलक्षणरूपस्तु

[ध०] संसृष्टे अभिधानाभिधेये भवतः। अभिलापसंसर्गस्य योग्योऽभिधेयाकाराभासो यस्यां प्रतीतौ सा तथोक्ता।

तत्र काचित् प्रतीतिः अभिलापसंसृष्टाभासा भवति, यथा--व्युत्पन्नसंकेतस्य घटार्थकल्पना घटशब्दसंसृष्टार्थावभासा भवति। काचित्तु अभिलापेनासंसृष्टापि अभिलापसंसर्गयोग्याभासा भवति; यथा--बालकस्याव्युत्पन्नसंकेतस्य कल्पना। तत्र 'अभिलापसंसृष्टाभासा कल्पना' इत्युक्तावव्युत्पन्नसंकेतस्य कल्पना न संगृह्येत। योग्यग्रहणे तु सापि संगृह्यते, यद्यपि अभिलापसंसृष्टाभासा न भवति तदहर्जातस्य बालकस्य कल्पना, अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा तु भवत्येव। या चाभिलापसंसृष्टा, सापि योग्या। तत उभयोरपि योग्यग्रहणेन संग्रहः।

[टि०]सामान्यादि। तेन विनीतदेवव्याख्या दूषिता–'अभिलप्यत इत्यभिलापः=वाच्यः सामान्यादिः' इत्येवंरूपा। एवमेवात्राश्रयणीयम्, अन्यथा योग्यग्रहणेन शब्दसंसर्गयोग्यो न कथितः स्यादिति। यद्येवम्, धर्मोत्तरव्याख्याने जात्यादेर्वाचकस्य संसर्गभावो न प्रदर्शितः स्यात्? सत्यमनेन न प्रतिपादितः, विषयचिन्तायां सामान्यादेर्विषयभावकथनेन सामर्थ्यात् कथितं भवतीति निरोधः। एकस्मिन् ज्ञाने वाच्यवाचकाकारतया संघटनमित्यर्थः। ननु च यद्यपि तस्मिन् ज्ञाने आकारयोर्मीलनं तथापि शब्दार्थयोः संसर्गो नास्ति? इत्याह– ततो यदैकस्मिन्नित्यादि। शब्दार्थयोः संसर्गविज्ञानेऽपि तयोराकारयोर्मीलनं न सम्भवतीत्यभिप्रायः।

तत्र काचित् प्रतीतिरित्यादिना योग्यग्रहणस्य विषयं दर्शयति। व्युत्पन्नसंकेतापेक्षयाकारद्वयप्रतिभासनम्। ननु चाव्युत्पन्नसंकेतस्य बालमूकादेरनुमतो विज्ञाने न शब्दसंसर्ग इति तद्योग्यत्वमपि नास्ति। कश्च संसर्गयोग्यप्रतिभासः? यः शब्दप्रतिभासः। मूकादिज्ञाने तु संकेताभावे सति शब्दप्रतिभासोऽपि न सम्भवतीति संसर्गयोग्यत्वमपि नास्ति। किमिदं योग्यत्वं नाम? अभिधेयाकारस्य संकेतकरणयोग्यत्वम्। न चाभिधानोल्लेखाभावे सत्यभिधेयप्रतिभासम्, नापि योग्यत्वमिति। तथा च कुमारिलः प्राह—

अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्॥

(श्लो० वा०, प्र० सू० ११२) इति।

[न्या०]अभिलापयितुं न शक्यते; तद्व्याप्तत्वात् । ज्ञानेऽभिलापसंसर्गयोग्यो यः प्रतिभासः स एवाभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासः । अर्थसामान्यस्यार्थाकार इति शेषः ।

यद्वा—न अभिलप्यते इति अभिलापः=अभिधेयं यदर्थसामान्यम् । अभिलापेन संसर्ग इति अभिलापसंसर्गः । अभिलापसंसर्गस्य योग्यमिति अभिलापसंसर्गयोग्यम् । शब्दसामान्यम् । अन्वयव्यतिरेकवशात् तेनार्थाभिधानं शक्यम् । शब्दविशेषेण तु न शक्यम्; तस्यासामान्यत्वात् । ज्ञानेऽभिलापसंसर्गयोग्यो यः प्रतिभासः स एवाभिलाप-

[ध०] असत्यभिलापसंसर्गे कुतो योग्यतावसितिः ? इति चेत्; अनियतप्रतिभासत्वात् । अनियतप्रतिभासत्वं च प्रतिभासनियमहेतोरभावात् । ग्राह्यो ह्यर्थो विज्ञानं जनयन् नियतप्रतिभासं कुर्यात् । यथा रूपं चक्षुर्विज्ञानं जनयन्नियतप्रतिभासं जनयति, विकल्पविज्ञानं त्वर्थान्नोत्पद्यते । ततः प्रतिभासनियमहेतोरभावादनियतप्रतिभासम् ।

कुतः पुनरेतद्—विकल्पोऽर्थान्नोत्पद्यते इति ? अर्थसन्निधिनिरपेक्षत्वात् । बालोऽपि हि यावद् दृश्यमानं स्तनं 'स एवायम्' इति पूर्वदृष्टत्वेन न प्रत्यवमृशति तावन्नोपरतरुदितो मुखमर्पयति स्तने । पूर्वदृष्टापरदृष्टं चार्थमेकीकुर्वद् विज्ञानमसन्निहितविषयम्, पूर्वदृष्टस्यासन्निहितत्वात् । असन्निहितविषयं चार्थनिरपेक्षम् । अनपेक्षं च प्रतिभासनियमहेतोरभावादनियतप्रतिभासम् । तादृशं चाभिलापसंसर्गयोग्यम् ।

[टि०] ततश्च व्यावर्त्याभावाद् योग्यग्रहणं न कर्तव्यमित्याशङ्कां परस्य दर्शयति—असत्यभिलापेत्यादिना । अनियतप्रतिभासेत्यादिनोत्तरमाह । एवं मन्यते—शब्दसंसर्गित्वं किमुच्यते ? विकल्पज्ञानस्यानियतभासत्वमेव । कुतस्तत् सिद्धम् ? इत्याह—अनियतेत्यादि । अर्थादेव ह्युत्पद्यमानं नियतप्रतिभासं भवति । तथा चक्षुर्विज्ञानमित्यभिप्रायः । ननु कल्पनाज्ञानमप्यर्थादुत्पद्यमानं नियताकारं भविष्यति ? इत्याह—विकल्पविज्ञानमित्यादि । अर्थसन्निधिं विना विकल्पज्ञानस्योत्पत्तिरित्यभिप्रायः । तेनेन्द्रियज्ञानमेव नियतप्रतिभासम्, विकल्पज्ञानं त्वनियतप्रतिभासमिति । तथा नियतप्रतिभासं विकल्पज्ञानं बालमूकादेरप्यस्तीति दर्शयति—बालोऽपि हीत्यादिना । ननु च बालस्य ताल्वादिकरणपाटवाभावे सामान्यविशेषशब्दोच्चारणं नास्ति, तत् किमुच्यते—स एवायमिति ? सत्यं नास्ति; किन्तु 'स एवायम्' इत्येनेन विकल्पस्यावस्थोच्यते । 'स एवायम्' इत्यनेन पूर्वदृष्टत्वमेवोच्यते । उपरतरुदितः=अपगतरुदितः । एतद् दर्शयति—बालस्यापि पूर्वपरपरामर्शरूपं विकल्पकं विज्ञानमस्ति, नियतविषये प्रवृत्तेः, यथा गृहीतसंकेतस्य पूर्वापरपरामर्शेन प्रवृत्तिरिति । यच्च पूर्वापरपरामर्शं तदनियतप्रतिभासं पूर्वापरयोरा-

[न्या०] संसर्गयोग्यप्रतिभासः, शब्दसामान्याकार इति शेष इत्येतदुक्तं भवति ।

एवं श्लेषेण वाक्यस्य व्याख्यानेन उभयोरपि तद्विकल्पाकारः अभिलापसंसर्ग-योग्यप्रतिभास इत्युक्तं वेदितव्यम् ।

[ध०] इन्द्रियविज्ञानं तु सन्निहितार्थमात्रग्राहित्वादर्थसापेक्षम् । अर्थस्य च प्रतिभासनियमहेतुत्वान्नियतप्रतिभासम् । ततो नाभिलापसंसर्गयोग्यम् ।

अत एव स्वलक्षणस्यापि वाच्यवाचकभावमभ्युपगम्य एतदविकल्पकत्व-मुच्यते । यद्यपि हि स्वलक्षणमेव वाच्यं वाचकं च भवेत्, तथापि अभिलापसंसृष्टार्थं विज्ञानं सविकल्पकम् । न चेन्द्रियविज्ञानम् अर्थेन नियमितप्रतिभासत्वात् अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासं भवतीति निर्वि-कल्पकम् ।

श्रोत्रविज्ञानं तर्हि शब्दस्वलक्षणग्राहि, शब्दस्वलक्षणं च किञ्चित् वाच्यं किञ्चिद् वाचकम्—इत्यभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासं स्यात्, तथा च सवि-कल्पकं स्यात् ?

[टि०]रोपितत्वादिति संसर्गयोग्यं बालमूकादेर्विज्ञानमिति तन्निवृत्त्यर्थं योग्यग्रहणं कर्तव्य-मिति स्थितम् ।

इन्द्रियविज्ञानमित्यादिना कुमारिलेन यदिन्द्रियविज्ञानस्यालोचनाख्यस्य बाल-मूकादिविज्ञानेन सादृश्यं प्रतिपादितम्, तद् दूषयितुमुपसंहारव्याजेन वैलक्षण्यं दर्शयति—अत एवेत्यादि । यदिन्द्रियविज्ञानमर्थबलेनोत्पद्यमानं नियतप्रतिभासं तन्नि-र्विकल्पकम् । अत एव स्वलक्षणस्यापि शब्दस्यार्थस्य च वाच्य-वाचकत्वमभ्युपगम्य निर्विकल्पकत्वमिन्द्रियविज्ञानस्य साध्यते । विकल्पविज्ञानस्य तु स्वलक्षणवाच्य-वाचकत्वं प्रतिभासिनोऽपि सविकल्पकत्वमिति स्थितम् । यद्यपीत्यनेन स्वलक्षणयोर्वाच्यवाचक-भावाभ्युपगमं दर्शयति । परमार्थतः सामान्ययोरेव वाच्यवाचकत्वं नार्थशब्दविशेषस्ये-त्यादिना न्यायेन । अवश्यं च स्वलक्षणयोः वाच्यवाचकभावोऽभ्युपगम्यः । कुतः ? सामान्ययोर्विषयचिन्तायामेव निरस्यमानत्वादिति निर्विकल्पकत्वकथनं व्यर्थं स्यादिह । तदपि हि विषयाविषयचिन्ताद्वारेण निर्विकल्पकविषयमेवेति । तेन यद् विनीतदेवेन सामान्ययोर्वाच्यवाचकभावमङ्गीकृत्य निर्विकल्पकत्वमिन्द्रियविज्ञानस्य प्रतिपादितम्, तद् दूषितं भङ्ग्या ।

श्रोत्रविज्ञानं तर्हीत्यादिना स्वलक्षणस्य वाच्यवाचकभावपक्षेऽतिप्रसङ्गमापा-दयति परः । किञ्चिन्निर्विकल्पकत्वमिन्द्रियविज्ञानस्य साधनीयम् । न सामान्ययोर्वाच्य-वाचकभावमभ्युपगम्य शब्दस्वलक्षणं वाच्यम् । यदा घटशब्दः शब्दशब्दो वा शब्दं शब्देन प्रतिपद्यते, तदा किञ्चिद् वाच्यं शब्दस्वलक्षणं किञ्चिद् वाचकं शब्दस्वलक्षण-

६. तया रहितं तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्यनाहितविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ॥

[न्या०] प्रतीतिरिति संवेदनम् । बुद्धिरिति शेषः ॥ ५ ॥

तया रहितमिति कल्पनया रहितम् । कल्पनाकलुषेण रहितमिति शेषः । तेन, एतदुक्त्या शब्दार्थसामान्याकाररहिताया प्रतीतिः सा एव प्रतीतिः, सा एव प्रत्यक्ष-प्रमाणमित्युक्तं भवति ।

तिमिराशुभ्रमण-नौयान-संक्षोभाद्यनाहितविभ्रममिति । अत्र तिमिरमिति अक्षिपीड़ा । आशुभ्रमणमिति अलातचक्रादि । नौयानमिति नावा यानम् । संक्षोभ

[ध०] नैष दोषः; सत्यपि स्वलक्षणस्य वाच्यवाचकभावे संकेतकालदृष्टत्वेन गृह्यमाणं स्वलक्षणं वाच्यं वाचकं च गृहीतं स्यात् । न च संकेतकालभावि दर्शनविषयत्वं वस्तुनः सम्प्रत्यस्ति । यथा हि—संकेतकालभावि दर्शनमद्य निरुद्धम्, तद्वत् तद्विषयत्वमपि अर्थस्याद्य नास्ति । ततः पूर्वकालदृष्टत्व-मपश्यच्छ्रोत्रज्ञानं न वाच्यवाचकभावग्राहि ।

अनेनैव न्यायेन योगिज्ञानमपि सकलशब्दार्थावभासित्वेऽपि संकेतकाल-दृष्टत्वाग्रहणान्निर्विकल्पकम् ॥ ५ ॥

तयेति । तया कल्पनया कल्पनास्वभावेन **रहितं** शून्यं सज्ज्ञानं यदभ्रान्तं तत् प्रत्यक्षम् इति परेण सम्बन्धः । कल्पनापोढत्वाभ्रान्तत्वे परस्परसापेक्षे

[टि०]मिति । ततः शुद्धयोः श्रवणे सति शब्दविज्ञाने द्वयोरपि शब्दयोः प्रतिभासनाच्छोत्रे-न्द्रियज्ञानमनियतप्रतिभासित्वात् सविकल्पकं स्यादित्याकूतम् ।

सत्यपीत्यादि । एवं मन्यते—यद्यपि स्वलक्षणयोर्वाच्यवाचकत्वम्, तथापि श्रोत्रविज्ञाने न वाच्यवाचकतया तयोः प्रतिभासनम्, अपि तु शुद्धयोरेव प्रतिभासनम्; यस्मात् शब्दसन्निधिबलेन श्रोत्रविज्ञानमुत्पद्यते । न च सन्निहितयोः शब्दयोर्वाच्य-वाचकत्वमस्ति । यावत् संकेतकालभावि शब्दस्मरणं न भवति, तावत् कुतो वाच्यत्वं वाचकत्वं वा स्यात्, एतत्प्रत्यभिज्ञया स एवायं वाचको भविष्यतीत्याह—न च संकेतकालेत्यादि । विषयभेदात् तयोः पूर्वोत्तरयोर्भेदः । कश्च संकेतविषयः शब्दः ? यः संकेतकालभाविना ज्ञानेन विषयीकृतः । यश्च पूर्वं ज्ञानेन विषयीकृतः स इदानीं नास्ति; पूर्वज्ञानविनाशे पूर्वज्ञानविषयत्वस्याभावात् । अतः पूर्वकालविषयत्वम-पश्यत् सन्निहिते श्रोत्रबलेनोत्पद्यमानं निर्विकल्पकमेव ।

योगिज्ञानेन यद्येकस्मिन् काले मनोविज्ञानेन च युगपच्छब्दार्थौ गृह्येते, तथापि सन्निहितवस्तुतया तेन गृहीतव्याविति दर्शयति--योगिज्ञानमित्यादिना ॥ ५ ॥

ननु कल्पनाज्ञानमपि परया कल्पनया शून्यम्, ततश्च तस्यापि निर्विकल्पकत्वं प्राप्नोति ? इत्याशङ्क्याह—तथा कल्पनया कल्पनास्वभावेनेत्यादि । एवं

[न्या०] इति वातपित्तकफप्रकोपेण धातुखेदः। तिमिरं च आशुभ्रमणं च नौयानं च संक्षोभश्चेति ते आदयो येषां ते तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभादयः। आदिशब्देन नष्टदृष्टि-पीतदृष्टयादीनां संग्रहः। आहितो विभ्रमो यस्मिंस्तद् आहितविभ्रमम्, न आहितविभ्रममित्यनाहितविभ्रमम्। तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभैरनाहितविभ्रममिति तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभानाहितविभ्रमम्। तथा च तिमिररोगेण द्विचन्द्रदर्शनं भवति। नौयानगतया तीरतरुश्चलन् दृश्यते। वातपित्तादिकोपेन वस्तु ज्वलितादिकं दृश्यते।

[ध०] प्रत्यक्षलक्षणम्, न प्रत्येकम्--इति दर्शयितुं तया रहितं यदभ्रान्तं तत् प्रत्यक्षमिति लक्षणयोः परस्परसापेक्षयोः प्रत्यक्षविषयत्वं दर्शितमिति।

तिमिरम् अक्ष्णोर्विप्लवः। इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणम्। **आशुभ्रमणम्** अलातादेः। मन्दं हि भ्रम्यमाणेऽलातादौ न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यते। तदर्थम् आशुग्रहणेन विशेष्यते भ्रमणम्। एतच्च विषयगतं विभ्रमकारणम्। नावा गमनं नौयानम्। गच्छन्त्यां नावि स्थितस्य गच्छद्वृक्षादिभ्रान्तिरुत्पद्यते इति यौनग्रहणम्। एतच्च बाह्याश्रयस्थितं विभ्रमकारणम्। **संक्षोभो** वातपित्तश्लेष्मणाम्। वातादिषु हि क्षोभङ्गतेषु ज्वलितस्तम्भादिभ्रान्तिरुत्पद्यते। एतच्चाध्यात्मगतं विभ्रमकारणम्।

सर्वैरेव च विभ्रमकारणैरिन्द्रियविषयबाह्याध्यात्मिकाश्रयगतैरिन्द्रिय-

[टि०] मन्यते – धर्मिणा कल्पनाज्ञानेन धर्मोऽत्र कल्पनात्वं लक्ष्यते। यथा विषाणीत्यत्र विषाणित्वम्; ततश्च कल्पनात्वेन रहितं यज्ज्ञानं तन्निर्विकल्पकम्। न च कल्पनाज्ञानं कल्पनात्वरहितमित्यदोषः।

कल्पनापोढाभ्रान्तत्वयोर्लक्षणयोः परस्परं विशेषणविशेष्यत्वम्, न स्वातन्त्र्येण पृथग्लक्षणत्वमिति दर्शयितुमन्ते प्रत्यक्षशब्दं गृहीत्वा तयोरपि सम्बध्नाति-- तत्प्रत्यक्षमिति परेण सम्बन्ध इत्यनेन। इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणमिति। इन्द्रियस्य तिमिरेणाक्रान्तत्वात्। आशुभ्रमणमिति। 'मन्दं भ्रम्यमाणः' इति विशेषणस्य व्यावृत्तिः। विषयगतमिति। विषयस्यालातादेश्चक्राकारं प्रति निमित्तत्वात्। नौयानमिति। समुदायप्रश्नः। गच्छत्यां नावीत्यादिना। प्रयोजनं दर्शयति-- बाह्याश्रयस्थितमिति। बाह्या नौः सैवाश्रयस्तत्र स्थितस्याश्रयद्वारको विभ्रम उच्यते। संक्षोभो वातादीनां विकारापत्तिराध्यात्मिकविभ्रमकारणम्।

ननु चेन्द्रियगतमेव विभ्रमकारणम् प्रत्युच्यते; नान्यैरिन्द्रियगतैरिन्द्रियं विक्रियां गतम्? इत्याह—सर्वैरेवेत्यादि। तिमिरस्य साक्षादलातादेः पारम्पर्येणेति। एतच्च विनिश्चयटीकायां विस्तरेण प्रतिपादितमिति। संक्षोभपदेन सह द्वन्द्वं कृत्वा बहुव्रीहि-

७. तच्चतुर्विधम् ॥

[न्या०] ज्ञानं प्रत्यक्षमिति । सूत्रे ज्ञानं नोक्तम् । कथं तल्लभ्यते इति चेद् ? कल्पना ज्ञानेनैव प्रतिबद्धा, भ्रान्तिरपि ज्ञानधर्म इति दृष्टम् । तस्मात् कल्पनारहितमभ्रान्तं ज्ञानमेवेति । यथा 'अवत्सा गौरानीयताम्' इत्यनेन काचित् अश्वा नानीयते, धेनुरेवानीयते; तस्या एव वत्ससम्बन्धदर्शनात् । तथा अत्रापि भ्रान्तिकल्पनयोर्ज्ञानेनैव सम्बन्धो दृष्टः, नान्येनेति ज्ञानमेव प्रत्यक्षतयेष्यते ।। ६ ।।

तच्चतुर्विधमिति । प्रत्यक्षमिति यदुक्तं तत्—१. इन्द्रियजन्यम्, २. मानसम्, ३. आत्मसंवेदनम्, ४. योगिज्ञानं चेति चतुर्विधं ज्ञेयम् । प्रविभागोऽयं विप्रति-

[ध०] मेव विकर्तव्यम्; अविकृते इन्द्रिये इन्द्रियभ्रान्त्ययोगात् । एते संक्षोभपर्यन्ता आदयो येषां ते तथोक्ताः । आदिग्रहणेन काचकामलादय इन्द्रियस्था गृह्यन्ते, आशुनयनानयनादयो विषयस्थाः । आशुनयनायने हि कार्यमाणेऽलातेऽग्निवर्णदण्डाभासा भ्रान्तिर्भवति । हस्तियानादयो बाह्याश्रयस्थाः, गाढमर्मप्रहारादय आध्यात्मिकाश्रयस्था विभ्रमहेतवो गृह्यन्ते ।

तैरनाहितो विभ्रमो यस्मिंस्तत् तथाविधं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ॥ ६ ॥

तदेवं लक्षणमाख्याय यैरिन्द्रियमेव द्रष्टृ कल्पितम्, मानसप्रत्यक्ष-

[टि०] रिति दर्शयति । विनिश्चये तु संक्षोभशब्देन षष्ठीसमासं कृत्वादिशब्देन बहुव्रीहिसमासं दर्शयतः कोऽभिप्रायष्टीकाकृत इति । व्युत्पत्तिभेदकथनमेव, नार्थभेद इति । यदा संक्षोभशब्देन षष्ठीसमासस्तदाश्रयगतस्य विभ्रमकारणस्य उपलक्षणत्वाद् वातपित्तादेर्ग्रहणं भवतीति नार्थभेदः । अथ किमर्थमाशुभ्रमणग्रहणादेरुपादानम्, तिमिरादीत्येव क्रियताम्, आदिग्रहणेन सर्वेषां संग्रहो भविष्यति ? उच्यते; असत्याशुभ्रमणादिग्रहणे इन्द्रियगतमेवादिशब्देन काचकामलादि गृह्यत इत्याशंक्येत । तस्मादाशुभ्रमणादिरुपादीयते । तेषामुपादाने, यद्यादिग्रहणं न क्रियेत, तदा तेषां स्वरूपग्रहणमेव स्यात्, न प्रकारोपलक्षणमित्यादिग्रहणम् । तत उभयोपादाने सति तिमिरादीमुभयकार्त्स्न्यं लभ्यत इति स्थितम् । तत् तथाविधं ज्ञानमिति यद्यपि सूत्रे ज्ञानग्रहणं नास्ति, तथापि भ्रान्ते ज्ञानधर्मत्वाद् तद्व्युदासेन ज्ञानमेव प्रत्यक्षं गृह्यत इत्यदोषः । विनीतदेवव्याख्यायां भवति तु प्रत्यक्षसूत्रस्यार्थकथनं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति, तस्मात् स्थितं निर्विकल्पकं ज्ञानं प्रत्यक्षमभ्रान्तमिति ।। ६ ।।

यैरिन्द्रियमेव द्रष्टृ परिकल्पतमिति । वैभाषिकैः—'चक्षुः पश्यति रूपाणि' इति तैरिष्यते । मानसे च प्रत्यक्षे दोष उद्भावित इति । ''द्वाभ्यां, भिक्षवो, रूपं दृश्यते चक्षुर्विज्ञानेन तदाकृष्टेन मनोविज्ञानेन'' इति, तदागमसिद्धं मनो-

८. इन्द्रियजन्यम्[1] ॥ (१)

[न्या०] पत्तिनिरासार्थमुपदिश्यते। केषाञ्चित् इन्द्रियमेव दर्शनकर्तृ इष्टम्, तन्निरासार्थं प्रथमम्। इन्द्रियजन्यं ज्ञानं हि प्रत्यक्षम्, न त्विन्द्रियमिति। कैश्चित् मानसप्रत्यक्षे दोष उद्भावितः, तद्दोषपरिहारार्थं द्वितीयम्। केचित् चित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं नाङ्गीकुर्वन्ति तन्निरासार्थं तृतीयम्। केचिद् योगिप्रत्यक्षं नानुमन्यन्ते, तन्निरासार्थं चतुर्थं प्रत्यक्षमुक्तम् ॥ ७ ॥

इन्द्रियजन्यमिति। चक्षुरादीनि पञ्चेन्द्रियाण्येव इन्द्रियत्वेनेष्यन्ते। मनस्तु इन्द्रियं न; मानसप्रत्यक्षस्य पृथङ् निर्देशात्। तस्मात् चक्षुरादीन्द्रियेषु आश्रितं ज्ञानमेव इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षम् ॥ ८ ॥ (१)

[ध०] लक्षणे च दोष उद्भावितः, स्वसंवेदनं च नाभ्युपगतम्, योगिज्ञानं च; तेषां विप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं प्रत्यक्षस्य प्रकारभेदं दर्शयन्नाह--**तच्चतुर्विध**मिति ॥ ७ ॥

इन्द्रियज्ञानमिति। इन्द्रियस्य ज्ञानम् **इन्द्रियज्ञानम्**। इन्द्रियाश्रितं यत् ज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् ॥ ८ ॥ (१)

[टि०] विज्ञानमाचार्यदिङ्नागेन प्रत्यक्षं दर्शितम्। तत् परैः कुमारिलादिभिर्लक्षणमजानद्भिर्दूषितम्। तन्मनोज्ञानं यदीन्द्रियविज्ञानविषये प्रवर्तते तदा गृहीतग्राहितया प्रमाणम्; अथान्यविषये प्रवर्तते, व्यवहिते प्रत्यक्षं भवत् किं तन्मनोविज्ञानमिन्द्रियसव्यपेक्षं स्यात्? निरपेक्षं वा? इन्द्रियसव्यपेक्षत्वे सतीन्द्रियविज्ञानमेव, निरपेक्षत्वे वानिन्द्रिस्यापि मनोविज्ञानं प्रत्यक्षं स्यादित्यन्धबधिराद्यभावचोद्यं कृतम्।

स्वसंवेदनं च नाभ्युपगतमिति। मीमांसकैः परोक्षं विज्ञानमर्थापत्तिगम्यं प्रत्यक्षोऽर्थ इष्यते। नैयायिकादिभिस्तु ज्ञानान्तरगम्यं ज्ञानमिष्यते, न स्वसंवेदनं सिद्धम्; स्वात्मनि कारित्वविरोधात्। योगिज्ञानं च नाभ्युपगतमिति सम्बन्धः। मीमांसकादय एवमाहुः—योगिन एव न सन्ति सम्प्रति; प्रमाणाभावात्, किं पुनस्तेषां ज्ञानमिति ॥ ७ ॥

इन्द्रियाश्रितमिति। चक्षुरादीन्द्रियचतुष्टयं गृह्यते, न मनइन्द्रियम्; तस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षे प्रतिपाद्यमानत्वात्। "इन्द्रियाश्रितं विज्ञानं प्रत्यक्षम्" इति ब्रुवता वार्त्तिककृता 'न चक्षुः प्रमाणम्' इति कथितं भवति; यस्माज्ज्ञानस्यैवान्वयव्यतिरेकानुविधानाद् रूपादिदर्शने सामर्थ्यम्, न चक्षुषः। यत्तूक्तम्—"ज्ञानं चेत् पश्यति, व्यवहितमपि किं न पश्यति? अमूर्तस्यावाचकाभावात्" इति, तदयुक्तम्; यतो योग्यदेशेनैवार्थेन तज्ज्ञानं जन्यते, न व्यवहितेन; विज्ञानादर्शनात् ॥ ८ ॥ (१)

---

१. 'इन्द्रियज्ञानम्' इति धर्मोत्तरसम्मतः पाठः।

९. स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम् ॥ (२)

[न्या०] स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणा इन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्येन जनितं मनोविज्ञानमिति । तत्र स्वस्य विषय इति स्वविषयः। स्वकीयमालम्बनमिति शेषः। स्वविषयेणानन्तरः स्वविषयानन्तरः। द्वितीयक्षणभावी सरूपश्चानन्तरशब्देनोच्यते। स्वविषयानन्तरश्चासौ विषयश्चेति स्वविषयानन्तरविषयः, स सहकारी यस्य इन्द्रियज्ञानस्य तत् स्वविषयानन्तरविषयसहकारि इन्द्रियज्ञानम् । समनन्तरप्रत्ययभूतेन इन्द्रियज्ञानेन जनितं यत् तदेव मनोमात्राश्रयत्वान्मानसं प्रत्यक्षमिति ।

[ध०] मानसप्रत्यक्षे परैर्यो दोष उद्भावितः, तं निराकर्तुं मानसप्रत्यक्षलक्षणमाह—**स्वविषये**त्यादि । **स्व** आत्मीयो **विषय** इन्द्रियज्ञानस्य तस्य **अनन्तरः**। न विद्यतेऽन्तरमस्येति अनन्तरः। अनन्तरं च व्यवधानं विशेषश्चोच्यते। ततश्चान्तरे प्रतिषिद्धे समानजातीयो द्वितीयक्षणभाव्युपादेयक्षण इन्द्रियविज्ञानविषयस्य गृह्यते। तथा च सतीन्द्रियज्ञानविषयक्षणादुत्तरक्षण एकसन्तानान्तर्भूतो गृहीतः। स सहकारी यस्य इन्द्रियज्ञानस्य तत्तथोक्तम् ।

द्विविधश्च सहकारी--परस्परोपकारी, एककार्यकारी च । इह च क्षणिके वस्तुनि अतिशयाधानायोगादेककार्यकारित्वेन सहकारी गृह्यते।

विषयविज्ञानाभ्यां हि मनोविज्ञानमेकं क्रियते यतः, तदनयोः परस्परसहकारित्वम् ।

[टि०] स्वशब्दस्य विवरणम्—आत्मीय इति । इन्द्रियविज्ञानस्यात्मीयो विषयक्षणः। तस्यानन्तर इत्यस्य विवरणम्—न विद्यत इत्यादि । अन्तरशब्दस्य विवरणं व्यवधानमित्यादि । समानजातीय उपादेयक्षण इन्द्रियविज्ञानविषयस्याव्यवहितः समानजातीयक्षण उच्यते। स चोपादेयक्षणो विषयः। विषयग्रहणेनालोकस्यान्तरस्य निरासः। स तथाभूतः सहकारी यस्येति सम्बन्धः।

ननु च कथं विषयक्षणस्य सहकारित्वम्, एकस्मिन् क्षणे उपकार्योपकारकभावाभावात् ? इत्याह—द्विविधश्चेत्यादि । एवं मन्यते—नात्रोपकारकत्वात् सहकारित्वम्, अपि तु एककार्यकारित्वादिति । तदेव दर्शयति—विषयेत्यादिना। ईदृशेनेति । स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन । आलम्बनप्रत्ययभूतेनेति । यदा योगिज्ञानं परस्यैवंविधज्ञानमालम्बते, तदालम्बनभूतेन योगिज्ञानं जन्यत इति । समश्चासाविति। अनन्तरक्षणस्यापि ज्ञानत्वात् । समनन्तर इति च भवति "शकन्ध्वादिषु" (पा० सू० वा० ६. १. ९४) पाठात् पररूपत्वम्, यतः स चेति

[न्या०] इह स्वविषयानन्तरविषय इति कथनं गृहीतग्रहणादवबोधकं न भवतीति दोषम्, तथा असमानजातीयविषयग्रहणदोषं च परिहर्तुं बोध्यम्। तथा हि मानस-प्रत्यक्षमिन्द्रियविज्ञानविषयानन्तरद्वितीयक्षणोत्पत्तिकं यत् तद्विषयकमिष्टम्। तस्मात् कुतो गृहीतग्रहणम्!

[ध०] ईदृशेनेन्द्रियविज्ञानेन आलम्बनभूतेनापि योगिज्ञानं जन्यते, तन्निरासार्थं **समनन्तरप्रत्यय**ग्रहणं कृतम्। समश्चासौ ज्ञानत्वेन, अनन्तरश्चासौ अव्यव-हितत्वेन, स चासौ **प्रत्ययश्च** हेतुत्वात् समनन्तरप्रत्ययः, तेन **जनितम्**।

तदनेनैकसन्तानान्तर्भूतयोरेव इन्द्रियज्ञान-मनोविज्ञानयोर्जन्यजनकभावे मनोविज्ञानं प्रत्यक्षमिति उक्तं भवति। ततो योगिज्ञानं परसन्तानवर्ति निरस्तम्।

यदा चेन्द्रियज्ञानविषयादन्यो विषयो मनोविज्ञानस्य, तदा गृहीतग्रहणा-दासञ्जितोऽप्रामाण्यदोषो निरस्तः।

[टि०] समनन्तरः। हेतुत्वादिति। प्रत्ययार्थकथनमेतत्। तेन जनितमित्यादिनैतत् कथ-यति—इन्द्रियविज्ञानेन स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणोपादानभूतेन यज्जनितं तदेव मनोविज्ञानं प्रत्यक्षम्। न आलम्बनभूतेन जनितमित्यर्थः।

यदा चेत्यादिना द्वयोरेकं विषयं गृहीत्वा यच्चोदितं परेण तत् परिहृतम्। पूर्वक्षणे इन्द्रियविज्ञानस्य विषयो द्वितीयक्षणे मनोविज्ञानस्य विषय इत्यगृहीतग्राहि मनोविज्ञानम्।

यदा चेत्यादिना यच्चोद्यं कृतम्—'यदि मनोविज्ञानमिन्द्रियसव्यपेक्षम्, न स्यान्मनोविज्ञानस्येन्द्रियविज्ञानविषयादन्यो विषयः, तदान्धबधिराद्यभावः। व्यव-हितस्य नीलादेर्ग्रहणं भवतु' इति, तत् परिहृतम्। यस्मादिन्द्रियविज्ञानविषयस्य द्वितीयोपादेयभूतविषयक्षणो गृहीतो मनोविज्ञानविषयः, तस्माद् व्यवहितक्षणो विषयो न भवत्यस्यान्धबधिरादेश्चातीन्द्रियविज्ञानम्। विज्ञानविषयानन्तरविषयसहकारि विद्यते। तेन तेषां न मनोविज्ञानं भवतीति परिहृतम्।

स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेत्युच्यमाने शब्दविषयं मानसं न प्राप्नोति; श्रोत्रविज्ञानविषयाच्छब्दादपरस्योपादेयक्षणस्यानुत्पत्तेः, शब्दस्योच्छेदित्वात्। अपरस्य शब्दस्य शब्दादनुत्पत्तेरित्यवश्यं मानसं प्रत्यक्षशब्दविषयमेष्टव्यम्, अन्यथा 'पञ्च बाह्या विज्ञेयाः' इत्यस्य व्याघातः स्यात्। स्वविषयानन्तरविषयशब्देन श्रोत्रविज्ञानविषयानन्तरयोग्यविषयो गृह्यते, नोपादेयक्षण एव; तेन विज्ञानविषय-देशेऽपरशब्दो यदोत्पद्यते तदा मानसं प्रत्यक्षं स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणा जनितं भवतीत्यदोषः।

[न्या०] अनन्तरशब्दश्च समानजातीयपरः तेन; असमानजातीयविषयग्रहणप्रसङ्गो वा। कुतः ? इन्द्रियविज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितमित्युक्तेरन्धबधिराद्यभाव-

[ध०] यदा चेन्द्रियविज्ञानविषयोपादेयभूतः क्षणो गृहीतः, तदा इन्द्रियज्ञानेनागृहीतस्य विषयान्तरस्य ग्रहणादन्धबधिराद्यभावदोषप्रसङ्गो निरस्तः।

एतच्च मनोविज्ञानमुपरतव्यापारे चक्षुषि प्रत्यक्षमिष्यते। व्यापारवति तु चक्षुषि यद् रूपज्ञानं तत् सर्वं चक्षुराश्रितमेव; इतरथा चक्षुराश्रितत्वानुपपत्तिः कस्यचिदपि विज्ञानस्य।

एतच्च सिद्धान्तप्रसिद्धं मानसं प्रत्यक्षम्, न त्वस्य प्रसाधकमस्ति प्रमाणम्। एवञ्जातीयकं तद् यदि स्यात्, न कश्चिद् दोषः स्याद्—इति वक्तुं लक्षणमाख्यातमस्येति ॥ ९ ॥

[वि०] एतच्चेत्यादिना मनोविज्ञानस्योत्पत्तिविषयं दर्शयति। उपरते चक्षुषीति। यदा चक्षुर्विषयमालोच्योपरतं भवति तदालोचनाविषये चक्षुर्विज्ञानमुत्पन्नं सत् पुनर्द्वितीये क्षण आत्मीयविषयानन्तरविषये नोत्पद्यते; इन्द्रियाणां तत्र व्यापाराभावात्। ततश्च तेनेन्द्रियविज्ञानेन स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणा प्रत्यक्षमुत्पद्यते इति स्थितम्। नन्वेकस्मिन् क्षणे तस्योत्पादके सति न तत्र काचिदर्थक्रियाऽवाप्यते—इति पुरुषार्थानुपयोगित्वात् प्रामाण्यं प्राप्नोति ? उच्यते; न मानसप्रत्यक्षेणास्मद्विधानामर्थक्रियावाप्तिर्भवति, अपि तु योगिनो वीतरागादेः। ते च तस्मिन् क्षणे मानसे चोपदर्शितं विषयं प्रतिपद्य धर्मदेशनादिकामर्थक्रियामासादयन्तीत्यनवद्यम्।

अथ व्यापारवति चक्षुषि किमिति मानसोत्पत्तिर्लुप्यते ? इत्याह—व्यापारवतीत्यादि। सर्वेन्द्रियाश्रितं ज्ञानं चक्षुर्विज्ञानमेव, न मानसस्योत्पत्तिरस्तीत्यभिप्रायः। ननु व्यापारवति चक्षुषि प्रथमे क्षण इन्द्रियविज्ञानं भवति, द्वितीये क्षणे मानसं भवति, यद्यपि समानजातीययोर्युगपदुत्पत्तिर्नास्ति ? इत्याह—इतरथेत्यादि। एवं मन्यते—व्यापारवति चक्षुषि किमितीन्द्रियविज्ञानं नोत्पद्यते, द्वितीये क्षणे योग्यकरणे सति समानरूपम्, तेन तयोः कथमिन्द्रियविज्ञानव्यपदेशो न स्यादिति। ननु च यदि मानसं प्रत्यक्षमिन्द्रियविज्ञानाद् भिन्नं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं भवेत्, तदा तस्य लक्षणं यावता प्रमाणसिद्धमेव नास्ति ? इत्याह—एतच्चेत्यादि। एवञ्जातीयकमिति। इन्द्रियविज्ञानसदृशम्। तदेतद् धर्मोत्तरेणागमसिद्धं दर्शयतामाचार्यज्ञानगर्भप्रभृतीनां मानससिद्धये यत् प्रमाणमुपन्यस्तम् 'विकल्पोदयात्' इति, तद् भङ्ग्याऽवधारणादेव दूषितम्।

तैरेवं व्याख्यातम्—"व्यापारवति चक्षुषि इन्द्रियज्ञानमुत्पद्यते, मानसं च, न शक्यते

१०. सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम् ।। (३)

[न्या०] प्रसङ्गदोषो निरस्तः । अन्धबधिरयोर्मनोविज्ञाने समनन्तरप्रत्यय इन्द्रियविज्ञानं नास्ति । तेन यदाहुः केचित्—"मनोविज्ञानेन बाह्यविषयप्रत्यक्षमङ्गीक्रियते, एवमन्धबधिराद्यभावप्रसङ्गः" इति, तद्वचनमपास्तं वेदितव्यम् ।। ९ ।।

सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनमिति । सर्वे च ते चित्तचैत्ताश्चेति सर्वचित्तचैत्ताः ।

[ध०] स्वसंवेदनमाख्यातुमाह—सर्वचित्तेत्यादि । चित्तम् अर्थमात्रग्राहि । चैत्ता विशेषावस्थाग्राहिणः सुखादयः । सर्वे च ते चित्तचैत्ताश्च सर्वचित्त-

[टि०] वक्तुम्-द्वयोर्युगपदुत्पत्तिर्नास्तीति; यतः समानेन्द्रिययोर्नास्ति, न भिन्नेन्द्रिययोः, 'षण्णां युगपदुत्पत्तिः' इति वचनात् । ततश्च द्वयोर्भिन्नेन्द्रिययोर्युगपदुत्पत्तिः । न च तत्र भेदेनानुपलभ्यमानं मानसं नास्तीति शक्यते वक्तुम्; समानजातीयनीलविकल्पोदयात् । यदि च तत्र मानसं स्यात्, तत्पृष्ठभावी नीलविकल्पो न स्यादेव । समानाद्धि मानसात्मनो विकल्पस्योत्पत्तिर्भवति, न विजातीयादिन्द्रियविज्ञानादिति । यथा—देवदत्तेन नीले गृहीते न यज्ञदत्तस्य नीलनिश्चयो भवति, तथेन्द्रियविज्ञानमनोविज्ञानसन्तानयोर्भिन्नत्वात् । न तथा मानसमनोविकल्पसन्तानयोर्भिन्नसन्तानत्वम्; द्वयोरप्यनिन्द्रियत्वात्, मनोव्यपदेशाच्च" इति ।

अत्रोच्यते—यदुक्तं तावत् 'समानजातीयविकल्पोदयात्' इति, तत्सिद्धौ यत् साधनं तदनैकान्तिकम्; विजातीयादप्युत्पत्तिदर्शनादन्वयव्यतिरेकाभ्याम् । न च व्यापारवति चक्षुषि मानसस्योत्पत्तिरस्ति । न च द्वयोर्नीलविज्ञानयोरुत्पत्तिर्निर्विकल्पकयोर्दृश्यते, अनुपलभ्यमानत्वात् तयोः । तेनेन्द्रियविज्ञानादेव विजातीयाद् विकल्पकस्योत्पत्तेर्न विकल्पस्योदयादिति मानससिद्धौ हेतुः । न च देवदत्तयज्ञदत्तयोरिव भिन्नसन्तानवर्तित्वं सविकल्पकनिर्विकल्पकयोः, येन भिन्नसन्तानान्निर्विकल्पकादुत्पत्तिर्न स्याद्, एकसन्तानपातित्वात् तयोः । अवश्यं चाङ्गीकर्तव्या विकल्पस्योत्पत्तिः, येन वार्त्तिककार एवमाह—

"तद् दृष्टावेव दृष्टेषु संवित् सामर्थ्यभाविनः ।
स्वव्यापारत्वकरणात् स्मरणात् ॥" ( ) इत्यादि ।

संविच्छब्देन इन्द्रियविज्ञानमेवोच्यते, न मानसम् । ततश्च तत्सामर्थ्यभावि कथं विकल्पविज्ञानं स्मरणम् ? विजातीयत्वात् । न च तत्र मानसं संविदुच्यते इन्द्रियविज्ञानस्य व्यवहारेण, प्रामाण्यस्य चिन्त्यत्वात्; किञ्च इन्द्रियविज्ञानस्य कथं प्रामाण्यम्, यदि स्वव्यापारं करोति ? स्वव्यापारस्तु स्वविषये विकल्पजनकत्वं नाम, ततश्च विजातीयादपि विकल्पस्योदयादिति यत् किञ्चिदेतत् ।। ९ ।।

ननु चित्तचैत्ता इति वक्तव्ये सर्वग्रहणस्य व्यावर्त्याभावादपार्थकं तद्ग्रहणम् ?

[न्या०] सर्वेत्युक्त्या भ्रमज्ञानान्यपि परिगृह्यन्ते। तेषां च यत् स्वरूपप्रकाशनं तदात्मसंवेदनम्।

सर्वे हि चित्तचैत्ताः प्रतीतिस्वभावत्वात् स्वरूपज्ञापका भवन्ति। यथा प्रदीपः प्रकाशस्वभावत्वाद् आत्मनोऽपि प्रकाशको भवति, स्वरूपप्रकाशे च प्रदीपान्तरं नापेक्षते;

[ध०] चैत्ताः। सुखादय एव स्फुटानुभवत्वात् स्वसंविदिताः, नान्या चित्तावस्था—इत्येतदाशङ्कानिवृत्त्यर्थं सर्वग्रहणं कृतम्। नास्ति सा काचित् चित्तावस्था, यस्यामात्मनः संवेदनं न प्रत्यक्षं स्यात्।

येन हि रूपेणात्मा वेद्यते तद्रूपमात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्।

इह च रूपादौ वस्तुनि दृश्यमाने आन्तरः सुखाद्याकारस्तुल्यकालं संवेद्यते। न च गृह्यमाणाकारो नीलादिः सातरूपो वेद्यते—इति वक्तुं शक्यम्; यतो नीलादिः सातरूपेणानुभूयते - इति न निश्चीयते।

यदि हि 'सातरूपोऽयं नीलादिरनुभूयते' इति निश्चीयेत, स्यात् तदा तस्य सातादिरूपत्वम्। यस्मिन् रूपे प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वव्यापारो विकल्पेनानुगम्यते तत् प्रत्यक्षम्।

[टि०] इत्याह-सुखादय एवेत्यादि। न केवलं प्रसिद्धाः सुखादयश्चित्तचैत्ताः स्वसंवेदना गृह्यन्ते; अन्येऽपि स्वसंवेदना इति तात्पर्यम्। अमुमेवार्थं दर्शयति-नास्तीत्यादिना। शुद्धस्य चित्तावस्थारूपस्यासंवेदितस्याभावमाहेति भावः। एवं ब्रुवता टीकाकृतानेन निरोधसमापत्त्यवस्थायां शुद्धचित्ताभाव एवेत्यभिप्रायः प्रदर्शितः। तस्यामवस्थायां न काचित् चित्तावस्था संवेद्यते यतः।

ननु चित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं नास्ति, स्वात्मनि कारित्वविरोधादित्युक्तम् ? इत्याह—येन हीत्यादि। यस्मादनेन बोधस्वरूपेणात्मस्वरूपं वेद्यते, तत् प्रत्यक्षमात्मसंवेदनमुच्यते। एवं मन्यते—यथा प्रदीपः प्रकाशतया स्वरूपं निवेदयन्नात्मप्रकाशने न प्रदीपान्तरमपेक्षते, तथा चित्तादिकमपि संविद्रूपतया स्वरूपं निवेदयदात्मसंवेदने न ज्ञानान्तरमपेक्षते। न च स्वात्मनि कारित्वविरोधः, यतो वास्तवकारकत्वाभावः। अत्रापि कल्पनया प्रकाश्यप्रकाशकत्वेन कर्मकर्तृभावः। तत्रापि नीलाकारोत्पत्तिरेव प्रकाशकत्वं ज्ञानस्य प्रदीपस्यापि प्राग्भावित्वमेव। प्रकाशकत्वं कल्पनापरो व्यापारः। बोधस्य तु बोधरूपतयोत्पत्तिरेव स्वप्रकाशकत्वम्। ततश्च विज्ञानं बोधरूपतया प्रत्यक्षेणानुभूयमानं कथमपह्नूयते भवता परोक्षं विज्ञानमिति। एवं तावत् मीमांसकादीन् प्रति विज्ञानं संवेदनप्रत्यक्षं निर्दिष्टम्।

यस्तु सांख्योऽपि "बाह्यरूपाः सुखादयः" इति मन्यते, तं प्रत्याह—इह च

११. भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति ॥ (४)

[न्या०] तथा चित्तचैत्ता अपि स्वरूपाववोधे ज्ञानान्तरं नापेक्षन्ते । ततश्च स्वसिद्धभावाः स्वयं प्रत्यक्षप्रमाणं भवन्ति ॥ १० ॥

भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानमिति । भूतः=अविपरीतः अर्थ इति भूतार्थः । यथा चत्वारि आर्यसत्यानि । तस्य भावना भूतार्थभावना । भावना इति

[ध०] न च नीलस्य सातरूपत्वमनुगम्यते । तस्मादसातान्नीलादर्थादन्यदेव सातमनुभूयते नीलानुभवकाले । तच्च ज्ञानमेव । ततोऽस्ति ज्ञानानुभवः ।

तच्च ज्ञानरूपवेदनमात्मनः साक्षात्कारि निर्विकल्पकम्, अभ्रान्तं च । ततः प्रत्यक्षम् ॥ १० ॥

योगिप्रत्क्षं व्याख्यातुकाम आह--**भूतार्थे**त्यादि । भूतः सद्भूतोऽर्थः । प्रमाणेन दृष्टश्च सद्भूतः । यथा—चत्वार्यार्यसत्यानि ।

भूतस्य **भावना** पुनः पुनश्चेतसि विनिवेशनम् । भावनाया प्रकर्षः भाव्यमानार्थाभासस्य ज्ञानस्य स्फुटाभत्वारम्भः । प्रकर्षस्य पर्यन्तो यदा स्फुटाभत्वमीषदसम्पूर्णं भवति । यावद्धि स्फुटाभत्वमपरिपूर्णं तावत् तस्य प्रकर्षगमनम् ।

[टि०] रूपादौ **दृश्यमान** इत्यादि । एवं मन्यते—नीलरूपात् सातादिकमन्तरं संवेदनं प्रत्यक्षेणानुभूयमानं न बाह्येनाभिन्नरूपं जडरूपं च शक्यते वक्तुमिति ।

अमुमेवार्थं **न च गृह्यमाणाकार** इत्यादिना दर्शयति ।

साक्षात्कारित्वव्यापार इति । प्रत्यक्षस्य व्यापारः । विकल्पः तत्पृष्ठभावी ।

न च नीलस्य सातरूपत्वमनुगम्यत इति । तत्पृष्ठभाविना विकल्पेन सातरूपो नीलादिनानुगम्यत इत्यर्थः । तेन 'नीलादिः सातस्वभावो न प्रत्यक्षसिद्धः' इति साङ्ख्यं निराकुर्वता ग्राह्यग्राहकं सातादिरूपं भिन्नं प्रत्यक्षं प्रदर्शितम् । तेन युक्तमुक्तं कैश्चित्—'ग्राह्याद् भिन्नं ग्राहकं न प्रत्यक्षेणानुभूयते' इति । तेन किञ्चिन्नाम नापह्नुतं भवतीत्युक्तम् । तस्मात् सर्वाण्येतानि चित्तचैत्तानि स्वसंवेदनप्रत्यक्षाणीति ।

तेषां लक्षणं योजयति—**तच्चे**त्यादिना । तत्प्रत्यक्षं स्वसंवेदनरूपं निर्विकल्पकम्; तत्र शब्दादियोजनाभावात् । कुतः ? शब्देन संकेताभावात् । अभ्रान्तं च तद्विज्ञानं स्वरूपेऽविपर्यस्तत्वात्, बाधकाभावाच्चेति ॥ १० ॥

भाव्यमानार्थाभासस्येति । क्षणिकत्वादिग्राहिणः । स्फुटाभत्वारम्भ इत्यादचतिशयस्योपक्रमात् ततः परेणातिशयाभावाद् ज्ञानस्य । ततश्च क्षणिकत्वादिग्राहि मनोविज्ञानं भाव्यमानमीषदसम्पूर्णमन्तःक्षणः प्रकर्षपर्यन्त उच्यते । तदेव दर्शयति

[न्या०] अभ्यासः। तस्याः प्रकर्षो भूतार्थभावनाप्रकर्षः। स्मृत्युपस्थानोष्मगतमूर्धक्षान्तयः। तस्य पर्यन्तो भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तः। पर्यन्तस्तु अग्रधर्माः। तस्माज्जायत इति भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजम्। योगः=समाधिः, स येषामस्ति ते योगिनः। तेषां ज्ञानं योगिज्ञानम्।

तथा हि समाधिबलप्रभवं भूत-भावि-वर्तमानानां यथायथं प्रकाशकं ज्योतिः अविभ्रममाविर्भवति। यथा देवाद्यधिष्ठानप्रभावेण सत्यानि स्वप्नज्ञानानि भूत-भावि-

[ध०]सम्पूर्णं तु यदा, तदा नास्ति प्रकर्षगतिः। ततः सम्पूर्णावस्थायाः प्राक्तनी अवस्था स्फुटाभत्वप्रकर्षपर्यन्त उच्यते। तस्मात् पर्यन्तात् यज्जातं भाव्यमानस्यार्थस्य सन्निहितस्येव स्फुटतराकारग्राहि ज्ञानं योगिनः प्रत्यक्षम्।

तदिह स्फुटाभत्वारम्भावस्था भावनाप्रकर्षः। अभ्रकव्यवहितमिव यदा भाव्यमानं वस्तु पश्यति सा प्रकर्षपर्यन्तावस्था। करतलामलकवत् भाव्यमानस्यार्थस्य यद् दर्शनं तद् योगिनः प्रत्यक्षम्। तद्धि स्फुटाभम्।

[टि०]—यदा स्फुटाभत्वमित्यादिना। तदिह स्फुटाभत्वारम्भेत्यादिना उपसंहारव्याजेन योगिनो मनोविज्ञानस्यावस्थात्रयं दर्शयति—भावनाप्रकर्षावस्थैका, प्रकर्षपर्यन्तावस्था द्वितीया, भाव्यमानस्य करतलामलकवद् दर्शनं योगिनस्तृतीयावस्थेति।

तदिह स्फुटाभमित्यादिना योगिनो मनोविज्ञानमपि स्फुटाभत्वादेवेन्द्रियविज्ञानवन्निर्विकल्पकं दर्शयति।

"निर्विकल्पानुबद्धस्य स्पष्टार्थः प्रतिभासते।"

इति न्यायाद् यद्यपि मनोविज्ञानेन भावनाप्रकर्षपर्यन्तेन शब्दार्थौ युगपद् गृह्येते; तथापि द्वयोः स्वरूपस्य सन्निहिततया गृह्यमाणत्वात् तद्ग्राहि विज्ञानं निर्विकल्पकमिति।

ननु च मनोविज्ञानं भाव्यमानं वाच्यवाचकसंसृष्टं प्रतिभासते यथा, तथैव भाव्यमानं प्रकर्षपर्यन्तजं मनोविज्ञानं वाच्यवाचकप्रतिभासि स्फुटाभं भवति। तदा स्फुटाभत्वान्निर्विकल्पकोऽयमित्यनैकान्तिको हेतुरिति यच्चोदितं परेण, तत् परिहर्तुमुपक्रमते—विकल्पविज्ञानं हीत्यादिना। एवं मन्यते—यद्यपि मनोविज्ञानं वाच्यवाचकसंसृष्टिप्रतिभासि, तथापि स्फुटाभत्वावस्थायां तदलीकाकारं वाच्यवाचकरूपमपैति। वित्तिरूपं तु तस्य निजम्। अतस्तदेव चिद्रूपं ज्ञानं स्फुटं भवति, न वाच्यवाचकाकारतया; तयोरारोपितरूपत्वात्। आरोपितरूपग्रहणस्फुटत्वमेव न स्यादिति नानैकान्तिकत्वं हेतोः; स्फुटाभत्वादित्यस्य। यदा तु विकल्पविज्ञानं शब्दसंसर्गयोग्यवस्तु गृह्णाति, तदा संकेतकालदृष्टत्वेन तद्वस्तु गृह्णाति। तदसन्निहितम्; तदा

[न्या०] विविधवस्तुविषयाणि अविभ्रमाण्युत्पद्यन्ते, तथैव योगबलेन ध्येयानां ज्ञानमतीतानागत-दूर-सान्तर-अणुभूतविषयाणां प्रकाशकं ज्योतीरूपमुत्पद्यते। तस्मात् प्रत्यक्षप्रमाणत्वमिष्यते।

अत्र प्रयोगः—योगीश्वराणामेकाग्रचित्तानां ज्ञानं भूत-भावि-वस्तुविषयकं प्रमाणम्; अमेयभूत-भाविवस्तुजातस्य अभ्रान्तोपदर्शनहेतुत्वाद्, भूतग्रहविशेषाविष्टज्ञानवत्। यन्न प्रामाणिकं तन्न अमेयभूतभावि-वस्तुजातस्याभ्रान्तोपदर्शनहेतु, यथा—उन्मत्तज्ञानम्। अप्रापकस्यापि अमेय-भूत-भाविवस्तुजातस्य अभ्रान्तोपदर्शनहेतवेऽयोग्यमपकारकमपि प्रमाणं स्यात्। दम्भमात्रेणामेयस्य पदार्थस्य अभ्रान्तोपदर्शनं हि न सम्भवति।

तस्य व्याख्यानम्—यथा ग्रहविशेषावेशे भूत-भाविवस्तुसमूहानुशासनम्, तथा योगिष्वपि भूतभावि-वस्तु अनुशासनमभ्रान्तमुपलभ्यते। यथा हरीतक्यादि भाविरोगनिराकरणसमर्थमिति चरकादिमुनीनामभ्रान्तमनुशासनमुपलभ्यते। यथा वा भगवतः शाक्यमुनेरुपदेशे भाविदेशनिमित्त-सत्योपलब्धि-मातृचेट-कालक्षय-राजाशोकादि-आशावनकश्मीरादेशागमा अविपरीता उपलभ्यन्ते ॥ ११ ॥

[ध०] स्फुटाभत्वादेव च निर्विकल्पकम्। विकल्पविज्ञानं हि संकेतकालदृष्टत्वेन वस्तु गृह्णत् शब्दसंसर्गयोग्यं गृह्णीयात्। संकेतकालदृष्टत्वं च संकेतकालोत्पन्नज्ञानविषयत्वम्। यथा च पूर्वोत्पन्नं विनष्टं ज्ञानं सम्प्रति असत्, तद्वत् पूर्वविनष्टज्ञानमपि सम्प्रति नास्ति वस्तुनः। तदसद्रूपं वस्तुनो गृह्णद् असन्निहितार्थग्राहित्वाद् अस्फुटाभं विकल्पकम्। ततः स्फुटाभत्वान्निर्विकल्पकम्।

प्रमाणशुद्धार्थग्राहित्वाच्च संवादकम्। अतः प्रत्यक्षम्, इतरप्रत्यक्षवत्।

योगः=समाधिः, स यस्यास्तीति **योगी**, तस्य **ज्ञानं** प्रत्यक्षम्। **इति**-शब्दः परिसमाप्तिवचनः। इयदेव प्रत्यक्षमिति ॥ ११ ॥

[टि०] तस्य संकेताभावात्। तच्च पूर्वदृष्टं पूर्वविज्ञानस्य विषयः। तच्च पूर्वविज्ञानं सम्प्रति शब्दसंसर्गयोग्यवस्तुग्रहणकाले नास्ति, क्षणिकत्वाज्ज्ञानस्य। तद्वत् पूर्वविज्ञानविषयत्वमपि सम्प्रति नास्ति, विषयिणो ज्ञानस्याभावे विषयस्याप्यर्थस्य संकेतकालभाविनोऽभाव इत्यसन्निहितं संकेतकालभावि तद् वस्त्वारोप्य गृह्णद् विकल्पविज्ञानमस्फुटं भवतीति। स्फुटत्वं ततो निवृत्तं निर्विकल्पेऽवतिष्ठते इति व्याप्तिः सिध्यति। ततः स्फुटत्वान्निर्विकल्पकं योगिज्ञानमभ्रान्तं च प्रमाणेन शुद्धार्थग्राहित्वात् संवादकम्।

इयदेवेति। इन्द्रियविज्ञानादारभ्य योगिज्ञानपर्यन्तं नैकमेवेन्द्रियप्रत्यक्षमित्यर्थः। नाप्यधिकम्; अधिकस्यानुपलम्भात् ॥ ११ ॥

१२. तस्य विषयः स्वलक्षणम् ॥

[न्या०] विषयविप्रतिपत्तिनिरासार्थमाह–तस्य विषयः स्वलक्षणमिति । प्रत्यक्षं प्रमाणं यदुक्तम्—'तस्य विषयः स्वलक्षणमेव' इति द्रष्टव्यम्, न तु सामान्यलक्षणम्; सामान्यस्यावस्तुत्वात्, प्रत्यक्षेण च वस्तुस्वरूपोपलम्भात् ॥ १२ ॥

[ध०] तदेवं प्रत्यक्षस्य कल्पनापोढत्वाभ्रान्तत्वयुक्तस्य प्रकारभेदं प्रतिपाद्य विषयविप्रतिपत्तिं निराकर्तुकाम आह—तस्येत्यादि ।

तस्य चतुर्विधस्य प्रत्यक्षस्य विषयो बोद्धव्यः स्वलक्षणम् । स्वम् = असाधारणं लक्षणं तत्त्वं स्वलक्षणम् । वस्तुनो ह्यसाधारणं च तत्त्वमस्ति सामान्यं च । तत्र यदसाधारणं तत् प्रत्यक्षस्य ग्राह्यम् ।

द्विविधो हि विषयः प्रमाणस्य—ग्राह्यश्च यदाकारमुत्पद्यते, प्रापणीयश्च यमध्यवस्यति । अन्यो हि ग्राह्यः, अन्यश्चाध्यवसेयः । प्रत्यक्षस्य हि क्षण एको ग्राह्यः । अध्यवसेयस्तु प्रत्यक्षबलोत्पन्नेन निश्चयेन सन्तान एव । सन्तान एव च प्रत्यक्षस्य प्रापणीयः; क्षणस्य प्रापयितुमशक्यत्वात् ।

तथानुमानमपि स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तेरनर्थग्राहि ।

[टि०]प्रकारभेदमिति । प्रत्यक्षं सामान्यं निर्विकल्पकमभ्रान्तम् । तस्य प्रकारभेद इन्द्रियज्ञानादिः । तं प्रतिपाद्येत्यर्थः । विषयविप्रतिपत्तिमिति । इह कैश्चिन्मीमांसकादिभिः प्रत्यक्षस्य सामान्यविशेषौ द्वावपि विषयकल्पितौ । अनुमानस्य सामान्यमेव विषयः, न विशेषः । साङ्ख्येन द्वयोरपि विशेषो विषय इष्टः; सामान्यस्याभावात् । वेदान्तवादिना च सामान्यमेव विषयो द्वयोः, आत्माद्वैततया सर्वस्यैकत्वाद् विशेषे भ्रान्तत्वाद् द्वयोरिति विप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षादिविषये ।

स्वलक्षणमिति । अनेनेष्टं विषयं दर्शयति । तत्त्वमिति । अर्थक्रियाकारि । अनेन लक्षणशब्दो विवृतः । लक्ष्यते दाहाद्यर्थक्रिया येन तल्लक्षणम् । एतद् दर्शयति—असाधारणमेव तत्त्वं वस्तुनो रूपम् । साधारणं तु तत्त्वमारोपितं रूपम्; पूर्वापरक्षणानामभेदाध्यवसायात् । अतो वस्तुनो रूपद्वयम्—असाधारणं, सामान्यं च । तत्रासाधारणतत्त्वं प्रत्यक्षस्य ग्राह्यविषय इति दर्शयति—यदसाधारणमित्यादिना । ननु किमुच्यते ग्राह्यविषय इति, यावता किमन्यो विषयोऽस्ति प्रत्यक्षस्य ? अस्तीत्याह—द्विविध इत्यादि । यमध्यवस्यतीति । यं सन्तानरूपेण स्थितमर्थं तत् पृष्ठभाविना विकल्पेन निश्चिनोति । ननु च कथं प्रत्यक्षस्य सन्तानो विषयः, यतो विकल्पस्यासौ विषयः ? उच्यते; उपचारात् । प्रत्यक्षव्यापारेण विकल्पेनाध्यवसेयतया विषयीकृतत्वात् प्रत्यक्षविषय इत्युच्यते उपचारादित्यदोषः । द्वैविध्यमेव स्फुटयति—अन्यो हीत्यादिना ।

१३. यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत् स्वलक्षणम् ॥

[न्या०] स्वलक्षणं च कीदृशमवगन्तव्यमिति चेत् ? तत्राह – यस्येति ।

सन्निधानम् = योग्यदेशे स्थितिः । असन्निधानम् = अयोग्यदेशे स्थितिः, सर्वथा सर्वत्राभावश्च । सन्निधानं च असन्निधानं चेति सन्निधानासन्निधाने, ताभ्यां हि ज्ञाने विस्फुटत्वास्फुटत्वविशेषः क्रियते । सन्निधाने स्फुटप्रतिभासं ज्ञानमुत्पद्यते । असन्निधाने

[ध०]स पुनरारोपितोऽर्थो गृह्यमाणः स्वलक्षणत्वेनावसीयते यतः, ततः स्वलक्षणमवसितं प्रवृत्तिविषयोऽनुमानस्य । अनर्थस्तु ग्राह्यः । तदत्र प्रमाणस्य ग्राह्यं विषयं दर्शयता प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणं विषय उक्तः ॥ १२ ॥

कः पुनरसौ विषयो ज्ञानस्य यः स्वलक्षणं प्रतिपत्तव्यः? इत्याह—**यस्यार्थस्येत्यादि**। अर्थशब्दो विषयपर्यायः। यस्य ज्ञानविषयस्य। **सन्निधानम्** निकटदेशावस्थानम्, **असन्निधानम्** दूरदेशावस्थानम्, तस्मात् सन्निधानादसन्निधानाच्च **ज्ञानप्रतिभासस्य** ग्राह्याकारस्य **भेदः** स्फुटत्वास्फुटत्वाभ्याम् ।

[टि०] तथानुमानमित्यादिना प्रसंगेनानुमानस्यापि विषयद्वैविध्यं दर्शयति ।

स्वलक्षणत्वेनावसीयत इति । दाहाद्यर्थक्रियासमर्थत्वेनावसीयत इत्यर्थः । तदत्रेत्यादिना प्रमाणचिन्तायां ग्राह्यविषयदर्शनोऽयम्, न प्राप्यं विषयमिति दर्शयति, ग्राह्य एव विषये सर्वेषां विप्रतिपत्तेः ॥ १२ ॥

कः पुनरसौ विषय इत्यादि । एवं मन्यते—ननु 'प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणं विषयः' इत्युक्ते सामान्यमपि तस्य विषय इति तदपि स्वलक्षणं प्राप्नोतीति प्रश्नः । असन्निधानं दूरदेशावस्थानमिति ब्रुवता विनीतदेवस्य व्याख्या दूषिता । तेन ह्येवं व्याख्यातम्—'सर्वेण रूपेण वस्तुनोऽभावोऽसन्निधानम्' इति । एतदसङ्गतम्; यस्माद् वस्तुनस्तत्राभावे ज्ञानमेव न भवति । ततश्च ज्ञानप्रतिभासभेद इति न घटते ।

यो हीत्यादिनैतद् दर्शयति । अर्थक्रियासमर्थस्यैव सन्निधानासन्निधानाभ्यां स्फुटास्फुटप्रतिभासभेदः, न सामान्यस्येति । न सामान्यं स्वलक्षणम्; आरोपितरूपस्य दूरासन्नाभ्यां सर्वदैवास्फुटत्वादिति । ननु सामान्यमेव दूरे गृह्यमाणमस्फुटप्रतिभासं न स्वलक्षणम् ? इत्याह—सर्वाण्येवेत्यादि । सामान्यस्याविद्यमानत्वादिति प्रश्नः । अतस्तान्येव स्वलक्षणानि स्फुटास्फुटप्रतिभासीनि, न सामान्यम् ।

ननु यदि दूरासन्नाभ्यां स्वलक्षणं स्पष्टास्पष्टप्रतिभासं रूपद्वयं तस्य स्यात्, ततश्च निकटस्थितस्य प्रतिभासद्वयं स्यात्; न च नियमः—दूरेऽस्पष्टम्, निकटे स्पष्टमिति ? उच्यते; न हि नीलं वस्तु स्पष्टरूपमस्पष्टं च, अपितु नीलं साध्यार्थक्रियासमर्थं

॥ १४. तदेव परमार्थसत् ॥

[न्या०] च अस्फुटं ज्ञानमुत्पद्यते। ज्ञाने योऽर्थः प्रतिभासवैलक्षण्यं करोति स एव स्वलक्षणम् ॥ १३ ॥

अस्तु परमार्थसदेव वस्तु प्रत्यक्षस्य विषयः, कस्मात् स्वलक्षणं विषय इति चेत् ? तत्राह— तदेवेति।

परमश्चासावर्थश्चेति परमार्थः। परम इति अकृत्रिमः। आरोपशून्य इति शेषः। परमार्थः सदिति परमार्थसत्। स्वलक्षणमेव हि परमार्थसत्। तेन न यथोक्तदोषः ॥ १४ ॥

[ध०] यो हि ज्ञानविषयः सन्निहितः सन् स्फुटाभासं ज्ञानस्य करोति, असन्निहितस्तु योग्यदेशस्थ एवास्फुटं करोति, तत् स्वलक्षणम्। सर्वाण्येव हि वस्तूनि दूरादस्फुटानि दृश्यन्ते, समीपे स्फुटानि। तान्येव स्वलक्षणानि ॥ १३ ॥

कस्मात् पुनः प्रत्यक्षविषय एव स्वलक्षणम्, तथाहि विकल्पविषयोऽपि वह्निर्दृश्यात्मक एवावसीयते ? इत्याह— तदेव परमार्थसदिति। परमोऽर्थः अकृत्रिममनारोपितं रूपम्, तेनास्तीति परमार्थसत्। य एवार्थः सन्निधानासन्निधानाभ्यां स्फुटमस्फुटं च प्रतिभासं करोति परमार्थसन् स एव। स च प्रत्यक्षस्य विषयो यतः, तस्मात् तदेव स्वलक्षणम् ॥ १४ ॥

[टि०] नीलपरमाणुद्वयम्। स्पष्टास्पष्टाकारौ चोपाधिकृतौ। यदा दूरे नीलं पश्यति तदालोकपरमाणूनां च रजःपरमाणुभिरभिभूतत्वात् स्पष्टप्रतिभासं ज्ञानं भवति। निकटे तु आलोकपरमाणूनां बहुत्वान्न ते रजःपरमाणुभिरभिभूता इति स्पष्टप्रतिभासं ज्ञानं जायते। ज्ञानस्य स्पष्टादिद्वारेणार्थस्य स्पष्टास्पष्टरूपे भवतः, न परमार्थत इति। सामान्यस्य तु ज्ञानद्वारेण न स्पष्टास्पष्टरूपे, तेन न तत् स्वलक्षणम् ॥ १३ ॥

ननु 'तस्य विषयः स्वलक्षणम्' इत्युक्तम्, तत्र यदि प्रत्यक्षस्यैव विषयो भवति स्वलक्षणम्, नान्यस्येति, तदानुमानादेर्न स्वलक्षणविषयः, किन्तु प्रत्यक्षस्यान्यो विषयः स्यात्। अथ प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणं विषयो नान्यः, तदानुमानस्य स्वलक्षणं विषयो न निषिद्ध इति स्वलक्षणविषयमनुमानं स्यादिति मन्यमानः पृच्छति—कस्मात् पुनरित्यादिना। नानुमानस्य। विकल्पस्य विषयो वास्तवो न भवति। कथं स्वलक्षणं भवति ? इत्याह—तथा हीत्यादि। यद्यपि विकल्पस्य विषयो वस्तु न भवति, तथापि स एव स्वलक्षणम्, दाहाद्यर्थक्रियारूपेण व्यवसायादित्यभिप्रायः।

तदेव परमार्थसदिति। एवं मन्यते—न ह्यारोपबलादवस्तु वस्तु भवति;

१५. अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद् वस्तुनः ॥

१६. अन्यत् सामान्यलक्षणम् ॥

[न्या०] कस्मात् स्वलक्षणमेव परमार्थसदिति चेत् ? तत्राह - अर्थेति ।

अर्थः = प्रयोजनम् । क्रिया = निष्पत्तिः । अर्थस्य क्रिया अर्थक्रिया । प्रयोजननिष्पत्तिरिति शेषः। तस्यां सामर्थ्यम् अर्थक्रियासामर्थ्यम् । अर्थक्रियासामर्थ्यं लक्षणं = स्वभावो यस्य वस्तुनस्तद् अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणम् । तस्य भावः अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वम्, तस्मात् अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वात् ।

एवं यदर्थक्रियासमर्थं तदेव वस्तु इति स्वलक्षणेनैवार्थक्रिया—इत्युपदर्शितं भवति । तस्मात् स्वलक्षणमेव परमार्थसत् ॥ १५ ॥

[ध०] कस्मात् पुनस्तदेव परमार्थसत् ? इत्याह—अर्थेत्यादि । अर्थ्यत इति अर्थः । हेय उपादेयश्च । हेयो हि हातुमिष्यते, उपादेयश्चोपादातुम् । अर्थस्य प्रयोजनस्य, क्रिया निष्पत्तिः, तस्यां सामर्थ्यं शक्तिः, तदेव लक्षणं रूपं यस्य वस्तुनः, तद् अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणम्, तस्य भावस्तस्मात् ।

वस्तुशब्दः परमार्थपर्यायः । तदयमर्थः—यस्मादर्थक्रियासमर्थः परमार्थसदुच्यते, सन्निधानासन्निधानाभ्यां च ज्ञानप्रतिभासस्य भेदकोऽर्थोऽर्थक्रियासमर्थः तस्मात् स एव परमार्थसत् । तत एव हि प्रत्यक्षविषयादर्थक्रिया प्राप्यते, न विकल्पविषयात् । अत एव यद्यपि विकल्पविषयो दृश्य इवावसीयते, तथापि न स दृश्य एव; ततोऽर्थक्रियाया अभावात्, दृश्याच्च भावात् । अतस्तदेव स्वलक्षणम्, न विकल्पविषयः ॥ १५ ॥

अन्यदित्यादि । एतस्मात् स्वलक्षणात् यदन्यत्—स्वलक्षणं यो न

[टि०] सर्वस्य शशविषाणादेर्वस्तुत्वप्रसङ्गात् । वस्तु तदेवानुपचरितस्वरूपम्, अतस्तदेव स्वलक्षणम् ॥ १४ ॥

ननु विकल्पविषयोऽप्यर्थः परमार्थसन्नेव । इदमेव परमार्थसत्त्वं यदुत ज्ञाने प्रतिभासनम् । सामान्यपि ज्ञाने प्रतिभासते, तदपि परमार्थसदिति मन्यमानः पृच्छति—कस्मात् पुनस्तदेव परमार्थसदिति । अर्थ्यत इत्यादिना अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वपदस्यार्थं विवृणोति । तदयमर्थ इत्यादिना समुदायस्य पदानां तात्पर्यं दर्शयति । एवं मन्यते - यस्मादर्थक्रियासमर्थं परमार्थसत्, तस्मान्न सामान्यं परमार्थसत्, दाहाद्यर्थक्रियायामनुपयोगात् । न च प्रतिभासबलात् तत्त्वम्; असद्रूपस्याप्यविद्याबलप्रतिभासनात् । न च ज्ञानजनकत्वेनार्थक्रियाकारित्वम्, तस्य ज्ञानस्य विनापि सामान्येन वासनाबलात् सामान्यविषयोत्पत्तेरिति ॥ १५ ॥

एतस्मादित्यादिना अनुमानविषयं दर्शयति । तथा हीत्यादिना प्रत्यक्षविषयेण

१७. सोऽनुमानस्य विषयः ॥

[न्या०] अन्यत् सामान्यलक्षणमिति । उक्तस्वलक्षणस्वभावाद् यदन्यत् प्रमेयं तदेव सामान्यलक्षणम् । यस्यार्थस्य सन्निधानेऽपि च ज्ञानमेकरूपमेव भवति इति ।। १६ ।।

सोऽनुमानस्य विषय इति । सामान्यलक्षणमनुमानस्यैव विषयः, अन्वयव्यतिरेकवत्त्वेन व्याप्तत्वात् ।

अत्रानवसरेऽपि वचनबाहुल्यं स्यात् ? इत्याशङ्कया सामान्यलक्षणमुक्तम् । तथा हि – अत्र स्वलक्षणाभिधानावसरे अवतरणेन तद्विपरीतलक्षणस्य ज्ञानं सुकरमिति सामान्यलक्षणमुक्तम् ।

[ध०] भवति ज्ञानविषयः, तत् सामान्यलक्षणम् । विकल्पज्ञानेनावसीयमानो सन्निधानासन्निधाभ्यां ज्ञानप्रतिभासमात्रं न भिनत्ति । तथाहि—आरोप्यमाणो वह्निरारोपादरित । आरोपाच्च दूरस्थो निकटस्थश्च । तस्य समारोपितस्य सन्निधानादसन्निधानाच्च ज्ञानप्रतिभासस्य न भेदः स्फुटत्वेन, अस्फुटत्वेन वा । ततः स्वलक्षणादन्य उच्यते । सामान्येन लक्षणं सामान्यलक्षणम् । साधारणं रूपमित्यर्थः । समारोप्यमाणं हि रूपं सकलवह्निसाधारणम् । ततः सामान्यलक्षणम् ॥ १६ ॥

तच्चानुमानस्य ग्राह्यं दर्शयितुमाह—सोऽनुमानस्येत्यादि । सोऽनुमानस्य विषयो ग्राह्यरूपः । सर्वनाम्नोऽभिधेयवत् लिङ्गपरिग्रहः ।

सामान्यलक्षणमनुमानस्य विषयं व्याख्यातुकामेनायं स्वलक्षणस्वरूपाख्यानग्रन्थः आवर्तनीयः स्यात् । ततो लाघवार्थं प्रत्यक्षपरिच्छेद एवानुमानविषय उक्तः ॥ १७ ।

[टि०] सह विकल्पविषयस्य सामान्यस्य विसदृशत्वं दर्शयति । कथं पुनर्विकल्पस्य विषयो भवति सामान्यम् ? इत्याह—समारोप्यमाणमिति । सकलवह्निसाधारणतया सामान्याकारस्य संवेद्यत्वादित्यभिप्रायः ॥ १६ ॥

सोऽनुमानस्य विषयो ग्राह्यरूप इति । ग्राह्यं रूपमस्येति बहुव्रीहिः । अत्रापि ग्राह्यापेक्षया विषयो व्यवस्थापितः, न प्राप्यापेक्षया; तत्राविप्रतिपत्तेः । ननु सामान्यमिति नपुंसकलिङ्गं प्रस्तुत्य स इत्यनेन पुंल्लिगे परामर्शः कथम् ? इत्याह—सर्वनाम्न इत्यादि ।

कस्मात् पुनः प्रत्यक्षपरिच्छेद अनुमानस्य विषयविप्रतिपत्तिर्निराकृता वार्तिककारेण, नानुमानपरिच्छेदे ? इत्याह – सामान्यलक्षणमित्यादि । एवं मन्यते—

१८. तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलम् ॥

[न्या०] सोऽनुमानस्य विषय इति हि स्वल्पवचनेनोपन्यासः। अन्यथा अनुमानविषय-प्रदर्शनार्थं सर्वस्याप्येतद्वचनस्योच्चारणमावश्यकं स्यात् ॥ १७ ॥

फलविप्रतिपत्तिनिरासार्थमाह—तदेव चेति।

अयं चास्य सम्बन्धः—यदि प्रत्यक्षस्य प्रमाणत्वमिष्टं तर्हि रूपादिप्रमेयपरीक्षण-लक्षणेन प्रमाणफलेन भवितव्यम्। यथा कुठारिकया वृक्षादिच्छेदने द्विखण्डीकरणं फलं दृश्यते, इत्यत आह— तदेव प्रत्यक्षज्ञानं प्रमाणफलमिति। तदेव प्रत्यक्षज्ञानं प्रमाणफलम्, प्रत्यक्षात् प्रत्यक्षज्ञानादतिरिक्तं फलं नास्तीति ॥ १८ ॥

[ध०] विषयविप्रतिपत्तिं निराकृत्य फलविप्रतिपत्तिं निराकर्तुमाह — तदेवेति। यदेवानन्तरमुक्तं प्रत्यक्षं ज्ञानं तदेव प्रमाणस्य फलम् ॥ १८ ॥

[टि०] यद्यनुमानपरिच्छेदेऽनुमानस्य विषयो व्यवस्थाप्येत, तदा तत्रैवं ग्रन्थः कर्तव्यः स्यात्। कोऽसावनुमानस्य विषयः? प्रत्यक्षविषयादन्यः। प्रत्यक्षस्यैव कोऽसौ विषयः? यदतेक्षयायमन्यः। पुनर्वक्तव्यं स्वलक्षणमित्येवमावर्त्यमाने गौरवं स्यात्। ततो लाघवार्थमत्रैव कथितमिति ॥ १७ ॥

फलविप्रतिपत्तिं निराकर्तुमाहेति। कथं प्रमाणस्य फले विप्रतिपत्तिः। तथा-हि—प्रमाणं कारणं प्रमितिक्रियां विना न भवति, यथा—छित्तिं विना न परशुः। ततश्च प्रमाणात् कारणात् पृथक् फलेनार्थसम्प्रवृत्तिलक्षणेन भवितव्यम्; स्वात्मनि क्रियाकरणत्वविरोधात्। न हि परशुरेव छित्तिरिति। अतो मीमांसकेन इन्द्रियं प्रमाणमिन्द्रियार्थसन्निकर्षः, मन इन्द्रियसन्निकर्षः, आत्मन सन्निकर्षश्चेष्टः। सर्वे सन्निकर्षाश्चेति। तदुक्तम् —

"यद्वेन्द्रियं प्रमाणं स्यात् तस्य चार्थेन सङ्गतिः।
मनसो वेन्द्रियैर्योग आत्मना सर्व एव वा" ॥
(श्लो० वा० ४. ६०)

इत्यर्थावबोधः फलम्, तत्र व्यापाराच्च प्रमाणतेति।

"तदा ज्ञानं फलं तत्र व्यापाराच्च प्रमाणता।
व्यापारो न यदा तेषां तदा नोत्पद्यते फलम्" ॥
(श्लो० वा० ४. ६१)

था पूर्वं पूर्वं प्रमाणम्, उत्तरमुत्तरं फलमिति चोक्तम्।

तत्रापि बुद्धिजन्म प्रमाणम्, प्रवृत्त्यादिकं फलमिति ॥

तथा नैयायिकादयो प्येवभूतमेव प्रमाणफलमिच्छन्ति, इदं त्वधिकम् — विशेषण-

॥ १९. अर्थप्रतीतिरूपत्वात् ॥

[न्या०] प्रत्यक्षस्यैव फलरूपत्वं कस्मात् ? इत्याशङ्कायामाह–अर्थप्रतीतिरूपत्वादिति । प्रतीतिः = निश्चयः । रूपम् = स्वभावः । तदस्ति यस्य प्रत्यक्षस्य तदेव अर्थप्रतीतिरूपम्, तस्य भावः अर्थप्रतीतिरूपत्वम्, तस्मात् अर्थप्रतीतिरूपत्वात् ।

[ध०] कथं प्रमाणफलम् ? इत्याह – अर्थप्रतीतीत्यादि । अर्थस्य प्रतीतिः अवगमः, सैव रूपं यस्य प्रत्यक्षज्ञानस्य तदर्थप्रतीतिरूपम्, तस्य भावस्तस्मात् ।

एतदुक्तं भवति – प्रापकं ज्ञानं प्रमाणम् । प्रापणशक्तिश्च न केवलादर्थाविनाभावित्वाद् भवति; बीजाद्यविनाभाविनोऽप्यंकुरादेरप्रापकत्वात् । तस्मात् प्राप्यादर्थाद् उत्पत्तावप्यस्य ज्ञानस्यास्ति कश्चिदवश्यकर्तव्यः प्रापकव्यापारो येन कृतेनार्थः प्रापितो भवति ।

स एव च प्रमाणफलम्; यदनुष्ठानात् प्रापकं भवति ज्ञानम् । उक्तं च (पृ० १०) पुरस्तात् – "प्रवृत्तिविषयप्रदर्शनमेव प्रापकस्य व्यापारो नाम ।"

[टि०] ज्ञानं प्रमाणम्, विशेष्यज्ञानं फलमिति । यथोक्तं कुमारिलेन—

"प्रमाणफलते बुद्ध्योर्विशेषणविशेष्ययोः ।
यदा तदापि पूर्वोक्ता भिन्नार्थत्वनिवारणा" ॥ इति ।
(श्लो० वा० प्र. सू. ७०)

तदेषां विप्रतिपत्तिः, तां निराकर्तुमाह—तदेवेति ॥ १८ ॥

कथं पुनरर्थपरिच्छित्तिरूपं प्रमाणस्य फलम्, नार्थप्रवर्तकादि विज्ञानम् ? इत्याह- अर्थस्येत्यादि । एवं मन्यते—येन फलेन निष्पन्नेनानन्तरेण प्रमाणस्य करणत्वव्यपदेशो भवति तदेव फलम्, नान्यत् । अर्थपरिच्छेदकत्वेन विज्ञान उत्पन्ने स्वविषयनिश्चयजनकत्वे सति समाप्तो ज्ञानस्य प्रमाणव्यापार इति । अर्थपरिच्छित्तिरेव फलम्, न प्रवर्तकादिकम् । अमुमेवार्थं दर्शयति—एतदुक्तमित्यादिना । प्रमाणादर्थपरिच्छित्तिरूपस्य फलस्य भिन्नत्वं दर्शयितुं प्रमाणज्ञानस्य स्वरूपं प्रागदर्शितमपि पुनरपि दर्शयति—प्रापकं ज्ञानमित्यादिना । एवं मन्यते—यस्मात् प्रापकं विज्ञानं प्रमाणमिष्टमस्माभिः, तस्मात् सा च प्रापणशक्तिरर्थपरिच्छित्तिरेव, नार्थादुत्पत्त्यादिकमिति । एतदेव दर्शयति—प्रापणशक्तिरित्यादिना । कस्मादर्थाविनाभावित्वमेव प्रापणशक्तिर्न भवति ? इत्याह—बीजादित्यादि । यतो बीजादेः सकाशादंकुरस्यार्थाविभासित्वोत्पत्तिरस्ति, न च बीजादिकं प्रापयति, खलबिलान्तर्गतस्यापि बीजस्यांकुरोत्पादकत्वादित्यभिप्रायः । तस्मादित्यादिना ज्ञानस्यार्थावसायात् प्राप्यादुत्पत्तावित्युक्तम् ।

२०. अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम् ॥
२१. तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेरिति ॥

[न्या०] तदेवं प्रमाणप्रमेयव्यवहारारोपेऽर्थनिश्चयलक्षणं फलं भवति । ज्ञानमर्थविनिश्चयनस्वभावम् । प्रत्यक्षमेव फलस्वभावमिष्टम् । तस्मात् प्रत्यक्षस्यार्थनिश्चयस्वभावत्वात् प्रत्यक्षमेव फलस्वभावं स्यादिति वेदितव्यमित्युक्तं भवति ॥ १९ ॥

यदि प्रत्यक्षमेव फलस्वभावम्, तर्हि प्रमाणं नाम किं वेदितव्यम् ? इत्याशङ्कायामाह—अर्थेत्यादि ।

सारूप्यम् = सादृश्यम् । अस्येति प्रत्यक्षस्य । अर्थाकारं यत् प्रत्यक्षं तदेव प्रमाणमिति शेषः ॥ २० ॥

अर्थसारूप्यमेव कथं प्रमाणम् ? इत्याशङ्कयाह—तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेरिति ।

[ध०] तदेव च प्रत्यक्षम् अर्थप्रतीतिरूपम् अर्थप्रदर्शनरूपम् । अतस्तदेव प्रमाणफलम् ॥ १९ ॥

यदि तर्हि ज्ञानं प्रमितिरूपत्वात् प्रमाणफलम्, किं तर्हि प्रमाणफलम् ? इत्याह—अर्थेत्यादि । अर्थेन सह यत् सारूप्यं सादृश्यम् अस्य ज्ञानस्य तत् प्रमाणम् । इह यस्माद् विषयात् विज्ञानमुदेति तद्विषयसदृशं तद् भवति; यथा - नीलादुत्पद्यमानं नीलसदृशम् । तच्च सारूप्यम् = सादृश्यम्, आकार इति, आभास इत्यपि व्यपदिश्यते ॥ २० ॥

ननु च ज्ञानादव्यतिरिक्तं सादृश्यम्, तथा च सति तदेव ज्ञानं प्रमाणं

[टि०]स एवेति । प्रमाणव्यापारः । यद्येवम् प्रापणशक्तिः फलम्, तर्हि नार्थपरिच्छित्तिरूपं फलम्, प्रापकत्वाद्, अर्थपरिच्छित्तेरन्यत्वादित्याह—उक्तं च पुरस्तादित्यादि । यदेव प्रापकं ज्ञानं तदेव प्रवर्तकम्, अर्थप्रदर्शकं च तदेवेति पुरस्तात् संवर्णितं प्रमाणस्वरूपचिन्तायाम् । ततश्च अर्थप्रदर्शकमेव प्रापकम्, तस्य च प्रापणशक्तिरर्थपरिच्छित्तिरेव; तावता परिसमाप्तत्वात् प्रमाणव्यापारस्येति स्थितम् । प्रमाणस्य फलमर्थपरिच्छित्तिरूपमेव, नान्यदिति ॥ १९ ॥

यदि ज्ञानस्य प्रमितिरूपं फलम्, ज्ञानात् तर्हि प्रमाणेन भिन्नेन भवितव्यमिति मन्यमानः पृच्छति—यदि तर्हीत्यादिना । अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणमिति । एतस्य विवरणम्—अर्थेन यत् सारूप्यमित्यादि । एवं मन्यते—अर्थसारूप्यं विज्ञानस्य प्रमाणम्, नेन्द्रियादिकमिति । विषयादुत्पद्यमानं विषयसदृशं भवतीति तदेव सारूप्यं सादृश्यमुक्तमिति दर्शयति—इह यस्मादित्यादिना ॥ २० ॥

ननु चेत्यादि । एवं मन्यते परः—इन्द्रियादिकं प्रमाणमुक्तमस्माभिः, तदेव किं

[न्या०] यस्मादर्थसारूप्यवशाद् निश्चयः, तस्मात् तत् सारूप्यमेव प्रमाणम्। एवं हि 'नीलस्य प्रतीतिरियम्; न पीतस्य' इति व्यवस्थाप्यते। तत्र च यो हेतुः स एव प्रमाणत्वेनेष्टः।

इन्द्रियस्य त्वेतद्व्यवस्थितिकरणे नास्ति सामर्थ्यम्। तथा हि तच्चेन्द्रियं सर्वस्यैव ज्ञानस्य साधारणं कारणमिति प्रत्येकनिश्चयव्यवस्थितौ कथं समर्थं स्यात्! यदि

[ध०]तदेव च प्रमाणफलम्,न चैकं वस्तु साध्यं साधनं चोपपद्यते,तत् कथं सारूप्यं प्रमाणम्? इत्याह—तद्वशादिति। तदिति सारूप्यम्, तस्य वसात् सारूप्यसामर्थ्यात्। अर्थस्य प्रतीतिः अवबोधः, तस्याः सिद्धिः। तत्सिद्धेः कारणात्। अर्थस्य प्रतीतिरूपं प्रत्यक्षं विज्ञानं सारूप्यवशात् सिध्यति, प्रतीतं भवतीत्यर्थः। नीलनिर्भासं हि विज्ञानं यतः, तस्मात् नीलस्य प्रतीतिरवसीयते। येभ्यो हि चक्षुरादिभ्यो विज्ञानमुत्पद्यते, न तद्वशात् तज्ज्ञानं नीलस्य संवेदनं शक्यतेऽवस्थापयितुम्। नीलसदृशं त्वनुभूयमानं नीलस्य संवेदनमवस्थाप्यते।

न चात्र जन्यजनकभावनिबन्धनः साध्यसाधनभावः, येनैकस्मिन् वस्तुनि विरोधः स्यात्। अपितु व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापकभावेन। तत एकस्य वस्तुनः

[टि०]बौद्धेनापि नेष्यते, येनार्थसारूप्यं प्रमाणमिष्यते। किञ्च–अर्थसारूप्ये प्रमाणेऽङ्गीक्रियमाणे प्रमाणफलयोरैक्यान्नैकं कर्म करणं भवतीति यच्चोदितं तत् तदवस्थमेवेति। तद्वशादित्यादि। एवं मन्यते—प्रमाणं करणं च साधकतमं कारकाणाम्। प्रकृष्टोपकारकं ज्ञानस्य सारूप्यमेव; तद्वशादर्थाधिगतिसिद्धेः, नेन्द्रियादिकम्; अर्थसारूप्याभावेऽर्थप्रतीतेरभावादिति। अमुमेवार्थं दर्शयति—अर्थस्य प्रतीतिरवबोध इत्यादिना। नीलनिर्भासं हीत्यादिना नीलाकारं नीलविज्ञानस्य नीलावगमव्यवस्थाया निमित्तं दर्शयति। यस्मान्नीलाकारे विज्ञानस्यावगते नीलप्रतीतिरवगम्यते, तस्मादर्थाकारः प्रमाणम्; करणधर्मत्वादस्येति। ननु च चक्षुरादिभ्यो विज्ञानमुत्पद्यते विशिष्टार्थमवगच्छत्येव तत् कथमर्थाकारस्य प्रकृष्टोपकारकत्वम्? इत्याह—येभ्यो हीत्यादि। तत् कथयति – चक्षुरादीनामपि विज्ञानोत्पत्तौ निमित्तभावोऽस्ति, किन्तु तेषां सर्वज्ञानोत्पत्तिं प्रति निमित्तत्वान्न प्रतिनियतार्थव्यवस्थापनस्य निमित्तत्वम्। अर्थाकारस्य त्वसाधारणत्वात् प्रतिनियतार्थव्यवस्थापनं प्रति निमित्तत्वमिति तदेव प्रमाणम्।

यत् तत् परेण चोदितम् – प्रमाणफलयोरैक्यान्न चैकं साध्यं साधनं वा स्यादिति? तत् परिहरति–न चात्र जन्यजनकेत्यादिना। स्यादयमेकस्य विरोधो यद्ययं जन्यजनकभावः प्रमाणफलयोः साध्यसाधनभावः, किं तर्हि? व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावः। कुतः? ज्ञानाधिकारात्। यस्माज्ज्ञाने विशिष्ट उत्पन्ने प्रतिपत्त्रा विशिष्टोऽर्थो ज्ञाप्यते,

[न्या०]तदिन्द्रियं नीलज्ञानस्यैव जनकं स्यात्,पीतादिज्ञानं च न जनयेत्; तदैव व्यवस्थाय समर्थं स्यात् । सन्निधानमपि साधारणत्वादिन्द्रियवन्न व्यवस्थितिहेतुः ।

[ध०] किञ्चिद् रूपं प्रमाणम्, किञ्चित् प्रमाणफलं न विरुध्यते ।

व्यवस्थापनहेतुर्हि सारूप्यं तस्य ज्ञानस्य । व्यवस्थाप्यं च नील-संवेदनम् ।

व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापकभावोऽपि कथमेकस्य ज्ञानस्य इति चेत् ? उच्यते; नीलसदृशमनुभूय तद्विज्ञानं यतो नीलस्य ग्राहकमवस्थाप्यते निश्चय-प्रत्ययेन, तस्मात् सारूप्यमनुभूतं व्यवस्थापनहेतुः । निश्चयप्रत्ययेन च तज्ज्ञानं नीलसंवेदनमवस्थाप्यमानं व्यवस्थाप्यम् । तस्मादसारूप्यव्या-वृत्त्या सारूप्यं ज्ञानस्य व्यवस्थापनहेतुः । अनीलबोधवृत्त्या च नीलबोधरूपत्वं व्यवस्थाप्यम् ।

व्यवस्थापकश्च विकल्पप्रत्ययः प्रत्यक्षबलोत्पन्नो द्रष्टव्यः । न तु निर्वि-कल्पकत्वात् प्रत्यक्षमेव नीलबोधरूपत्वेनात्मानमवस्थापयितुं शक्नोति । निश्चयप्रत्ययेनाव्यवस्थापितं सदपि नीलबोधरूपं विज्ञानमसत्कल्पमेव । तस्मान्निश्चयेन नीलबोधरूपं व्यवस्थापितं विज्ञानं नीलबोधात्मना सद् भवति ।

तस्मादध्यवसायं कुर्वदेव प्रत्यक्षं प्रमाणं भवति । अकृते त्वध्यवसाये नीलबोधरूपत्वेनाव्यवस्थापितं भवति विज्ञानम् । तथा च प्रमाणफलमर्था-

[टि०]न त्वर्थ उत्पाद्यते । तथाहि—नीलाकारे विज्ञान उत्पन्ने विशिष्टज्ञानं व्यवस्थापयति, नीलज्ञानमनुभूतमिति न ज्ञानमुत्पादयति । किञ्चिदित्यादिनैकस्यैव विज्ञानस्यांशांशि-तया व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापकत्वं दर्शयति ।

ननु च निर्विकल्पकं ज्ञानं विशिष्टाकारमुत्पन्नं कथं तस्य समानकाल एवांशांशितया व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापकभावो भवतीति मन्यमानः पृच्छति—व्यवस्थाप्यव्यवस्थापके-त्यादिना । सदृशमिति । एवं मन्यते—न विज्ञानमेव निर्विकल्पकमात्मानं व्यवस्थाप-यति, किन्तु प्रत्यक्षपृष्ठभाविना निश्चयप्रत्ययेन व्यवस्थाप्यते । तत्र चार्थाकारस्य व्यवस्थापनहेतुत्वमसारूप्यव्यावृत्तिभेदेनार्थबोधतया व्यवस्थाप्यस्योत्पादेन वेदनस्य तु व्यवस्थाप्यत्वम्; निश्चयप्रत्ययस्तु व्यवस्थापक इति । अमुमेवार्थं दर्शयति—तस्मादि-त्यादिना । ननु नीलज्ञानमुत्पन्नं स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धं यदि निश्चयवशात् प्रमाण-व्यवस्था लभ्यते, तदा युज्यते वक्तुम्—निश्चयप्रत्ययेन व्यवस्थाप्यते इति, यावता निश्चय प्रत्ययं विनापिप्रमाणं भवत्येव ? इत्याह—निश्चयप्रत्ययेनाव्यवस्थापितमित्यादि

[न्या०] सारूप्यं तु असाधारणत्वात् प्रत्येकनिश्चयव्यवस्थितिहेतुर्भवति । तथाहि—नीलविज्ञानस्य यो नीलाकारः स पीतादिज्ञाने नास्तीति व्यवस्था स्यात् । यस्माद् नीलाकारत्वाद् 'अयं नीलः' इत्ययेव प्रतीतिः, न तु 'पीतः' इति बुद्धिः; तस्माद् अर्थसारूप्यमेव प्रमाणमिति ॥ २१ ॥

इति न्यायबिन्दुविस्तरटीकायां शिष्यहितायां

प्रथमः प्रत्यक्षपरिच्छेदः ॥



[ध०] धिगमरूपमनिष्पन्नम् । अतः साधकतमत्वाभावात् प्रमाणमेव न स्याज्ज्ञानम् ।

जनितेन त्वध्यवसायेन सारूप्यवशान्नीलबोधरूपे ज्ञाने व्यवस्थाप्यमाने सारूप्यव्यवस्थापनहेतुत्वात् प्रमाणं सिद्धं भवति ।

यद्येवम्, अध्यवसायसहितमेव प्रत्यक्षं प्रमाणं स्यात्, न केवलम्—इति चेत् ? नैतदेवम्; यस्मात् प्रत्यक्षबलोत्पन्नेनाध्यवसायेन दृश्यत्वेनार्थोऽवसीयते, न उत्प्रेक्षितत्वेन । दर्शनं च अर्थसाक्षात्करणाख्यं प्रत्यक्षव्यापारः । उत्प्रेक्षणं तु विकल्पव्यापारः । तथाहि—परोक्षमर्थं विकल्पयन्त उत्प्रेक्षामहे, न तु पश्याम इति उत्प्रेक्षात्मकं विकल्पव्यापारमनुभवाद् अध्यवस्यन्ति । तस्मात् स्वव्यापारं तिरस्कृत्य प्रत्यक्षव्यापारमादर्शयति--यत्रार्थे प्रत्यक्षपूर्वकोऽध्यवसायः, तत्र प्रत्यक्षं केवलमेव प्रमाणमिति ॥ २१ ॥

आचार्यधर्मोत्तरविरचितायां न्यायबिन्दुटीकायां
प्रथमः प्रत्यक्षपरिच्छेदः समाप्तः ॥



[टि०]दर्शयति । यावत् प्रत्यक्षं स्वविषये स्वात्मनि निश्चयं नोत्पादयति, न तावत् प्रमाणं भवति; आत्मव्यापारानिर्वर्तनात् । ततश्चाध्यवसायं कुर्वदेव प्रमाणमिति निश्चयमपेक्षते । ननु यदि निश्चयं विना प्रमाणमेव न भवति प्रत्यक्षं विकल्पसहितम्, तर्हि प्रत्यक्षं प्रमाणं स्यात्, न केवलं तदन्वयव्यतिरेकादिति मन्यमानश्चोदयति—यद्येवमित्यादिना । नैतदेवम्[1] ....



---

१. नैतदेवम्—इतोऽग्रे "उपरतापरतप्रमाणे समाप्तकार्यो हि........समस्त छ...." इत्यन्तमेव ग्रन्थसमाप्तिबोधकष्टीकायास्त्रुटितः पाठो लब्धः—स० ।

२

द्वितीयः स्वार्थानुमानपरिच्छेदः

१. अनुमानं द्विधा ॥

२. स्वार्थं परार्थं च ॥

३. तत्र स्वार्थं त्रिरूपात् लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम् ॥

[न्या०] प्रत्यक्षानुमानभेदेन सम्यग्ज्ञानं द्विविधमुक्तम्। तत्र प्रत्यक्षं सप्रपञ्चं कृत-व्याख्यानम्।

अनुमानकथनानुज्ञार्थमाह-अनुमानं द्विधेति। अनुमानस्य प्रकारौ द्वौ वेदितव्यौ। ज्ञानाभिधानात्मकयोः स्व-परार्थानुमानयोः सामान्यलक्षणं किमपि नास्ति, कथं तावत् पूर्वं न लक्षणमभिधीयेत? विभागेन च प्रतिनियतं लक्षणं सुखेन वक्तुं शक्यम्। तस्मात् पूर्वं विभाग उक्तः ॥ १ ॥

स्वार्थमिति। स्वार्थं परार्थं चेति विशेषेण द्वैविध्यमेवोपदर्श्यते। अत्र अर्थ इति प्रयोजनम्। स्वप्रयोजनं परप्रयोजनं चेति शेषः। येनात्मनः प्रतीतिस्तत् स्वार्थम्, येन चापरस्य प्रतिपत्तिस्तत् परार्थमवगन्तव्यमिति ॥ २ ॥

[ध०] एवं प्रत्यक्षं व्याख्याय, अनुमानं व्याख्यातुकाम आह--अनुमानमिति। अनुमानं द्विधा द्विप्रकारम्। अथानुमानलक्षणे वक्तव्ये किमकस्मात् प्रकारभेदः कथ्यते? उच्यते; परार्थानुमानं शब्दात्मकम्, स्वार्थानुमानं तु ज्ञानात्मकम्, तयोरत्यन्तभेदात् नैकं लक्षणमस्ति। ततस्तयोः प्रतिनियतं लक्षणमाख्यातुं प्रकारभेदः कथ्यते। प्रकारभेदो हि व्यक्तिभेदः, व्यक्तिभेदे च कथिते प्रतिव्यक्तिनियतं लक्षणं शक्यते वक्तुम्; नान्यथा। ततो लक्षणनिर्देशाङ्गमेव प्रकारभेदकथनम्। अशक्यतां च प्रकारभेदकथनमन्तरेण लक्षणनिर्देशस्य ज्ञात्वा प्राक् प्रकारभेदः कथ्यते इति ॥ १ ॥

किं पुनस्तद् द्वैविध्यम्? इत्याह--स्वार्थमिति। स्वस्मायिदं स्वार्थम्। येन स्वयं प्रतिपद्यते तत् स्वार्थम्। परस्मायिदं परमार्थम्। येन परं प्रति-पादयति तत् परार्थम् ॥ २ ॥

तत्रेति। तत्र तयोः स्वार्थ-परार्थानुमानयोर्मध्ये स्वार्थं ज्ञानं किंविष्टम्? इत्याह—त्रिरूपादिति। त्रीणि रूपाणि यस्य वक्ष्यमाणलक्षणानि तत् त्रिरूपम्। लिङ्ग्यते=गम्यतेऽनेनार्थ इति लिङ्गम्। तस्मात् त्रिरूपाल्लिङ्गात्

४. प्रमाणफलव्यवस्थाऽत्रापि प्रत्यक्षवत् ॥

५. त्रैरूप्यं पुनर्लिङ्गस्य अनुमेये सत्त्वमेव, सपक्षे एव सत्त्वम्, असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम् ॥

[न्या०] तत्रेति। त्रीणि रूपाण्यस्य सन्तीति त्रिरूपम्। अर्थो लिङ्ग्यतेऽनेनेति लिङ्गम्। अनुमीयते इति अनुमेयः। त्रिलक्षणाद् हेतोरनुमेये यज्ज्ञानमुत्पद्यते तदेव स्वार्थानुमानमिति। लिङ्गाभासाद् यज्ज्ञानमुत्पद्यते तदप्यनुमानं स्यादिति तन्निरासार्थमनुमेय इत्युक्तम्। ज्ञानमिति कथनं तु लिङ्गमेव वस्तुतोऽनुमानं स्यादिति तन्निरासार्थम् ॥ ३ ॥

यद्यनुमेयविषयज्ञानमेव प्रमाणमिष्टम्, तर्हि फलं नाम किं स्यात्? इत्याशङ्कायामाह—प्रमाणेत्यादि।

यथा प्रत्यक्षे तज्जन्यमेव प्रमाणफलमभिहितम्, तथात्राप्यनुमितिरेव प्रमाणफलं स्यात्; अर्थविनिश्चयनस्वभावात्। यथा प्रत्यक्षस्यार्थसारूप्यं प्रमाणम्, तथानुमानस्यापि अर्थसारूप्यमेव प्रमाणम्; तद्वशाद् अर्थविनिश्चयसिद्धेरिति ॥ ४ ॥

'त्रिरूपाल्लिङ्गात्, इत्युक्तम्। कानि च तानि त्रीणि रूपाणि?—इत्याशङ्कायामाह—त्रैरूप्यमिति।

[ध०] यत् जातं ज्ञानमिति। एतद् हेतुद्वारेण विशेषणम्। तत् त्रिरूपाच्च लिङ्गात् त्रिरूपलिङ्गालम्बनमप्युत्पद्यत इति विशिनष्टि—अनुमेय इति। एतच्च विषयद्वारेण विशेषणम्।

त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदुत्पन्नमनुमेयालम्बनं ज्ञानं तत् स्वार्थमनुमानमिति ॥ ३ ॥

लक्षणविप्रतिपत्तिं निराकृत्य फलविप्रतिपत्तिं निराकर्तुमाह—प्रमाणेत्यादि। प्रमाणस्य यत् फलं तस्य या व्यवस्था सा अत्र अनुमानेऽपि प्रत्यक्ष इव प्रत्यक्षवत् वेदितव्या।

यथा हि नीलसरूपं प्रत्यक्षमनुभूयमानं नीलबोधरूपमवस्थाप्यते, तेन नीलसारूप्यं व्यवस्थापनहेतुः प्रमाणम्, नीलबोधरूपं तु व्यवस्थाप्यमानं प्रमाणफलम्। तद्वत् अनुमानं नीलाकारमुत्पद्यमानं नीलबोधरूपमवस्थाप्यते, तेन नीलसारूप्यमस्य प्रमाणम्, नीलविकल्पनरूपं त्वस्य प्रमाणफलम्। सारूप्यवशाद्धि तन्नीलप्रतीतिरूपं सिध्यति; नान्यथेति ॥ ४ ॥

एवमिह संख्या-लक्षण-फलविप्रतिपत्तयः, प्रत्यक्षपरिच्छेदे तु गोचरविप्रतिपत्तिर्निराकृता। लक्षणनिर्देशप्रसङ्गेन तु त्रिरूपं लिङ्गं प्रस्तुतम्, तदेव

[न्या०] त्रिरूपस्य भावस्त्रैरूप्यम् । १. अनुमेये सत्त्वमेवेति । अधोनिर्दिष्टानुमेयलक्षणे सत्त्वमेव प्रथमं रूपम् । तत्र सत्त्वमिति उक्त्वा चाक्षुषत्वादित्यादिकं निरस्तम् । एवेत्यधिककथनेन पाक्षिकदेशासिद्धयादिकं निरस्तम् ।

२. सपक्षे एव सत्त्वमिति । समजातीये सत्त्वमेव द्वितीयं रूपम् । अत्र 'सत्त्वम्' इत्युक्त्वा असाधारणानैकान्तिको निरस्तः । एवेत्यधिककथनेन साधारणानैकान्तिको निरस्तः । उभयकथनेन विरुद्धो निरस्तः ।

३. असपक्षे चासत्त्वमेवेति । असमजातीये क्वचिदपि असत्त्वं तृतीयं रूपम् । अत्र 'असत्त्वम्' इत्युक्त्वा साधारणानैकान्तिको निरस्तौ । एवेत्यधिककथनेन विपक्षैकदेशावृत्तेः परिहारः ।

[ध०] व्याख्यातुमाह—**त्रैरूप्यमित्यादि** । **लिङ्गस्य यत् त्रैरूप्यं** यानि त्रीणि रूपाणि । तदिदमुच्यत इति शेषः ।

किं पुनस्तत् त्रैरूप्यम् ? इत्याह—**अनुमेय** इति ।

१. अनुमेयं वक्ष्यमाणलक्षणम्, तस्मिन् लिङ्गस्य सत्त्वमेव निश्चितम्–एकं रूपम् । यद्यपि चात्र निश्चितग्रहणं न कृतम्, तथापि अन्ते कृतं प्रक्रान्तयोर्द्वयोरपि रूपयोरपेक्षणीयम् । यतो न योग्यतया लिङ्गं परोक्षज्ञानस्य निमित्तम्; यथा—बीजमंकुरस्य; अदृष्टाद् धूमादग्नेरप्रतिपत्तेः । नापि स्वविषयज्ञानापेक्षं परोक्षार्थप्रकाशनम्, यथा—प्रदीपो घटादेः; दृष्टादप्यनिश्चितसम्बन्धादप्रतिपत्तेः । तस्मात् परोक्षार्थनान्तरीयकतया निश्चियनमेव लिङ्गस्य परोक्षार्थप्रतिपादनव्यापारः, नापरः कश्चित् । अतोऽन्वयव्यतिरेकपक्षधर्मत्वनिश्चयो लिङ्गव्यापारात्मकत्वादवश्यकर्तव्य इति सर्वेषु रूपेषु निश्चितग्रहणमपेक्षणीयम् ।

तत्र सत्त्ववचनेनासिद्धं चाक्षुषत्वादि निरस्तम् । एवकारेण पक्षैकदेशासिद्धो निरस्तः । यथा 'चेतनास्तरवः, स्वापाद्' इति पक्षीकृतेषु तरुषु पत्रसङ्कोचलक्षणः स्वाप एकदेशे न सिद्धः । नहि सर्वे वृक्षा रात्रौ पत्रसङ्कोचभाजः, किन्तु केचिदेव । सत्त्ववचनस्य पश्चात्कृतेनैव कारणेनासाधारणो धर्मो निरस्तः । यदि हि 'अनुमेय एव सत्त्वम्' इति कुर्यात्, श्रावणत्वमेव हेतुः स्यात् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धासिद्धः सर्वो निरस्तः ।

२. सपक्षो वक्ष्यमाणलक्षणः, तस्मिन्नेव सत्त्वं निश्चितमिति द्वितीयं रूपम् । इहापि सत्त्वग्रहणेन विरुद्धो निरस्तः । स हि नास्ति सपक्षे । एवकारेण साधारणानैकान्तिकः । स हि न सपक्ष एव वर्तते, किन्तूभय-

६ अनुमेयोऽत्र जिज्ञासितविशेषो धर्मी ॥

[न्या०] अन्ते 'निश्चितम्' इत्युक्तेस्त्रिष्वेव निश्चितमिति वेदितव्यम् । तानि च त्रीणि रूपाणि स्वयं यथायथं प्रमाणैर्निश्चितान्येव ग्राह्याणि; अन्यथाऽनुमेये प्रत्यायनमशक्यमेवेति ॥ ५ ॥

कश्चानुमेयः ? इत्याशङ्कायामाह—अनुमेय इति ।

[ध०] त्रापि । सत्त्वग्रहणात् पूर्वावधारणवचनेन सपक्षाव्यापिसत्ताकस्यापि प्रयत्नान्तरीयकस्य हेतुत्वं कथितम् । पश्चादवधारणे त्वयमर्थः स्यात्–सपक्षे सत्त्वमेव यस्य स हेतुरिति प्रयत्नानन्तरीयकत्वं न हेतुः स्यात् । निश्चितवचनेन सन्दिग्धान्वयोऽनैकान्तिको निरस्तः; यथा—'सर्वज्ञः कश्चित्, वक्तृत्वात्' । वक्तृत्वं हि सपक्षे सर्वज्ञे सन्दिग्धम् ।

३. असपक्षो वक्ष्यमाणलक्षणः, तस्मिन्नसत्त्वमेव निश्चितम्–तृतीयं रूपम् । तत्रासत्त्वग्रहणेन विरुद्धस्य निरासः । विरुद्धो हि स विपक्षेऽस्ति । एवकारेण साधारणाय विपक्षैकदेशवृत्तेर्निरासः ।

प्रयत्नान्तरीयकत्वे साध्ये ह्यनित्यत्वं विपक्षैकदेशे विद्युदादौ अस्ति, आकाशादौ नास्ति । ततो नियमेनास्य निरासः । असत्त्वशब्दाद्धि पूर्वस्मिन्नवधारणेऽयमर्थः स्यात्—विपक्ष एव यो नास्ति स हेतुः । तथा च प्रयत्नानन्तरीयकत्वं सपक्षेऽपि सर्वत्र नास्ति, ततो न हेतुः स्यात् । अतः पूर्वं न कृतम् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकोऽनैकान्तिको निरस्तः ।

ननु च 'सपक्ष एव सत्त्वम्' इत्युक्ते, 'विपक्षेऽसत्त्वमेव' इति गम्यत एव, तत् किमर्थं पुनरुभयोरुपादानं कृतम् ? उच्यते; 'अन्वयो व्यतिरेको वा नियमवानेव प्रयोक्तव्यो नान्यथा' इति दर्शयितुं द्वयोरप्युपादानं कृतम् । अनियते हि द्वयोरपि प्रयोगेऽयमर्थः स्यात्—सपक्षे योऽस्ति, विपक्षे च यो नास्ति स हेतुरिति । तथा च सति 'स श्यामः तत्पुत्रत्वात्, दृश्यमानपुत्रवत्' इति तत्पुत्रत्वे हेतुः स्यात् । तस्मात् नियमवतोरेवान्यव्यतिरेकयोः प्रयोगः कर्तव्यः, येन प्रतिबन्धो गम्येत साधनस्य साध्येन । नियमवतोश्च प्रयोगेऽवश्यकर्तव्ये द्वयोरेक एव प्रयोक्तव्यो न द्वाविति 'नियमवानेवान्वयव्यतिरेको वा प्रयोक्तव्यः' इति शिक्षणार्थं द्वयोरुपादानमिति ॥ ५ ॥

त्रैरूप्यकथनप्रसङ्गेनानुमेयः सपक्षो विपक्षश्चोक्तः, तेषां लक्षणं वक्तव्यम्, तत्र कोऽनुमेयः? इत्याह—**अनुमेयोऽत्रे**त्यादि । अत्र हेतुलक्षणे निश्चेतव्ये धर्मी अनुमेयः; अन्यत्र तु साध्यप्रतिपत्तिकाले समुदायोऽनुमेयः; व्याप्तिनिश्चयकाले

७. साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थः सपक्षः ॥

८. न सपक्षोऽसपक्षः ॥

९. ततोऽन्यस्तद्विरुद्धस्तदभावश्चेति ॥

[न्या०] अत्रेति । हेतुलक्षणे । जिज्ञासितः प्रत्येतुमिष्टः । विशेष इति । विलक्षणो धर्मः। जिज्ञासितो विशेषो यस्मिन् स जिज्ञासितविशेषः । धर्माः सन्ति यस्मिन् स धर्मी । तेन यस्य धर्मिणः कश्चिद् विशेषः प्रत्येतुमिष्टः सोऽनुमेय इत्यर्थः । स च हेतुलक्षणावसरे एव बोध्य इत्युक्तं भवति । अन्यत्र तु धर्मविशिष्टधर्मी अनुमेय इति ॥ ६ ॥

कस्तावत् सपक्षः ? इत्याशङ्कायामाह—साध्येत्यादि ।

समानं मानमस्येति समानः । समानज्ञानपरिच्छेद्यः । सदृश इति शेषः । यश्च सदृशोऽर्थः स सपक्षः ।

कथम्प्रकारं सामान्यमिति चेत् ? तत्रैवमाह—साध्यधर्मसामान्येनेति । साध्यश्चासौ धर्मश्चेति साध्यधर्मः । तस्य सामान्यं साध्यधर्मसामान्यम् । साध्यधर्मस्य हि विशेषो भवति, प्रत्यर्थनियमात् । तेन च समानत्वाद् विरोधः स्यादिति 'साध्यधर्मसामान्येन' इत्युक्तमिति ॥ ७ ॥

कश्च असपक्षः ? इत्याशङ्कायामाह—न सपक्ष इति ।

यश्च सपक्षो न भवति स सर्व एवासपक्ष इति ॥ ८ ॥

ततोऽन्य इति । सपक्षविरुद्धः । यथा—उष्णस्पर्शे साध्येऽनुष्णाशीतं द्रव्यम् ।

[ध०] तु धर्मोऽनुमेयः—इति दर्शयितुम् अत्र-ग्रहणम् । जिज्ञासितो ज्ञातुमिष्टो विशेषो धर्मो यस्य धर्मिणः स यथोक्तः ॥ ६ ॥

कः सपक्षः ? इत्याह—साध्यधर्मेत्यादि । समानोऽर्थः सपक्षः । समानः सदृशो योऽर्थः पक्षेण स सपक्ष उक्तः, उपचारात् । समानशब्देन विशेष्यते । समानः पक्षः=सपक्षः, समानस्य च स-शब्दादेशः ।

स्यादेतत् । किं तत् पक्षसपक्षयोः सामान्यम्, येन समानः सपक्षः पक्षेण ? इत्याह—साध्यधर्मसामान्येनेति । साध्यश्चासौ असिद्धत्वात्; धर्मश्च पराश्रितत्वात् साध्यधर्मः । न च विशेषः साध्यः, अपितु सामान्यम् । अत इह सामान्यं साध्यमुक्तम् । साध्यधर्मश्चासौ सामान्यं चेति साध्यधर्मसामान्येन समानः पक्षेण सपक्ष इत्यर्थः ॥ ७ ॥

कोऽसपक्षः ? इत्याह—न सपक्षोऽसपक्षः । सपक्षो यो न भवति सोऽसपक्षः ॥ ८ ॥

कश्च सपक्षो न भवति ? इत्याह—तत इति । ततः सपक्षाद् अन्यः, तेन

१०. त्रिरूपाणि च त्रीण्येव लिङ्गानि ॥

११. अनुपलब्धिः स्वभावः कार्यं चेति ॥

१२. तत्रानुपलब्धिर्यथा--न प्रदेशविशेषे क्वचिद् घटः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति ॥

[न्या०] तद्विरुद्ध इति । सपक्षविरुद्धः । यथा—उष्णस्पर्श एव साध्ये शीतं द्रव्यम् । तदभाव इति । सपक्षाभावः । यथा—सौत्रान्तिकस्य अनित्यत्वे साध्ये अनित्यत्वाभाव एवासपक्षः, तन्नये आकाशादिष्वपि नित्यत्वाङ्गीकारात् ।

त्रिविध एवार्थे 'न सपक्षः असपक्षः' इति बोध्यम् । अभावस्तु वस्तुत एव न सपक्षः । अन्यविरोधौ च परम्परया न सपक्षाविति ॥ ९ ॥

यथोक्तहेतुलक्षणयुक्तो हेतुः कतिविधः ? इत्याशङ्कायामाह—त्रिरूपाणीति ।

यथोक्तं रूपत्रयं त्रिष्वेव सम्भवति, नाधिक इत्यधिकारार्थ एवकारार्थः । त्रयाणां लिङ्गानां प्रत्येकमपि त्रिरूपमेव द्रष्टव्यम्, एकरूपं द्विरूपं वा नैवेति ॥ १० ॥

कानि च त्रीणि लिङ्गानि ? इत्याशङ्कायामाह—अनुपलब्धिरिति ।

इह स्वनाम्ना त्रीणि लिङ्गानि निर्दिश्यन्ते ॥ ११ ॥

तत्रानुपलब्धिरिति । अनुपलब्धिस्वरूपमुच्यते । यथेति । उपप्रदर्शनशब्दः । प्रदेशविशेषे क्वचिद् घटो नेति सन्निहितदेशवचनम् । सम्बन्धस्तु एवम्–प्रदेशविशेष

[ध०] च विरुद्धः । तस्य च सपक्षस्य अभावः । सपक्षादन्यत्वं तद्विरुद्धत्वं च न तावत् प्रत्येतुं शक्यम्, यावत् सपक्षस्वभावाभावो न विज्ञातः । तस्मादन्यत्वविरुद्धत्वप्रतीतिसामर्थ्यात् सपक्षाभावरूपौ प्रतीतावन्यविरुद्धौ ।

ततोऽभावः साक्षात् सपक्षाभावरूपः प्रतीयते । अन्यविरुद्धौ सामर्थ्यादभावरूपौ प्रतीयेते । ततस्त्रयाणामपि असपक्षत्वम् ॥ ९ ॥

उक्तेन त्रैरूप्येण त्रिरूपाणि च त्रीण्येव लिङ्गानीति । चकारो वक्तव्यान्तरसमुच्चयार्थः । त्रैरूप्यमादौ पृष्टम्, त्रिरूपाणि च लिङ्गानि परेण । तत्र त्रैरूप्यमुक्तम्, त्रिरूपाणि चोच्यन्ते--त्रीण्येव त्रिरूपाणि लिङ्गानि । त्रयस्त्रिरूपलिङ्गप्रकारा इत्यर्थः ॥ १० ॥

कानि पुनस्तानि ? इत्याह--अनुपलब्धिरित्यादि । प्रतिषेध्यस्य साध्यस्यानुपलब्धिस्त्रिरूपा । विधेयस्य साध्यस्य स्वभावश्च त्रिरूपः कार्यं च ॥ ११ ॥

अनुपलब्धिमुदाहर्तुमाह--तत्रेत्यादि । यथेत्यादि । यथेत्युपदर्शनार्थम् । यथेयमनुपलब्धिस्तथान्यापि । न त्वियमेवेत्यर्थः । प्रदेश एकदेशः । विशिष्यत

१३. उपलब्धिलक्षणप्राप्तिरुपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यं स्वभावविशेषश्च ॥

[न्या०]क्वचिद् घटो नेति **क्वचिदित्यनेन** धर्मी निर्दिश्यते। प्रदेशविशेष इति तस्यैव विशेषः क्रियते। वाद्यभिमतदेशे घटो नेत्यर्थः। 'देश' इत्युक्ते सर्वस्य पक्षत्वे घटाभावसिद्धिरेव न स्यात्। स च योग्योऽपि न भवति।

उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्येति। अनेन हेतुविशेषणमुक्तम्। उपलब्धिरिति ज्ञानमुच्यते। लक्ष्यते इति लक्षणम्। विषय इति शेषः। उपलब्धेर्लक्षणमिति उपलब्धिलक्षणम्, तं प्राप्त इति उपलब्धिलक्षणप्राप्तः। योग्योपलब्धिविषय इति शेषः।

अनुपलब्धेरिति। अदर्शनादित्यर्थः। अयमर्थः—प्रदेशादौ दृश्यघटाद्यदर्शनात्। घटशून्यदेशदर्शनादिति शेष इति ॥ १२ ॥

ननु का सा उपलब्धिलक्षणप्राप्तिः? इत्याशङ्कायामाह—उपलब्धीत्यादि।

[ध०] इति **विशेषः** प्रतिपत्तृप्रत्यक्षः। तादृशश्च न सर्वः प्रदेशः। तदाह—**क्वचिदिति**। प्रतिपत्तृप्रत्यक्षे क्वचिदेव **प्रदेशे** इति धर्मी। **न घट** इति साध्यम्। उपलब्धिर्ज्ञानम्। तस्या लक्षणं जनिका सामग्री। तया हि उपलब्धिर्लक्ष्यते। तत्प्राप्तोऽर्थो जनकत्वेन सामग्र्यन्तर्भावात्। **उपलब्धि**लक्षणप्राप्तो दृश्य इत्यर्थः। तस्य **अनुपलब्धेः**—इत्ययं हेतुः।

अथ यो यत्र नास्ति स कथं तत्र दृश्यः? दृश्यत्वसमारोपादसन्नपि दृश्य उच्यते। यश्चैवं सम्भाव्यते—यद्यसावत्र भवेद् दृश्य एव भवेदिति। स तत्र अविद्यमानोऽपि दृश्यः समारोप्यः। कश्चैवं सम्भाव्यः? यस्य समग्राणि स्वावलम्बनदर्शनकारणानि भवन्ति। कदा च तानि समग्राणि गम्यन्ते? यदा एकज्ञानवस्त्वन्तरोपलम्भः। एकेन्द्रियज्ञानग्राह्यं लोचनादिप्रणिधानाभिमुखं वस्तुद्वयमन्योन्यापेक्षमेकज्ञानसंसर्गि कथ्यते। तयोर्हि सतोर्नैकनियमता भवति प्रतिपत्तिः; योग्यताया द्वयोरप्यविशिष्टत्वात्। तस्मादेकज्ञानसंसर्गिणि दृश्यमाने सत्येकस्मिन् इतरत् समग्रदर्शनसामग्रीकं यदि भवेद्, दृश्यमेव भवेदिति सम्भावितं दृश्यत्वमारोप्यते। तस्यानुपलम्भो दृश्यानुपलम्भः। तस्मात् स एव घटविविक्तप्रदेशः, तदालम्बनं च ज्ञानं दृश्यानुपलम्भनिश्चयहेतुत्वाद् दृश्यानुपलम्भ उच्यते।

यावद्धि एकज्ञानसंसर्गि वस्तु न निश्चितम्, तज्ज्ञानं च; न तावद् दृश्यानुपलम्भनिश्चयः। ततो वस्तु अनुपलम्भ उच्यते, तज्ज्ञानं च। दर्शननिवृत्तिमात्रं स्वयमनिश्चितत्वादगमकम्। ततो दृश्यघटरहितः प्रदेशः, तज्ज्ञानं च वचनसामर्थ्यादेव दृश्यानुपलम्भरूपमुक्तं द्रष्टव्यम् ॥ १२ ॥

का पुनरुपलब्धिलक्षणप्राप्तिः? इत्याह—**उपलब्धी**त्यादि। उपलब्धि-

१४. यः स्वभावः सत्स्वन्येषूपलम्भप्रत्ययेषु सन् प्रत्यक्ष एव भवति स स्वभावविशेषः ॥

१५. स्वभावः स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः ॥

[न्या०] उपलम्भ इति। ज्ञानम्। तस्य प्रत्ययान्तराणि उपलम्भप्रत्ययान्तराणि। उपलम्भप्रत्ययस्तत्र घट एव। ततोऽन्यानि अनन्तरप्रत्ययादीनि। तेषां साकल्यम् उपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यम्। साकल्यशब्देन समावेश उच्यते। स्वभावश्च विशेषश्च इति स्वभावविशेषः। तद् द्वयम् उपलब्धिलक्षणप्राप्तिशब्देनोच्यते इति ॥ १३ ॥

ननु कोऽयं स्वभावविशेषः ? इत्याकाङ्क्षायामाह—सत्स्विति।

यः स्वभावः सन् चक्षुरादिसन्निधाने विप्रकर्षप्रकारत्रयेण अविप्रकृष्टः शक्यदर्शनः, स एवात्र स्वभावविशेष उच्यते। तेन चक्षुरादिसन्निधानेऽपि प्रत्यक्षयोग्यघटानुपलब्धेः 'अत्र घटो नास्ति' इत्ययमर्थ उक्त इति ॥ १४ ॥

स्वभावहेतुलक्षणनिर्देशार्थमाह—स्वभाव इति।

[ध०]लक्षणप्राप्तिः उलब्धिलक्षणप्राप्तत्वम्,घटस्य **उपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्य**मिति। ज्ञानस्य घटोऽपि जनकः, अन्ये च चक्षुरादयः। घटाद् दृश्यादन्ये हेतवः प्रत्ययान्तराणि, तेषां साकल्यं सन्निधिः। **स्वभाव** एव विशिष्यते तदन्यस्मादिति विशेषो विशिष्ट इत्यर्थः। तदयं विशिष्टः स्वभावः प्रत्ययान्तरसाकल्यं च—एतद् द्वयमुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वं घटादेर्द्रष्टव्यम् ॥ १३ ॥

कीदृशः स्वभावविशेषः ? इत्याह—**यः स्वभाव** इत्यादि।

सत्स्वित्यादि। उपलम्भस्य यानि घटाद् दृश्यात् प्रत्ययान्तराणि तेषु सत्सु विद्यमानेषु यः स्वभावः सन् प्रत्यक्ष एव भवति स स्वभावविशेषः।

तदयमत्रार्थः—एकप्रतिपत्त्रपेक्षमिदं प्रत्ययलक्षणम्। तथा च सति द्रष्टुं प्रवृत्तस्यैकस्य द्रष्टुर्दृश्यमान उभयवान् भावः। अदृश्यमानास्तु देशकालस्वभावविप्रकृष्टाः स्वभावविशेषरहिताः प्रत्ययसाकल्पवन्तस्तु। यैर्हि प्रत्ययैः स द्रष्टा पश्यति ते सन्निहिताः। अतश्च सन्निहिता यद् द्रष्टुं प्रवृत्तः सः। द्रष्टुमप्रवृत्तस्य तु योग्यदेशस्था अपि द्रष्टुं ते न शक्याः प्रत्ययान्तरवैकल्यवन्तः स्वभावविशेषयुक्तास्तु। दूरदेशकालास्तु उभयविकलाः। तदेवं पश्यतः कस्यचिन्न प्रत्ययान्तरविकलो नाम, स्वभावविशेषविकलस्तु भवेत्। अपश्यतस्तु द्रष्टुं शक्यो योग्यदेशस्थः प्रत्ययान्तरविकलः; अन्ये तूभयविकला इति ॥ १४ ॥

अनुपलब्धिमुदाहृत्य स्वभावमुदाहर्तुमाह—**स्वभाव** इत्यादि। स्वभावो

१६. यथा–वृक्षोऽयम्, शिंशपात्वात् इति ॥

१७. कार्यं यथा––'वह्निरत्र धूमात्' इति ॥

१८. अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ, एकः प्रतिषेधहेतुरिति ॥

[न्या०] सत्तामात्रमिति । साधनसत्तामात्रम् । सत्तामात्रे भवितुं शीलं यस्य स सत्तामात्रभावी, तस्मिन् सत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे स्वभावहेतुर्बोध्यः ॥ १५ ॥

यथा वृक्ष इति । अत्र वृक्षस्य शिंशपामात्रेण सम्बन्धः। तस्मात् तेन साध्यते ॥१६॥

कार्यहेतुरुदाह्रियते । अग्निनिर्भरोत्पत्तिकत्वाद् 'यत्र धूमस्तत्र वह्निः' इत्यवगम्यते ॥ १७ ॥

अथ कस्मात् 'लिंगं त्रिविधम्' इति व्यवस्थितिः ? इत्याशङ्कायामाह––अत्र द्वाविति ।

यस्मादनुमेयो भावाभावरूपो द्विविधः, तस्माद् हेतुरपि १. भावसाधनः, २. अभावसाधनश्च द्विविध एव । अनुमेयोऽपि भावरूपो द्विविधः––१. भिन्नः, २. अभिन्नश्च ।

[ध०] हेतुरिति सम्बन्धः । कीदृशो हेतुः साध्यस्य स्वभावः ? इत्याह—स्वस्य आत्मनः सत्ता, सैव केवला स्वसत्तामात्रम् । तस्मिन् सति भवितुं शीलं यस्येति । यो हेतोरात्मनः सत्तामपेक्ष्य विद्यमानो भवति, न तु हेतुसत्ताया व्यतिरिक्तं कञ्चिद् हेतुमपेक्षते स स्वसत्तामात्रभावी साध्यः । तस्मिन् साध्ये यो हेतुः स स्वभावस्तस्य साध्यस्य, नान्यः ॥ १५ ॥

उदाहरणम्—यथेति । अयमिति धर्मी । वृक्ष इति साध्यम् । शिंशपात्वादिति हेतुः । तदयमर्थः—वृक्षव्यवहारयोग्योऽयम्, शिंशपाव्यवहारयोग्यत्वादिति । तत्र प्रचुरशिंशपे देशेऽविदितशिंशपाव्यवहारो जडो यदा केनचिदुच्चां शिंशपामुपादर्श्योच्यते–'अयं वृक्ष' इति, तदा असौ जाड्याच्छिंशपाया उच्चत्वमपि वृक्षव्यवहारस्य निमित्तमवस्यति । स मूढः शिंशपात्वमात्रनिमित्तो वृक्षव्यवहारे प्रवर्त्यते, नोच्चत्वादि निमित्तान्तरमिह वृक्षव्यवहारस्य, अपितु शिंशपात्वमात्रं निमित्तम् । शिंशपागतशाखादिमत्त्वं निमित्तमित्यर्थः ॥ १६ ॥

कार्यमुदाहर्तुमाह––**कार्यमित्यादि** । वह्निरिति साध्यम् । अत्रेति धर्मी । धूमादिति हेतुः । कार्यकारणभावो लोके प्रत्यक्षानुपलम्भनिबन्धनः प्रतीत इति न स्वभावस्येव कार्यस्य लक्षणमुक्तम् ॥ १७ ॥

ननु त्रिरूपत्वादेकमेव लिङ्गं युक्तम्, अत्र प्रकारभेदाद् भेदः, एवं सति स्वभावहेतोरेकस्यानन्तप्रकारत्वात् त्रित्वमयुक्तम् ? इत्याह—अत्र द्वाविति ।

१९. स्वभावप्रतिबन्धे हि सत्यर्थोऽर्थं गमयेत् ॥

२०. तदप्रतिबद्धस्य तदव्यभिचारनियमाभावात् ॥

[न्या०] अनुमेयस्य भावरूपस्य द्वैविध्येन भावसाधनोऽपि द्विविधो भवति । तथा हि—१. साध्यहेत्वोः स्वरूपभेदे अभिन्नं साध्यं साधयितुं न शक्नोति । २. साध्यहेत्वोः स्वरूपाभेदे च भिन्नं साध्यं साधयितुं न शक्नोति ।

तत्र साध्यसाधनयोरभेदे स्वभावहेतुः । साध्यसाधर्मयोर्भेदे च कार्यहेतुः । अनुपलब्धिस्तु अभावहेतुः । एतेन यस्माद् द्वाभ्यां भावसाधनम्, एकेन च प्रतिषेधसाधनम्, तस्मात् लिङ्गं त्रिविधम्—द्वे भावसाधने, एकं च प्रतिषेधकारणमिति दर्शितमिति ॥ १८ ॥

अथ कस्माद् द्वावेव वस्तुसाधनौ इति चेत् ? तत्राह स्वभाव इति ।

स्वभावेन = स्वरूपेण प्रतिबन्धः स्वभावप्रतिबन्धः । तत्सत्त्वे एव लिङ्गलक्षणार्थेन साध्यलक्षणार्थस्य प्रत्यायनमिति शेषः ॥ १९ ॥

कस्मात् स्वभावप्रतिबन्धसत्त्व एव अर्थोऽर्थं गमयेदिति चेत् ? तत्राह—तदप्रतीत्यादि ।

[ध.]अत्रेति । एषु त्रिषु हेतुषु मध्ये,द्वौ हेतू वस्तुसाधनौ विधेः साधनौ गमकौ । एकः प्रतिषेधस्य हेतुर्गमकः । प्रतिषेध इति चाभावोऽभावव्यवहारश्चोक्तो द्रष्टव्यः ।

तदयमर्थः—हेतुः साध्यसिद्ध्यर्थत्वात् साध्याङ्गम्, साध्यं प्रधानम् । अतश्च साध्योपकरणस्य हेतोः प्रधानसाध्यभेदाद् भेदः; न स्वरूपभेदात् । साध्यश्च कश्चिद् विधिः, कश्चित् प्रतिषेधः । विधिप्रतिषेधयोश्च परस्परपरिहारेणानवस्थानात् तयोर्हेतू भिन्नौ । विधिरपि कश्चिद्धेतोर्भिन्नः, कश्चिदभिन्नः । भेदाभेदयोरप्यन्योन्यत्यागेनात्मस्थितेर्भिन्नौ हेतू । ततः साध्यस्य परस्परविरोधात् हेतवो भिन्नाः, न तु स्वत एवेति ॥ १८ ॥

कस्मात् पुनस्त्रयाणां हेतुत्वम्, कस्माच्चान्येषामहेतुत्वम् ?—इत्याशङ्क्य यथा त्रयाणामेव हेतुत्वम्, अन्येषां चाहेतुत्वम्, तदुभयं दर्शयितुमाह—**स्वभावप्रतिबन्ध** इति । स्वभावेन प्रतिबन्धः स्वभावप्रतिबन्धः । "साधने कृता" (व्या० महा० २. १. ३३) इति समासः । स्वभावप्रतिबद्धत्वं प्रतिबद्धस्वभावत्वमित्यर्थः । कारणे स्वभावे च साध्ये स्वभावेन प्रतिबन्धः कार्यस्वभावयोरविशिष्ट इत्येकेन समासेन द्वयोरपि संग्रहः । हिर्यस्मादर्थे । यस्मात् स्वभावप्रतिबन्धे सति साधनार्थः साध्यं गमयेत्, तस्मात् त्रयाणां गमकत्वम्, अन्येषामगमकत्वम् ॥ १९ ॥

कस्मात् पुनः स्वभावप्रतिबन्ध एव सति गम्यगमकभावः, नान्यथा ?

२१. **स च प्रतिबन्धः साध्येऽर्थे लिङ्गस्य ॥**

[न्या०] यतो यन्न प्रतिबद्धम्, तन्नार्थनिश्चयाव्यभिचारि; तस्मात् प्रतिबन्धे सत्येव गम्य-गमकभावो वेदितव्यः, नान्यथेति ॥ २० ॥

स च तावत् कस्य प्रतिबन्धः, केन रूपेण वा प्रतिबन्धः ? इति प्रदर्शनार्थमाह—स चेति ।

यस्मात् परमार्थतो लिंगं क्वचित् साध्यार्थस्वभावमेव, तस्मात् तत् तेन प्रतिबद्धम् ॥ २१ ॥

[ध०] इत्याह—**तदप्रतिबद्धस्येति** । तदिति स्वभावः उक्तः। तेन स्वभावेनाप्रतिबद्धः तदप्रतिबद्धः। यो यत्र स्वभावेन प्रतिबद्धः,तस्य तदप्रतिबद्धस्य। तदव्यभिचारनियमाभावात् । तस्याप्रतिबन्धविषयस्याव्यभिचारः तदव्यभिचारः, तस्य नियमः तदव्यभिचारनियमः, तस्याभावात् ।

तदयमर्थः—न हि यो यत्र स्वभावेन न प्रतिबद्धः, स तमप्रतिबन्धविषयमवश्यमेव न व्यभिचारतीति नास्ति तयोरव्यभिचारनियमः=अविनाभावनियमः। अव्यभिचारनियमाच्च गम्य-गमकभावः। न हि योग्यतया प्रदीपवत् परोक्षार्थप्रतिपत्तिनिमित्तमिष्टं लिङ्गम्, अपि तु अव्यभिचारित्वेन निश्चितम्। ततः स्वभावप्रतिबन्धे सत्यविनाभावित्वनिश्चयः, ततो गम्य-गमकभावः। तस्मात् स्वभावप्रतिबन्धे सत्यर्थोऽर्थं गमयेत्, नान्यथेति स्थितम् ॥ ॥ २० ॥

ननु च परायत्तस्य प्रतिबन्धोऽपरायत्ते, तदिह साध्यसाधनयोः कस्य क्व प्रतिबन्धः ? इत्याह—स चेति। स च स्वभावप्रतिबन्धो लिङ्गस्य साध्येऽर्थे। लिङ्गं परायत्तत्वात् प्रतिबद्धम्। साध्यस्त्वर्थोऽपरायत्तत्वात् प्रतिबन्धविषयः, न तु प्रतिबद्ध इत्यर्थः। तत्रायमर्थः—तादात्म्यविशेषेऽपि यत् प्रतिबद्धं तद् गमकम्। यत् प्रतिबन्धविषयस्तद् गम्यम्। यस्य च धर्मस्य यो नियतः स्वभावः स तत्प्रतिबद्धः। यथा प्रयत्नानन्तरीयकत्वाख्योऽनित्यत्वे। यस्य तु स चान्यश्च स्वभावः स प्रतिबन्धविषयः, न तु प्रतिबद्धः। यथाऽनित्यत्वाख्यः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाख्ये। निश्चयापेक्षो हि गम्यगम्यकभावः। प्रयत्नानन्तरीयकत्वमेव चानित्यस्वभावं निश्चितम्। अतस्तदेवानित्यत्वे प्रतिबद्धम्। तस्मान्नियतविषय एव गम्यगम्यकभावः, नान्यथेति ॥ २१ ॥

२२. साध्यार्थतादात्म्यात्[1] साध्यार्थादुत्पत्तेश्च ॥

२३. अतत्स्वभावस्यातदुत्पत्तेश्च तत्राप्रतिबद्धस्वभावत्वात् ॥

[न्या०] साध्यार्थतादात्म्यादिति। यस्मात् लिङ्गं क्वचित् साध्यार्थादेवोत्पद्यते, तस्मात् तत् तेन प्रतिबद्धमिति ॥ २२ ॥

अथ कथमुच्यते—साध्यार्थतादात्म्यात् साध्यार्थादुत्पत्तेश्चैव लिङ्गस्य प्रतिबन्ध इति चेत् ? तत्राह—अतत्स्वभावस्येति ।

यच्च न साध्यैकस्वभावम्, यदपि च नोत्पद्यते साध्यार्थात् तस्य तेन प्रतिबन्धः केन प्रकारेणाभिधीयेत ! अप्रतिबद्धं च न लिङ्गम्, अतिप्रसङ्गात्। तस्मात् तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव प्रतिबन्धो वक्तव्यः, नान्यथेति ॥ २३ ॥

भवतु तावत् तथैव, ततश्च किमायातमिति चेत् ? आह—ते चेति ।

[ध०] कस्मात् पुनः स्वभावप्रतिबन्धो लिङ्गस्य ? इत्याह—वस्तुत इत्यादि। स साध्योऽर्थ आत्मा स्वभावो यस्य तत् तदात्मा, तस्य भावस्तादात्म्यम्, तस्माद्धेतोः। यतः साध्यस्वभावं साधनं तस्मात्। तत्र **स्वभावप्रतिबन्ध** इत्यर्थः।

यदि साध्यस्वभावं साधनम्, साध्यसाधनयोरभेदात् प्रतिज्ञार्थैकदेशो हेतुः स्यात् ? इत्याह—**वस्तुत** इति। परमार्थसत्तारूपेणाभेदस्तयोः। विकल्पविषयस्तु यत् समारोपितं रूपम्, तदपेक्षः साध्यसाधनभेदः। निश्चयापेक्ष एव हि गम्यगमकभावः। ततो निश्चयारूढरूपापेक्ष एव तयोर्भेदो युक्तः, वास्तवस्त्वभेद इति। न केवलात् तादात्म्याद्, अपि तु ततः तदुत्पत्तेश्च साध्येऽर्थे स्वभावप्रतिबन्धो लिङ्गस्य ॥ २२ ॥

कस्मान्निमित्तद्वयात् स्वभावप्रतिबन्धो लिङ्गस्य, नान्यस्मात् ? इत्याह—**अतत्स्वभावस्ये**त्यादि। स स्वभावोऽस्य सोऽयं तत्स्वभावः। न तत्स्वभावोऽतत्स्वभावः। तस्मादुत्पत्तिरस्य सोऽयं तदुत्पत्तिः, न तथाऽतदुत्पत्तिः। यो यत्स्वभावो यदुत्पत्तिश्च न भवति तस्य अतत्स्वभावस्य अतदुत्पत्तेश्च। अत्र अतत्स्वभावे अनुत्पादके चाप्रतिबद्धः स्वभावोऽस्येति सोऽयमप्रतिबद्धस्वभावः, तस्य भावोऽप्रतिबद्धस्वभावत्वम्, तस्माद् अप्रतिबद्धस्वभावत्वात्।

यद्यतत्स्वभावेऽनुत्पादके च कश्चित् प्रतिबद्धस्वभावो भवेद्, भवेदन्यतोऽपि निमित्तात् स्वभावप्रतिबन्धः। प्रतिबद्धस्वभावत्वं हि स्वभावप्रतिबन्धः। न चान्यः कश्चिदायत्तस्वभावः। तस्मात् तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव स्वभावप्रतिबन्धः ॥ २३ ॥

भवतु नाम तादात्म्यदुत्पत्तिभ्यामेव स्वभावप्रतिबन्धः, कार्यस्वभाव-

---

१. वस्तुतस्तादात्म्यात्—इति धर्मोत्तरसम्मतः पाठः।

२४. ते च तादात्म्यतदुत्पत्ती स्वभाव-कार्ययोरेवेति ताभ्यामेव वस्तुसिद्धिः॥

२५. प्रतिषेधसिद्धिरपि यथोक्ताया एवानुपलब्धेः ॥

२६. सति वस्तुनि तस्या असम्भवात् ॥

[न्या०] तादात्म्यं स्वभावहेतोः प्रतिबन्धः । तदुत्पत्तिः कार्यहेतोः प्रतिबन्धः । अत एव ताभ्यामेव वस्तुसिद्धिरित्युक्तम् । यस्मात् तादात्म्यतदुत्पत्ती स्वभावकार्ययोरेव, तस्मात् ताभ्यामेव वस्तुसिद्धिः शक्या, न त्वन्येन अप्रतिबद्धेन । ततश्च वस्तुसिद्धिर्द्वाभ्यामेवेति स्थितम् ॥ २४ ॥

'एकश्च प्रतिषेधहेतुः' (न्या० बि० सू० २-१८) इत्युक्तम्, को नामासौ ? इत्याह—प्रतिषेधेत्यादि ।

'उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः' (न्या० बि० सू० २-१२) इति यदुक्तं प्राक्, तद् द्वयमेव प्रतिषेधहेतुः ॥ २५ ॥

कथमिति चेत् ? आह—सति वस्तुनीति ।

तथा हि—वस्तुनि विद्यमाने सा न सम्भवति ॥ २६ ॥

'यथोक्ता अनुपलब्धिरेव वस्त्वभावव्यवहारसाधिका' इति, एतच्च कस्मादिति चेत् ? आह—अन्यथेति ।

[ध०] योरेव तु गमकत्वं कथम् ? इत्याह—ते चेति । इतिः तस्मादर्थे । यस्मात् स्वभावे कार्ये एव च तादात्म्यतदुत्पत्ती स्थिते, तन्निबन्धनश्च गम्यगमकभावः, तस्मात् ताभ्यामेव कार्यस्वभावाभ्यां वस्तुनो विधेः सिद्धिः ॥ २४ ॥

अथ प्रतिषेधसिद्धिरदृश्यानुपलम्भादपि कस्मान्नेष्टा ? इत्याह—प्रतिषेधेत्यादि । प्रतिषेधव्यवहारस्य सिद्धिर्यथोक्ता या दृश्यानुपलब्धिस्तत एव भवति यतस्तस्मादन्यतो नोक्ता ॥ २५ ॥

ततस्तावत् कस्माद् भवति ? इत्याह—सतीत्यादि । सति तस्मिन् प्रतिषेध्ये वस्तुनि, यस्माद् दृश्यानुपलब्धिर्न सम्भवति तस्माद् असम्भवात् ततः प्रतिषेधसिद्धिः ॥ २६ ॥

अथ तत एव कस्माद् ? इत्याह—अन्यथा चेति । सति वस्तुनि तस्या अदृश्यानुपलब्धेः सम्भवाद्—इत्यन्यथाशब्दस्यार्थः । एतस्मात् नान्यस्या अनुपलब्धेः प्रतिषेधसिद्धिः ।

कुत एतत्—सत्यपि वस्तुनि तस्याः सम्भवः ? इत्याह—अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तेष्वित्यादि । इह प्रत्ययान्तरसाकल्यात् स्वभावविशेषाच्चो-

२७. अन्यथा चानुपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु देश-काल-स्वभावविप्रकृष्टेष्वर्थेषु आत्मप्रत्यक्षनिवृत्तेरभावनिश्चयाभावात् ॥

२८. अमूढस्मृतिसंस्कारस्यातीतस्य वर्तमानस्य च प्रतिपत्तृप्रत्यक्षस्य निवृत्तिरभावव्यवहारसाधनी ॥

[न्या०] यदि यथोक्तो विशेषो नाश्रीयते, तदा देश-कालस्वभावैर्विप्रकृष्टा व्यवहिता येऽर्था नोपलब्धिलक्षणप्राप्ताः तेषु च या प्रतिपत्तृप्रत्यक्षनिवृत्तिः, तया अभावनिश्चयो न शक्यते । च इति । यस्मादित्यर्थे बोध्यम् । देशश्च कालश्च स्वभावश्चेति देशकालस्वभावा, तैविप्रकृष्टेष्वित्यर्थः । तत्रापरिमेयदेशेन व्यवहिता देशविप्रकृष्टाः, अनेककल्पने व्यवहिताः कालविप्रकृष्टाः, अतीन्द्रियाश्च भावाः स्वभावविप्रकृष्टा वेदितव्याः ।

तस्मादिह 'अनुपलब्धिलक्षणप्राप्ता' इत्यनेनोपलब्धिप्रत्ययसाकल्याभाव उक्तः । 'देशकालस्वभावविप्रकृष्टाः' इत्यनेन स्वभावविशेषेण अभाव उपदर्शितः । तस्मात् यथोक्ता अनुपलब्धिरेव प्रतिषेधसाधिका इति स्थितम् । एवं क्वचित् कालविशेषेऽग्रहेऽपि यथोक्ता अनुपलब्धिरेव प्रतिषेधसाधिका भवतीत्युच्यते ॥ २७ ॥

इदानीमुक्तकालविशेषेण सिद्धिनिर्देशार्थमाह--अमूढेत्यादि ।

स्मृतिजनकः संस्कारः स्मृतिसंस्कारः । स्मृतिबीजमिति शेषः । अमूढः स्मृति-

[ध०] पलब्धिलक्षणप्राप्तोऽर्थ उक्तः । द्वयोरेकैकस्याप्यभावेऽनुपलब्धिलक्षणप्राप्तोऽर्थ उच्यते ।

तदिह 'अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु' इति प्रत्ययान्तरवैकल्यवन्तः उक्ताः । 'देशकालस्वभावविप्रकृष्टेषु' इति स्वभावविशेषरहिता उक्ताः । देशश्च कालश्च स्वभावश्च तैर्विप्रकृष्टा इति विग्रहः । तेष्वभावनिश्चयस्याभावात् सत्यपि वस्तुनि तस्याभाव इष्टः ।

कस्मान्निश्चयाभावः ? इत्याह--तेषु प्रतिपत्तुरात्मनो यत् प्रत्यक्षं तस्य निवृत्तेः कारणात् निश्चयाभावः । यस्मादनुपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु आत्मप्रत्यक्षनिवृत्तेरभावनिश्चयाभावः, तस्मात् सत्यपि वस्तुनि आत्मप्रत्यक्षनिवृत्तिलक्षणाया अदृश्यानुपलब्धेः सम्भवः । ततो यथोक्ताया एव प्रतिषेधसिद्धिः ॥ २७ ॥

अथेयं दृश्यानुपलब्धिः कस्मिन् काले प्रमाणम् ? किंस्वभावा ? किंव्यापारा च ? इत्याह--अमूढेत्यादि । प्रतिपत्तुः प्रत्यक्षो घटादिरर्थः, तस्य निवृत्तिरनुपलब्धिः, तदभावस्वभावेति यावत् । अत एवाभावो न साध्यः स्वभावानुपलब्धेः, सिद्धत्वात् । अविद्यमानोऽपि च घटादिरेकज्ञानसंसर्गिणि

[न्या०] संस्कारो यस्मिन् घटादौ स तथोक्तः। अतीतस्य वर्तमानस्य च प्रतिपत्तृप्रत्यक्षस्य निवृत्तिरिति। अतीतवर्तमानकालयोर्यः शून्यप्रदेशादिरुपलब्धः तत्प्रदेशादिसमानयोग्यो यो घटादिः स एवातीतवर्तमानत्वेनोच्यते। अन्यथा प्रदेशादौ घटाद्यभावे चातीतत्वं वर्तमानत्वं च कुतः स्यात्!

प्रतिपत्ता च देवदत्तादिः। तस्य प्रत्यक्षेण परिच्छेद्यत्वाद् घटादिः प्रत्यक्षः। अत्रापि प्रत्यक्षपरिच्छेद्यप्रदेशादिसमानयोग्यरूपत्वाद् घटादिः प्रत्यक्ष इत्युच्यते। परमार्थतस्तत्र घटाद्यभावे कथं प्रत्यक्षत्वं स्यात्! एवमुक्तप्रकारेण प्रतिपत्तृप्रत्यक्षस्यातीतस्य वर्तमानस्य च निवृत्तिरभावाश्रितत्वादपरवस्तुलक्षणा। घटादिशून्यदेशविशेषस्वरूपा भवतीति शेषः।

अभावव्यवहारस्तु 'इह घटो नास्ति' इत्येवमाकारं विज्ञानम्, तदभिधानम्, निःशङ्कं प्रदेशादौ गमनलक्षणा प्रवृत्तिश्च। ज्ञानाभिधानप्रवृत्तिलक्षणो व्यवहारः

[ध.]भूतले भासमाने समग्रसामग्रीको ज्ञायमानो दृश्यतया सम्भावितत्वात् प्रत्यक्ष उक्तः। अत एकज्ञानसंसर्गी दृश्यमानोऽर्थस्तज्ज्ञानं च प्रत्यक्षनिवृत्तिरुच्यते। ततो हि दृश्यमानादर्थात् तद्बुद्धेश्च समग्रदर्शनसामग्रीकत्वेन प्रत्यक्षतया सम्भावितस्य निवृत्तिरवसीयते। तस्मादर्थज्ञाने एव प्रत्यक्षस्य घटस्याभाव उच्यते। न तु निवृत्तिमात्रमिहाभावः; निवृत्तिमात्राद् दृश्यनिवृत्त्यनिश्चयात्।

ननु च दृश्यनिवृत्तिरवसीयते, दृश्यानुपलम्भात्? सत्यमेवैतत्; केवलमेकज्ञानसंसर्गिणि दृश्यमाने घटो यदि भवेद् दृश्य एव भवेदिति दृश्यः सम्भावितः। ततो दृश्यानुपलब्धिर्निश्चिता। दृश्यानुपलब्धिनिश्चयसामर्थ्यादेव च दृश्याभावो निश्चितः। यदि हि दृश्यस्तत्र भवेद्, दृश्यानुपलम्भो न भवेत्। अतो दृश्यानुपलम्भनिश्चयाद् दृश्याभावः सामर्थ्यादवसितः, न व्यवहृत इति दृश्यानुपलम्भेन व्यवहर्तव्यः।

तस्मादर्थान्तरम्—एकज्ञानसंसर्गि दृश्यमानम्, तज्ज्ञानं च प्रत्यक्षनिवृत्तिनिश्चयहेतुत्वात् प्रत्यक्षनिवृत्तिरित्युक्तं द्रष्टव्यम्।

यथा चैकज्ञानसंसर्गिणि प्रत्यक्षे घटस्य प्रत्यक्षत्वमारोपितमसतोऽपि, तथा तस्मिन्नेकज्ञानसंसर्गिण्यतीते चामूढस्मृतिसंस्कारे, वर्तमाने च घटस्य तत्तद्रूपमारोपितमसत इति द्रष्टव्यम्। अनेन च दृश्यानुपलब्धिः प्रत्यक्षघटनिवृत्तिस्वभावोक्ता, सा च सिद्धा। तेन न घटाभावः साध्यः, अपितु अभावव्यवहार इत्युक्तम्।

[न्या०] साध्यतेऽनयेति अभावव्यवहारसाधनी। तदेवमतीत-वर्तमानोत्पन्नविषया अनुपलब्धिरेव अभावव्यवहारसाधनी, भाविविषया तु नेत्युक्तं भवति। तथा हि—भाविकालस्य प्रदेशादिर्धर्मी न प्रत्यक्षः। शून्यप्रदेशोपलब्धिलक्षणा अनुपलब्धिरपि न सिध्यति। अतीतकालस्य तु धर्मी प्रत्यक्षः घटशून्यप्रदेशश्च स्मर्यते। तदुभयहेतोरमूढस्मृतिसंस्कार इत्युक्तम्। तस्माद् विगतादिदिवसीयघटादिशून्यप्रदेशादिस्मरणे अभावव्यवहारसिद्धिर्भवति। वर्तमानकालस्य च धर्मी घटादिशून्यप्रदेशादिरपि प्रत्यक्षसिद्धः। तस्मात् तत्राभावव्यवहारसम्बन्धः सुलभः।

अमूढस्मृतिसंस्कार इत्युक्त्वा हेत्वसिद्धिर्निरस्ता। अन्यथा शून्यप्रदेशाद्यस्मरणेऽनुपलब्धिरेव न सिध्यति। अतीत-वर्तमान इत्यनेनोक्तः कालविशेषो निर्दिष्टः।

[ध०] **अमूढो**ऽभ्रष्टो दर्शनाहितः **स्मृ**तिजननरूपः **संस्कारो** यस्मिन् घटादौ स तथोक्तः। **तस्यातीतस्य** प्रतिपत्तृप्रत्यक्षस्येति सम्बन्धः। **वर्तमानस्य च** प्रतिपत्तृप्रत्यक्षस्येति सम्बन्धः। अमूढस्मृतिसंस्कारग्रहणं तु न वर्तमानविशेषणम्। यस्मादतीते घटविविक्तप्रदेशदर्शने स्मृतिसंस्कारो मूढो दृश्यघटानुपलम्भे दृश्ये च घटेऽमूढो भवति। वर्तमाने तु घटरहितप्रदेशदर्शने न स्मृतिसंस्कारमोहः। अत एव न घटाभावे नापि घटानुपलम्भे घटे मोहः। तस्मान्न वर्तमाननिषेध्यविशेषणममूढस्मृतिसंस्कारग्रहणम्। स्मृतिसंस्कारव्यभिचाराभावाद्वर्तमानस्यार्थस्य। अत एव वर्तमानस्य चेति। च-शब्दः कृतो विशेषणरहितस्य वर्तमानस्य विशेषणवतातीतेन समुच्चयो यथा विज्ञायेतेति।

तदयमर्थः—अतीतोऽनुपलम्भः स्फुटं स्मर्यमाणः प्रमाणं वर्तमानश्च। ततो नासीदिह घटोऽनुपलब्धत्वान्नास्त्यनुपलभ्यमानत्वादिति शक्यं ज्ञातुम्। न तु न भविष्यत्यत्र घटोऽनुपलप्स्यमानत्वादि शक्यं ज्ञातुम्। अनागताया अनुपलब्धेः सत्त्वसन्देहादिति कालविशेषोऽनुपलब्धेर्व्याख्यातः।

व्यापारं दर्शयति—अभावस्य व्यवहारः 'नास्ति' इत्येवमाकारकं ज्ञानम्, शब्दश्चैवमाकारः, निश्शङ्कं गमनागमनलक्षणा च प्रवृत्तिः कायिकोऽभावव्यवहारः। घटाभावे हि ज्ञाते निःशङ्कं गन्तुमागन्तुं च प्रवर्तते।

तदेतस्य त्रिविधस्यापि **अभावव्यवहारस्य** दृश्यानुपलब्धिः **प्रवर्तनी** साधनी प्रवर्तिका।

यद्यपि च 'नास्ति घटः' इति ज्ञानमनुपलब्धेरेव भवति। अयमेव चाभावनिश्चयः, तथापि यस्मात् प्रत्यक्षेण केवलः प्रदेश उपलब्धस्तस्मात् 'इह घटो नास्ति' इत्येवं च प्रत्यक्षव्यापारमनुसरत्यभावनिश्चयः, तस्मात् प्रत्यक्षस्य केवलप्रदेशग्रहणव्यापारानुसार्यभावनिश्चयः प्रत्यक्षकृतः।

२९. तस्या एवाभावनिश्चयात् ॥

३०. सा च प्रयोगभेदादेकादशप्रकारा ॥

[न्या०] प्रतिपत्तृ-प्रत्यक्ष इत्युक्त्वा च निखिलप्रतिपत्तृप्रत्यक्षं निरस्तम् । निखिलप्रतिपत्तृप्रत्यक्षोक्तौ हि हेतुरसिद्ध एव स्यात् । सकलप्रतिपत्तृप्रत्यक्षनिवृत्तिस्तु प्रतिवाद्यसिद्धा इति ॥ २८ ॥

'अनन्तरोक्ता अनुपलब्धिरेवाभावव्यवहारसाधनी' इत्येतदेव कस्मात् इति चेत् ? आह—तस्या इति ।

अनुपहतस्मृतिबीजस्य प्रतिपत्तृ-प्रत्यक्षस्यातीतवर्तमानोत्पन्नविषयवस्तुनो या निवृत्तिस्तयैवाभावनिश्चयः शक्यते, अन्यया भाविविषयया तु न ॥ २९ ॥

तदेवं पूर्वोक्तहेतुना अनुपलब्धिस्वरूपं कालविशेषश्चाभिहितः । तस्या प्रयोगभेदप्रदर्शनार्थमाह—सा चेति ।

प्रयोग इति त्रिलक्षणसाधनस्य शब्देनाभिधानम् । तद्भेदादनुपलब्धिरेकादशप्रकारा भवति ॥ ३० ॥

[ध०] किञ्च—दृश्यानुपलम्भनिश्चयकरणसामर्थ्यादेव पूर्वोक्तया नीत्या प्रत्यक्षेणैवाभावो निश्चितः । केवलमदृष्टानामपि सत्त्वसम्भवात्, सत्त्वशङ्कया न शक्नोत्यसत्त्वं व्यवहर्तुम् । अतोऽनुपलम्भोऽभावं व्यवहारयति—'दृश्यो यतोऽनुपलब्धः, तस्मान्नास्ति' इति । अतो दृश्यानुपलम्भोऽभावज्ञानं कृतं प्रवर्तयति, न त्वकृतं करोति—इत्यभावनिश्चयोऽनुपलम्भात् प्रवृत्तोऽपि प्रत्यक्षेण कृतोऽनुपलम्भेन प्रवर्तित उक्त इत्यभावव्यवहारप्रवर्तन्यनुपलब्धिः ॥ २८ ॥

कस्मात् पुनरतीते, वर्तमाने चानुपलब्धिर्गमिका ? इत्याह—**तस्या एव** यथोक्तकालाया **अनुपलब्धेरभावनिश्चयात्** । अनागता ह्यनुपलब्धिः स्वयमेव सन्दिग्धस्वभावा । तस्या असिद्धाया नाभावनिश्चयः, अपि त्वतीतवर्तमानाया इति ॥ २९ ॥

सम्प्रत्यनुपलब्धेः प्रकारभेदं दर्शयितुमाह—**सा चेत्यादि** । **सा च** एषानुपलब्धिः **एकादशप्रकारा** एकादश प्रकारा अस्या इत्येकादशप्रकारा ।

कुतः प्रकारभेदः ? प्रयोगभेदात् । प्रयोगः = प्रयुक्तिः, शब्दस्याभिधाव्यापार उच्यते । शब्दो हि साक्षात् क्वचिदर्थान्तराभिधायी, क्वचित् प्रतिषेधान्तराभिधायी । सर्वत्रैव तु दृश्यानुपलब्धिरशब्दोपात्तापि गम्यत इति वाचकव्यापारभेदादनुपलम्भप्रकारभेदः, न तु स्वरूपभेदादिति यावत् ॥ ३० ॥

३१. स्वभावानुपलब्धिर्यथा--'नात्र धूमः' इति उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिरिति ॥ (१)

३२. कार्यानुपलब्धिर्यथा—नात्राप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति, धूमाभावादिति ॥ (२)

[न्या०] प्रकारभेदनिर्देशार्थमाह—स्वभावानुपलब्धिरिति ।

स्वभावस्य वस्तुस्वरूपस्य अनुपलब्धिरित्यर्थः । दृष्टान्तप्रदर्शनार्थमाह—यथेति । दृष्टान्तशब्दः । इह सर्वत्र तथा द्रष्टव्यम् । अत्र इति । अनेन धर्मी उक्तः । धूमो न इति । अनेन साध्यधर्म उक्तः ।

उपलब्धिप्रत्ययान्तरसत्त्वेऽपि योग्यस्वभावधूमानुपलब्धिरिति शेषः ॥ ३१ ॥

कार्यानुपलब्धिरिति । कार्यस्य अनुपलब्धिरिति विग्रहः । दृष्टान्तमाह—यथा नात्र अप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्तीति । अप्रतिबद्धसामर्थ्यानि यानि

[ध०] प्रकारभेदान् आह—स्वभावेत्यादि । प्रतिषेध्यस्य यः स्वभावस्तस्यानुपलब्धिर्यथेति । अत्रेति धर्मी । न धूम इति साध्यम् । उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति हेतुः । अयं च हेतुः पूर्ववद् व्याख्येयः ॥ ३१ ॥

प्रतिषेध्यस्य यत् कार्यम्, तस्यानुपलब्धिरुदाह्रियते—कार्येत्यादि । यथेति । इहेति धर्मी । अप्रतिबद्धम् = अनुपहतं धूमजननं प्रति सामर्थ्यं येषां तान्यप्रतिबद्धसामर्थ्यानि । न सन्तीति साध्यम् । धूमाभावादिति हेतुः ।

कारणानि च नावश्यं कार्यवन्ति भवन्तीति कार्यादर्शनादप्रतिबद्धसामर्थ्यानामेवाभावः साध्यः, न त्वन्येषाम् । अप्रतिबद्धशक्तीनि चान्त्यक्षणभावीन्येव, अन्येषां प्रतिबन्धसम्भवात् ।

कार्यानुपलब्धिश्च यत्र कारणमदृश्यं तत्र प्रयुज्यते । दृश्ये तु कारणे दृश्यानुपलब्धिरेव गमिका ।

तत्र धवलगृहोपरिस्थितो गृहाङ्गणमपश्यन्नपि चतुर्षु पार्श्वेष्वङ्गणभित्तिपर्यन्तं पश्यति । भित्तिपर्यन्तसमं चालोकसंज्ञकमाकाशदेशं धूमविविक्तं पश्यति; तत्र धूमाभावनिश्चयात् । यद्देशस्थेन वह्निना जन्यमानो धूमस्तद्देशः स्यात् । तस्य च वह्नेरप्रतिबद्धसामर्थ्यस्याभावः प्रतिपत्तव्यः । तद्गृहाङ्गणदेशेन च वह्निना जन्यमानो धूमस्तद्देशः स्यात् । तस्माद् तद्देशस्य वह्नेरभावः प्रतिपत्तव्यः । तद् गृहाङ्गणदेशं भित्तिपरिक्षिप्तं भित्तिपर्यन्तपरिक्षिप्तेन चालोकात्मना धूमविविक्तेनाकाशदेशेन सह धर्मिणं करोति । तस्माद् दृश्यमानादृश्यमानाकाशदेशावयवः प्रत्यक्षाप्रत्यक्षसमुदायो वह्न्यभावप्रतीतिसामर्थ्यायातो धर्मी, न दृश्यमान एव । अत्र इति तु प्रत्यक्षनिर्देशो दृश्यमानभागापेक्षः ।

३३. **व्यापकानुपलब्धिर्यथा**—'नात्र शिंशपा, वृक्षाभावादिति ।। (३)

३४. **स्वभावविरुद्धोपलब्धिर्यथा**—नात्र शीतस्पर्शः, अग्नेरिति ।। (४)

[न्या०] धूमकारणानि अनलेन्धनादीनि तानि तथोक्तानि । अत्र इत्यनेन धर्मी उक्तः । अप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि न सन्तीत्यनेन साध्यधर्म उक्तः । धूमाभावादिति । यस्मादत्र धूमस्याभावः, तस्मादिति शेषः । यद्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि स्युः, तर्हि धूमोऽप्युत्पद्यमानः स्यादेव ॥ ३२ ॥

व्यापकानुपलब्धिरिति । व्याप्नोतीति व्यापकम्, तस्यानुपलब्धिरित्यर्थः । यथा नात्र शिंशपा वृक्षत्वादिति । अनेन दृष्टान्त उक्तः । वृक्षस्तु शिंशपाया व्यापकः, तस्य निवृत्तौ सापि निवर्तिता भवति । अत्रेति । अनेन धर्मी उक्तः । वृक्षाभावादिति । अनेन हेतुरुक्तः । शिंशपा न इति । अनेन साध्यधर्म उक्तः ॥ ३३ ॥

स्वभावविरुद्धोपलब्धिरिति । स्वभावेन विरुद्धः स्वभावविरुद्धः, तस्योपलब्धिरित्यर्थः । दृष्टान्तमाह--यथा नात्र शीतस्पर्शः, अग्नेरिति । अत्रेत्यनेन धर्मी उक्तः ।

[ध०] न केवलमिहैव दृश्यादृश्यसमुदायो धर्मी, अपि तु अन्यत्रापि । शब्दस्य क्षणिकत्वे साध्ये कश्चिदेव शब्दः प्रत्यक्षः, अन्यस्तु परोक्षः । तद्वदिहापि । यथा चात्र धर्मी साध्यप्रतिपत्त्यधिकरणभूतो दृश्यादृश्यावयवो दर्शितः, तद्वदुत्तरेष्वपि प्रयोगेषु स्वयं प्रतिपत्तव्यः ॥ ३२ ॥

प्रतिषेध्यस्य व्याप्यस्य यो व्यापको धर्मस्तस्यानुपलब्धिरुदाह्रियते—**व्यापके**त्यादि । **यथे**ति । अत्रेति धर्मी । **न शिंशपे**ति । शिंशपाभावः साध्यः । वृक्षस्य व्यापकस्य **अभा**वादिति हेतुः ।

इयमप्यनुपलब्धिर्व्याप्यस्य शिंशपात्वस्यादृश्यस्याभावे प्रयुज्यते । उपलब्धिलक्षणप्राप्ते तु व्याप्ये दृश्यानुपलब्धिर्गमिका । तत्र यदा पूर्वापरावुपलिष्टौ समुन्नतौ देशौ भवतः, तयोरेकस्तरुगहनोपेतः, अपरश्चैकशिलाघटितो निर्वृक्षकक्षकः । द्रष्टापि तत्स्थान् वृक्षान् पश्यन्नपि शिंशपादिभेदं यो न विवेचयति, तस्य वृक्षत्वं प्रत्यक्षम्; अप्रत्यक्षं तु शिंशपात्वम् । स हि निर्वृक्ष एकशिलाघटिते वृक्षाभावं दृश्यत्वाद् दृश्यानुपलम्भादवस्यति । शिंशपात्वाभावं तु व्यापकस्य वृक्षत्वस्याभावादिति । तादृशे विषयेऽस्या अभावसाधनाय प्रयोगः ॥ ३३ ॥

प्रतिषेध्यस्य स्वभावेन विरुद्धस्योपलब्धिरुदाह्रियते—**स्वभावे**त्यादि । यथेति । **अत्रे**ति धर्मी । न शीतस्पर्श इति शीतस्पर्शप्रतिषेधः साध्यः ।

३५. विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा—नात्र शीतस्पर्शो धूमादिति ॥ (५)

३६. विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा—न ध्रुवभावी भूतस्यापि भावस्य विनाशो हेत्वन्तरापेक्षणादिति ॥ (६)

[न्या०] अग्नेरित्यनेन हेतुरुक्तः। न शीतस्पर्श इत्यनेन साध्यधर्म उक्तः। तथा हि—अग्नेः शीतस्पर्शेन विरोधात् तत्सत्त्वे शीतस्पर्शो निवार्यते ॥ ३४ ॥

विरुद्धकार्योपलब्धिरिति। विरुद्धस्य कार्यं विरुद्धकार्यम्, तस्योपलब्धिरित्यर्थः। यथा नात्र शीतस्पर्शो धूमादिति। अनेन सा अभिधीयते। अत्रेति धर्मी। धूमादिति हेतुः। न शीतस्पर्श इति साध्यधर्मः। शीतस्पर्शविरुद्धोऽग्निः, तस्य कार्यं धूमः। तस्माद् यत्र धूमस्तत्राग्निरपि, यत्राग्निस्तत्र च कुतः शीतस्पर्शः! ॥ ३५ ॥

विरुद्धव्याप्तोपलब्धिरिति। विरुद्धेन व्याप्तं विरुद्धव्याप्तम्। तस्योपलब्धिरित्यर्थः। दृष्टान्तमाह—यथा न ध्रुवभावी भूतस्यापि भावस्य विनाश इति। ध्रुवभावीति निश्चितभवनधर्मा इति शेषः। भूतस्यापि भावस्येति। जातस्य भावस्येति

[ध०]वह्नेरिति हेतुः। इयं चानुपलब्धिस्तत्र प्रयोक्तव्या यत्र शीतस्पर्शोऽदृश्यः; दृश्ये दृश्यानुपलब्धिप्रयोगात्।

तस्माद् यत्र वर्णविशेषाद् वह्निर्दृश्यः, शीतस्पर्शो दूरस्थत्वात् सन्नप्यदृश्यः, तत्र प्रयोगः ॥ ३४ ॥

प्रतिषेध्येन यद् विरुद्धं तत्कार्यस्योपलब्धिर्गमिका। **यथेति**। **अत्रेति** धर्मी। **न शीतस्पर्श** इति शीतस्पर्शाभावः साध्यः। **धूमादिति** हेतुः। यत्र शीतस्पर्शः सन् दृश्यः स्यात्, तत्र दृश्यानुपलब्धिर्गमिका। यत्र वह्निः प्रत्यक्षः, तत्र विरुद्धोपलब्धिर्गमिका। द्वयोरपि तु परोक्षत्वे विरुद्धकार्योपलब्धिः प्रयुज्यते।

तत्र समस्तापवरकस्थं शीतं निवर्तयितुं समर्थस्याग्नेरनुमापकं यदा विशिष्टं धूमकलापं निर्यान्तमपवरकात् पश्यति, तदा विशिष्टाद् वह्नेरनुमिताद् शीतस्पर्शनिवृत्तिमनुमिमीते। इह दृश्यमानद्वारप्रदेशसहितः सर्वोऽपवरकाभ्यन्तरदेशो धर्मी साध्यप्रतिपत्त्यनुसरणात्पूर्ववद् द्रष्टव्य इति ॥ ३५ ॥

प्रतिषेधस्य यद् विरुद्धं तेन व्याप्तस्य धर्मान्तरस्य उपलब्धिरुदाहर्तव्या। **यथेति**। ध्रुवम् = अवश्यम् भवतीति **ध्रुवभावी**। नेति ध्रुवभावित्वनिषेधः साध्यः। **विनाशो** धर्मी। **भूतस्यापि भावस्येति** धर्मिविशेषणम्। भूतस्य जातस्यापि विनश्वरः स्वभावो नावश्यम्भावी, किमुत अजातस्य इति अपिशब्दार्थः। जनकाद् हेतोरन्यो हेतुः **हेत्वन्तरम्** मुद्गरादि। तदपेक्षते

३७. कार्यविरुद्धोपलब्धिर्यथा--नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सन्ति, वह्नेरिति ।। (७)

[न्या०]शेषः । 'भूतस्यापि भावस्य विनाशः' इत्यनेन धर्मी उक्तः। 'न ध्रुवभावी' इत्यनेन साध्यधर्म उक्तः । तेन जातस्यैव भावस्य विनाशो न नित्य इत्यमर्थः पर्यवसितः ।

कथमेतदिति चेद् ? आह— हेत्वन्तरापेक्षणादिति ।

एवं हि हेत्वन्तरापेक्षा अङ्गीक्रियते । येषां हेत्वन्तरापेक्षा, ते नावश्यम्भाविनः, यथा कार्पासे रक्तता । इहापि ध्रुवभावित्वमध्रुवभावित्वेन विरुद्धम् । तेन हेत्वन्तरापेक्षणं व्याप्तम् । तस्माद् यत्र हेत्वनन्तरापेक्षा तत्राध्रुवभावित्वम् । यत्राध्रुवभावित्वं तत्र ध्रुवभावित्वं कुतः ! ।। ३६ ।।

कार्यविरुद्धोपलब्धिरिति । कार्येण विरुद्धं कार्यविरुद्धम्, तस्योपलब्धिरिति शेषः । [ध०] विनश्वरः । अपेक्षणादिति हेतुः । हेत्वन्तरापेक्षणं नाम अध्रुवभावित्वेन व्याप्तम् । यथा—वाससि रागस्य रञ्जनादिहेत्वन्तरापेक्षणमध्रुवभावित्वेन व्याप्तम् । ध्रुवभावित्वविरुद्धं चाध्रुवभावित्वम् । विनाशश्च विनश्वर-स्वभावात्मा हेत्वन्तरापेक्ष इष्टः । ततो विरुद्धव्याप्तहेत्वन्तरापेक्षणदर्शनात् ध्रुवभावित्वनिषेधः ।

इह ध्रुवभावित्वं नित्यत्वम्, अध्रुवभावित्वं चानित्यत्वम् । नित्यत्वा-नित्यत्वयोश्च परस्परपरिहारेणावस्थानादेकत्र विरोधः । तथा च सति परस्परपरिहारवतोर्द्वयोर्यदेकं दृश्यते तत्र द्वितीयस्य तादात्म्यनिषेधः कार्यः । तादात्म्यनिषेधश्च दृश्यतयाभ्युपगतस्य सम्भवति । यत एवं तादात्म्यनिषेधः क्रियते—'यद्ययं दृश्यमानो नित्यो भवेत्, नित्यरूपो दृश्येत; न च नित्यरूपो दृश्यते, तस्मान्न नित्यः' । एवं च प्रतिषेधस्य नित्यत्वस्य दृश्यमानात्मकत्वम-भ्युपगम्य प्रतिषेधः कृतो भवति । वस्तुनोऽप्यदृश्यस्य पिशाचादेर्यदि दृश्यघटा-त्मकत्वनिषेधः क्रियते, दृश्यात्मकत्वमभ्युपगम्य कर्तव्यः । यद्ययं घटो दृश्यमानः पिशाचात्मा भवेत् पिशाचो दृष्टो भवेत्, न च दृष्टः, तस्मान्न पिशाच इति । दृश्यात्मत्वाभ्युपगमपूर्वको दृश्यमाने घटादौ वस्तुनि वस्तुनोऽ-वस्तुनो वा दृश्यस्यादृश्यस्य च तादात्म्यप्रतिषेधः । तथा च सति यथा घटस्य दृश्यत्वमभ्युपगम्य प्रतिषेधो दृश्यानुपलम्भादेव, तद्वत् सर्वस्य परस्पर-परिहारवतोऽन्यत्र दृश्यमाने निषेधो दृश्यानुपलम्भादेव । तथा चास्यैवञ्जाती-यकस्य प्रयोगस्य स्वभावानुपलब्धावन्तर्भावः ।। ३६ ।।

प्रतिषेध्यस्य यत् कार्यं तस्य यद्विरुद्धं तस्योपलब्धेरुदाहरणम्—यथेति ।

३८. व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा--नात्र तुषारस्पर्शो वह्नेरिति ।। (८)

३९. कारणानुपलब्धिर्यथा--नात्र धूमोऽग्न्यभावादिति ।। (९)

[न्या०]दृष्टान्तमाह—यथा नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सत्यग्नेरिति। इहेति धर्मी। अग्नेरिति हेतुरुक्तः। नाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सन्तीति। साध्यधर्म उक्तः।

अत्र शीतकारणानां कार्यं शीतम् । शीतं चाग्निना विरुद्धम् । यत्राग्निस्तत्र कुतः शीतप्रवेशः ! यत्र शीतस्पर्शस्तत्राप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि च कथमपि न। यदि स्युस्तादृशानि, तर्हि अवश्यं शीतस्पर्शोऽपि स्यात् ।। ३७ ।।

व्यापकविरुद्धोपलब्धिरिति । व्यापकेन विरुद्धं व्यापकविरुद्धम्, तस्योपलब्धिरित्यर्थः । दृष्टान्तमाह—यथा नात्र तुषारस्पर्शोऽग्नेरिति । अत्रेति । अनेन धर्मी उक्तः । अग्नेरिति । अनेन हेतुरुक्तः । न तुषारस्पर्श इति । अनेन साध्यधर्म उक्तः ।

तुषारस्पर्शः = हिमस्पर्शः । तस्य व्यापकः शीतस्पर्शः, तद्विरुद्धोऽग्निः । तस्माद् यत्राग्निस्तत्र शीतस्पर्शः कुतः ! यत्र च शीतस्पर्शस्तत्र तुषारस्पर्शोऽपि कथमपि न ।। ३८ ।।

कारणानुपलब्धिरिति । कारणस्यानुपलब्धिः कारणानुपलब्धिरिति विग्रहः ।

[ध०]इहेति धर्मी। **अप्रतिबद्धं सामर्थ्यं** येषां **शीतकारणानां** शीतजननं प्रति, तानि **न सन्ति**—इति साध्यम् । वह्नेरिति हेतुः ।

यत्र शीतकारणानि अदृश्यानि, शीतस्पर्शोऽप्यदृश्यः, तत्रायं हेतुः प्रयोक्तव्यः। दृश्यत्वे तु शीतस्पर्शस्य तत्कारणानां वा कार्यानुपलब्धिः, दृश्यानुपलब्धिर्वा गमिका । तस्मादेषाप्यभावसाधनी । ततो यस्मिन्नुद्देशे सदपि शीतकारणमदृश्यं शीतस्पर्शश्च दूरस्थत्वात्, प्रतिपत्तुर्वह्निर्भास्वरवर्णत्वाद् दूरादपि दृश्यः—तत्रायं प्रयोग इति ।। ३७ ।।

प्रतिषेध्यस्य यद् व्यापकं तेन यद् विरुद्धं तस्योपलब्धिरुदाहर्तव्या—यथेति । **अत्रेति** धर्मी । **तुषारस्पर्शो** नेति साध्यम् । वह्नेरिति हेतुः ।

यत्र व्याप्यस्तुषारस्पर्शो व्यापकश्च शीतस्पर्शो न दृश्यः, तत्रायं हेतुः । तयोर्दृश्यत्वे स्वभावस्य व्यापकस्य चानुपलब्धिर्यतः प्रयोक्तव्या । तथा च सत्यभावसाधनीयम् । दूरवर्तिनश्च प्रतिपत्तुस्तुषारस्पर्शः शीतस्पर्शविशेषः । शीतमात्रं च परोक्षम् । वह्निस्तु रूपविशेषाद् दूरस्थोऽपि प्रत्यक्षः । ततो वह्नेः शीतमात्राभावः । ततः शीतविशेषतुषारस्पर्शाभावनिश्चयः । शीतविशेषस्य शीतसामान्येन व्याप्तत्वादिति विशिष्टविषयेऽस्याः प्रयोगः ।। ३८ ।।

प्रतिषेध्यस्य यत् कारणं तस्यानुपलब्धेरुदाहरणम्—यथेति । **अत्रेति**

४०. कारणविरुद्धोपलब्धिर्यथा--नास्य रोमहर्षादिविशेषः; सन्निहितदहनविशेषत्वादिति ॥ (१०)

[न्या०] दृष्टान्तमाह—यथा नात्र धूमोऽग्न्यभावादिति । अत्रेति, अनेन धर्मी उक्तः । अग्न्यभावादित्यनेन च निर्दुष्टो हेतुः कीर्तितः । न धूम इति । अनेन साध्यधर्म उक्तः । इह चाग्नेः कार्यं धूम इति । यत्राग्न्यभावस्तत्र धूमोऽपि कथमपि न ॥ ३९ ॥

कारणविरुद्धोपलब्धिरिति । कारणेन विरुद्धं कारणविरुद्धम्, तस्योपलब्धिरित्यर्थः। दृष्टान्तमाह—यथा नास्य रोमहर्षादिविशेषा इति । अस्येति । अनेन धर्मी उक्तः । न रोमहर्षादिविशेष इति । अनेन साध्यधर्म उक्तः । रोमहर्षस्तु रोम्णामुद्भेदः । स आदिर्येषां ते रोमहर्षादयः । आदिशब्देन दन्तसङ्घर्षण—शरीरकम्पादीनां परिग्रहः । ते च रोमहर्षादय एव विशेषा इति रोमहर्षादिविशेषाः । भय-प्रीत्यादिभिरपि रोमहर्षादिर्जायते । तस्य व्यवच्छेदार्थं 'विशेष' इत्युक्तम् । इह च शीतवायुपीडितस्य ये रोमहर्षास्ते एव बोध्याः ।

सन्निहितदहनविशेषत्वादिति । अत्र दहनविशेषस्त्वग्निविशेषः । सन्निहित इति । समीपवर्ती । सन्निहितो दहनविशेषो यस्य स सन्निहितदहनविशेषः, तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्मात् सन्निहितदहनविशेषत्वात् । यादृशोऽग्निविशेषः शीत-

[ध०] धर्मी । न धूम इति साध्यम् । वह्न्यभावादिति हेतुः । यत्र कार्यं सदपि अदृश्यं भवति, तत्रायं प्रयोगः । दृश्ये तु कार्ये दृश्यानुपलब्धिर्गमिका । ततोऽयमप्यभावसाधनः । निष्कम्पायतसलिलपूरिते ह्रदे हेमन्तोचितबाष्पोद्गमे विरले सन्ध्यातमसि सति सन्नपि तत्र धूमो न दृश्यत इति कारणानुपलब्ध्या प्रतिषेध्यते । वह्निस्तु यदि तस्याम्भसः उपरि प्लवमानो भवेत् प्रज्वलितः, रूपविशेषादेवोपलब्धो भवेत् । अज्वलितस्तु इन्धनमध्यनिविष्टो भवेत् । तत्रापि दहनाधिकरणनिबन्धनं प्रत्यक्षमिति स्वरूपेण, आधाररूपेण वा दृश्य एव वह्निरिति तत्रास्य प्रयोग इति ॥ ३९ ॥

प्रतिषेध्यस्य यत् कारणं तस्य यद् विरुद्धं तस्योपलब्धेरुदाहरणम्—यथेति । अस्येति धर्मी । रोम्णां हर्ष उद्भेदः, स आदिर्येषां दन्तवीणादीनां शीतकृतानाम् ते विशिष्यन्ते तदन्येभ्यो भयश्रद्धादिकृतेभ्य इति रोमहर्षादिविशेषाः । ते न सन्तीति साध्यम् । दहन एव विशिष्यते तदन्यस्माद् दहनाच्छीतनिवर्त्तनसामर्थ्येनेति दहनविशेषः । कश्चिद् दहनः सन्नपि न शीतनिवर्तनक्षमः, यथा प्रदीपः । तादृशनिवृत्तये विशेषग्रहणम् । सन्निहितो दहनविशेषो यस्य स तथोक्तः तस्य भावस्तस्मादिति हेतुः । यत्र शीतस्पर्शः सन्नप्यदृश्यः, रोम-

४१. कारणविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा--न रोमहर्षादिविशेषयुक्तपुरुषवानयं प्रदेशः; धूमादिति ॥ (११)

[न्या०]निराकरणसमर्थस्तादृशस्य सिद्ध्यर्थं 'विशेष' इत्युक्तम् । तथाहि–अत्र रोमहर्षादिविशेषस्य हेतुः शीतस्पर्शः, तद्विरुद्धोऽग्निः । अग्नितापः शीतनिवारकः । शीतनिवृत्तौ रोमहर्षादिविशेषाः कथमपि न स्युः ॥ ४० ॥

कारणविरुद्धकार्योपलब्धिरिति । कारणेन विरुद्धं कारणविरुद्धम्, तस्य कार्यं कारणविरुद्धकार्यम्, तस्योपलब्धिः कारणविरुद्धकार्योपलब्धिः । दृष्टान्तमाह—यथा न रोमहर्षादिविशेषयुक्तपुरुषवानयं प्रदेशो धूमादिति । अयं प्रदेश इत्यनेन धर्मी उक्तः । धूमादित्यनेन हेतुरुक्तः । न रोमहर्षादिविशेषयुक्तपुरुषवानित्यनेन साध्यधर्म उक्तः ।

रोमहर्षादिविशेषेण युक्तो रोमहर्षादिविशेषयुक्तः । रोमहर्षादिविशेषयुक्तश्चासौ पुरुषश्चेति रोमहर्षादिविशेषयुक्तपुरुषः, स विद्यते यस्मिन् प्रदेशे स रोमहर्षादिविशेषयुक्तपुरुषवान् ।

इह रोमहर्षादिविशेषस्य कारणं शीतस्पर्शः । तद्विरुद्धोऽग्निः । अग्निकार्यं धूमः ।

[ध०] हर्षादिविशेषाश्चादृश्याः, तत्रायं प्रयोगः । रोमहर्षादिविशेषस्य दृश्यत्वे दृश्यानुपलब्धिः प्रयोक्तव्या । शीतस्पर्शस्य दृश्यत्वे कारणानुपलब्धिः । तस्मादभावसाधनोऽयम् । रूपविशेषाद्धि दूराद् दहनं पश्यति । शीतस्पर्शस्त्वदृश्यो रोमर्षादिविशेषाश्च । तेषां कारणविरुद्धोपलब्ध्याऽभावं प्रतिपद्यत इति तत्रास्य प्रयोग इति ॥ ४० ॥

प्रतिषेध्यस्य यत् कारणं तस्य यद् विरुद्धं तस्य यत् कार्यं तस्योपलब्धिरुदाहर्तव्या—यथेति । अयं प्रदेश इति धर्मी । योगो युक्तम् । रोमहर्षादिविशेषैर्युक्तं रोमहर्षादिविशेषयुक्तम्, तस्य सम्बन्धी पुरुषो रोमहर्षादिविशेषयुक्तपुरुषः, तद्वान् न भवतीति साध्यम् । धूमादिति हेतुः ।

रोमहर्षादिविशेषस्य प्रत्यक्षत्वे दृश्यानुपलब्धिः । कारणस्य शीतस्पर्शस्य प्रत्यक्षत्वे कारणानुपलब्धिः । वह्नेस्तु प्रत्यक्षत्वे कारणविरुद्धोपलब्धिः प्रयोक्तव्या । त्रयाणामप्यदृश्यत्वेऽयं प्रयोगः । तस्मादभावसाधनोऽयम् । तत्र दूरस्थस्य प्रतिपत्तुर्दहनशीतस्पर्शरोमहर्षादिविशेषा अप्रत्यक्षाः सन्तोऽपि, धूमस्तु प्रत्यक्षो यत्र, तत्रैतत् प्रमाणम् । धूमस्तु यादृशस्तद्देशे स्थितं शीतं निवर्तयितुं समर्थस्य वह्नेरनुमापकः स इह ग्राह्यः ।

धूममात्रेण तु वह्निमात्रेऽनुमितेऽपि न शीतस्पर्शनिवृत्तिः, नापि रोम-

४२. इमे सर्वे कार्यानुपलब्ध्यादयो दशानुपलब्धिप्रयोगाः स्वभावानुपलब्धौ संग्रहमुपयान्तीति ।।

४३. पारम्पर्येणार्थान्तरविधिप्रतिषेधाभ्यां प्रयोगभेदेऽपि ।।

[न्या०]तस्माद् यत्र धूमस्तत्राग्निः । यत्राग्निस्तत्र न शीतस्पर्शः । यत्र न शीतस्पर्शस्तत्र शीतकार्याणि रोमहर्षादिविशेषाः कथं स्युः ! ।। ४१ ।।

पूर्वमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिरेकः प्रतिषेधहेतुरुक्तः, अथ कथं कार्यानुपलब्ध्यादिभिः स्वभावविरुद्धोपलब्ध्यादिभिश्च प्रतिषेध इति चेत् ? तत्राह—

इमे इति । अव्यवहितोक्ताः । सर्वे इति । निखिला दशसङ्ख्यापरिच्छिन्नाः । अनुपलब्धिप्रयोगाश्च स्वभावानुपलब्धावन्तर्भवन्ति ।। ४२ ।।

स्वभावानुपलब्धिप्रयोगश्चान्यः, कार्यानुपलब्ध्यादिरप्यन्यः । तथा हि—कार्यानुपलब्ध्यादिषु अर्थान्तरप्रतिषधः, स्वभावविरुद्धोपलब्ध्यादिषु चार्थान्तरविधिः । कथं तर्हि तस्यामन्तर्भाव इति चेत् ? तत्राह—अर्थान्तरेत्यादि ।

[ध०] हर्षादिविशेषनिवृत्तिरवसातुं शक्येति न धूममात्रं हेतुरिति द्रष्टव्यमिति ।। ४१ ।।

यदि एकः प्रतिषेधहेतुरुक्तः, कथमेकादशाभावहेतवः ? इत्याह—**इमे सर्वे** इत्यादि । इमे अनुपलब्धिप्रयोगाः । इदमनन्तरप्रक्रान्ता निर्दिष्टाः । तत्र कियतामपि ग्रहणे प्रसक्तः ? आह—**कार्यानुपलब्ध्यादय** इति । कार्यानुपलब्ध्यादीनामपि त्रयाणां चतुर्णां वा ग्रहणे प्रसक्तः ? आह—**दशेति** । तत्र दशानामप्युदाहरणमात्राणां ग्रहणप्रसङ्गे सत्याह—**सर्वे** इति ।

एतदुक्तं भवति—अप्रयुक्ता अपि प्रयुक्तोदाहरणसदृशाश्च । सर्व एवेति । दशग्रहणमन्तरेण सर्वग्रहणे क्रियमाणे प्रयुक्तोदाहरणकार्त्स्न्यं गम्येत । दशग्रहणात् तु उदाहरणकार्त्स्न्येऽवगते सर्वग्रहणमतिरिच्यमानमुदाहृतसदृशकार्त्स्न्यावगतये जायते ।

ते **स्वभावानुपलब्धौ संग्रहं** तादात्म्येन गच्छन्ति । स्वभावानुपलब्धिस्वभावा इत्यर्थः ।। ४२ ।।

ननु च स्वभावानुपलब्धिप्रयोगाद् भिद्यन्ते कार्यानुपलब्ध्यादयः, तत् कथमन्तर्भवन्ति ? इत्याह—**पारम्पर्येणेति** । **प्रयोगभेदेऽपीति** । प्रयोगस्य शब्दव्यापारस्य भेदेऽप्यन्तर्भवन्ति । कथं प्रयोगभेदः ? इत्याह—**अर्थान्तरविधीति** । प्रतिषेध्यादर्थादर्थान्तरस्य विधिरुपलब्धिः स्वभावविरुद्धादयुपलब्धिप्रयोगेषु । प्रतिषेधः कार्यानुपलब्ध्यादिषु प्रयोगेषु । अर्थान्तरविधिना, अर्थान्तरप्रतिषेधेन

४४. प्रयोगदर्शनाभ्यासात् स्वयमप्येवं व्यवच्छेदप्रतीतिर्भवतीति स्वार्थेऽप्यनुमानेऽस्या प्रयोगनिर्देशः ॥

[न्या०] यद्यप्यर्थान्तरविधिप्रतिषेधाभ्यां प्रयोगभेद एव, तथापि परम्परया तस्यामन्तर्भावोऽभिप्रेतः, न तु वस्तुतः । तथाहि क्वचित् कार्यानुपलब्धौ धूमाभावेन धूमहेतोरप्रतिबद्धसामर्थ्यस्य अभावे सिद्धे अभावप्रतीतिर्भवति । यत्र यत्र धूमाभावस्तत्र तत्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यैव तद्धेतोरनुपलब्धिरिति स्वभावानुपलब्धावन्तर्भवति ।

प्रतिपत्तॄणां चिन्ताभेदाद् भेदः—कस्यचित् कार्याभावद्वारेण हेत्वभावप्रतीतिः, कस्यचित्तु स्वभावद्वारेण । तथैव व्यापकानुपलब्धेः कारणानुपलब्धेश्च परम्परया अन्तर्भावोऽवगन्तव्यः । स्वभावविरुद्धोपलब्धौ चाग्निना शीताभावप्रतीतिः । यत्राग्निस्तत्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य शीतस्पर्शस्यैवानुपलब्धिरिति स्वभावानुपलब्धावन्तर्भावः ।

विरुद्धव्याप्तोपलब्धावपि हेत्वन्तरापेक्षया सर्ववर्णेषु प्रकाशस्वभावोऽपि स्वभावानुपलब्धिवदेव । तथा कारणविरुद्धकार्योपलब्धावपि धूमेनाग्निसिद्धिः । शीतनिवृत्तौ च तत्र तद्विपरीतस्य रोमहर्षादिविशेषयुक्तपुरुषस्याभावसिद्धिः । सा च तत्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तताद्दृशपुरुषस्यानुपलब्धिरिति स्वभावानुपलब्धावेवान्तर्भवति ॥ ४३ ॥

ये च 'कार्यकारणद्वयव्याप्त्यभेदभेदाभावेनोपचारात् स्वभावानुपलब्धौ अन्तर्भवन्ति' इत्याहुः, तेषां तदुपचारेणान्तर्भावः, परमार्थतस्तु न । प्रतिज्ञैकदेशस्यापि हेतुत्वे सति परम्परार्थोऽपि न रम्यः ।

स्वभावविरुद्धोपलब्ध्यादिषु च विजातीयप्रमाणेन निवृत्त्यभिधानमिति किं केन समानं स्यात् ! स्वार्थानुमाने प्रयोगो न सम्भवति । तत्रानुपलब्धिप्रयोगप्रकारविशेषा एकादश इति कुत इति चेत् ? तस्मादाह—प्रयोगदर्शनेत्यादि ।

[ध०] च प्रयोगाः भिद्यन्ते । यदि प्रयोगान्तरेष्वर्थान्तरविधिप्रतिषेधौ, कथं तर्हि अन्तर्भवन्ति ? इत्याह—पारम्पर्येणेति । प्रणालिकयेत्यर्थः ।

एतदुक्तं भवति—न साक्षादेते प्रयोगा दृश्यानुपलब्धिमभिदधति, दृश्यानुपलब्ध्यभिचारिणस्त्वर्थान्तरस्य विधिं निषेधं वाऽभिदधति । ततः प्रणालिकयामीषां स्वभावानुपलब्धौ संग्रहः, न साक्षादिति ॥ ४३ ॥

यदि प्रयोगभेदादेष भेदः, परार्थानुमाने वक्तव्य एषः; शब्दभेदो हि प्रयोगभेदः, शब्दश्च परार्थानुमानम् ? इत्याशङ्क्याह—प्रयोगदर्शनेत्यादि । प्रयोगाणां शास्त्रपरिपठितानां दर्शनम् = उपलम्भः, तस्य अभ्यासः = पुनः पुनरावर्तनम्, तस्मान्निमित्तात् ।

स्वयमपीति । प्रतिपत्तुरात्मनोऽपि । एवम् इत्यनन्तरोक्तेन क्रमेण । व्यवच्छेदस्य प्रतीतिर्भवतीति । इतिशब्दस्तस्मादर्थे ।

४५. सर्वत्र चास्यामभावव्यवहारसाधन्यामनुपलब्धौ येषां स्वभावविरुद्धादीनामुपलब्ध्या कारणादीनामनुपलब्ध्या च प्रतिषेध उक्तः, तेषामुपलब्धिलक्षणप्राप्तानामेवोपलब्धिरनुपलब्धिश्च वेदितव्या ॥

[न्या०]प्रयोगाणां दर्शनम् = प्रतीतिः। तस्याः पौनःपुन्येनावर्तनम् = अभ्यासः। तस्मात् प्रयोगेऽभ्यासातिशयात् स्वयमपि यदा कस्यचित् व्यवच्छेदप्रतीतिर्भवति, तदा प्रयोगरूपेणैव प्रतीतिर्भवति। अत एव स्वार्थानुमानेऽपि अनुपलब्धिप्रयोगस्य विशेषनिर्देशः। व्यवच्छेदप्रतीतिः प्रतिषेधप्रत्यायनमिति शेषः। यद्वा—व्यवच्छेदप्रतीतिः विशेषप्रतिपत्तिरिति शेषः ॥ ४४ ॥

स्वभावानुपलब्धेर्विशेष उक्तः। कार्यानुपलब्ध्यादौ तदभावात् कथमव्यभिचारित्वमिति चेत्? तत्राह—अभावेति। अभावव्यवहारसाधन्यो बहुप्रकारा या अनुपलब्धयोऽभिहिताः, ताः सर्वास्तद्विशेषा एव द्रष्टव्याः। यदि कारणादेरुपलब्धि-

[ध०] तदयमर्थः—यस्मात् स्वयमप्येवमनेनोपायेन प्रतिपद्यते, प्रयोगाभ्यासात्; तस्मात् स्वप्रतिपत्तावप्युपयुज्यमानस्यास्य प्रयोगभेदस्य स्वार्थानुमाने निर्देशः। यत् पुनः परप्रतिपत्तावेवोपयुज्यते, तत् परार्थानुमान एव वक्तव्यमिति ॥ ४४ ॥

ननु च कार्यानुपलब्ध्यादिषु कारणादीनामदृश्यानामेव निषेधः, दृश्यनिषेधे स्वभावानुपलब्धिप्रयोगप्रसङ्गात्; तथा च सति न तेषां दृश्यानुपलब्धेर्निषेधः, तत् कथमेषां प्रयोगाणां दृश्यानुपलब्धावन्तर्भावः? इत्याह—**सर्वत्र चेत्यादि**। अभावश्च तद्व्यवहारश्च **अभावव्यवहारौ**। स्वभावानुपलब्धावभावव्यवहारः साध्यः। शिष्टेष्वभावः। तयोः साधन्यामनुपलब्धौ। **सर्वत्र चेति**। च—शब्दो हिशब्दस्यार्थे। यस्मात् सर्वत्रानुपलब्धौ येषां प्रतिषेध उक्तस्तेषामुपलब्धिलक्षणप्राप्तानां दृश्यानामेव प्रतिषेधः। तस्माद् दृश्यानुपलब्धावन्तर्भावः।

कुत एतद् दृश्यानामेव? इत्याह—**स्वभावेत्यादि**। अत्रापि चकारो हेत्वर्थः। यस्मात् **स्वभावविरुद्ध आदिर्येषां तेषामुपलब्ध्या, कारणमादिर्येषां तेषामनुपलब्ध्या प्रतिषेध उक्तः**, तस्माद् दृश्यानामेव प्रतिषेध इत्यर्थः।

यदि नाम स्वभावविरुद्धाद्युपलब्ध्या कारणाद्यनुपलब्ध्या च प्रतिषेध उक्तः, तथापि कथं दृश्यानामेव प्रतिषेधः? इत्याह—**उपलब्धिरित्यादि**। अत्रापि चकारो हेत्वर्थः। यस्माद् ये विरोधिनः व्याप्य-व्यापकभूताः कार्यकारणभूताश्च ज्ञाताः, तेषामवश्यमेवोपलब्धिः, उपलब्धिपूर्वा चानुपलब्धि-

४६. अन्येषां विरोध-कार्य-कारणभावाभावासिद्धेः ॥

[न्या०] लक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिः स्यात्, तदा कार्यादेः प्रतिषेधसिद्धिः सम्भवति, नान्यत्र ॥ ४५ ॥

स्वभावविरुद्धादिरपि यदि उपलब्धिलक्षणप्राप्त एव स्यात्, तदा विपरीतप्रतिषेधे समर्थः, नान्यथा । कथमिति चेत् ? तत्राह—अन्येषामिति ।

विरोधश्च कार्यकारणभावश्च अभावश्च विरोधकार्यकारणभावाभावाः, तेषामसिद्धिरित्युक्तम् । तदेवं ये नोपलब्धिलक्षणप्राप्तास्तेषां विरोधोऽसिद्धः, विरोधाभावोऽप्यसिद्धः; कार्यकारणभावोऽसिद्धः, कार्यकारणभावाभावोऽप्यसिद्धः—इत्येतत् प्रदर्शितं भवति ।

[ध०]वेदितव्या=ज्ञातव्या । उपलब्ध्यनुपलब्धी च द्वे येषां स्तः, ते दृश्या एव । तस्मात् स्वभाप्रविरुद्धाद्युपलब्ध्या कारणाद्यनुपलब्ध्या चोपलब्ध्यनुपलब्धिमतां विरुद्धादीनां प्रतिषेधः क्रियमाणो दृश्यानामेव कृतो द्रष्टव्यः ।

बहुषु चोद्येषु प्रक्रान्तेषु परिहारसमुच्चयार्थश्चकारो हेत्वर्थो भवति । यस्मादिदं चेदं च समाधानमस्ति, तस्माद् तत्तच्चोद्यमयुक्तमिति चकारार्थः ॥ ४५ ॥

कस्मात् पुनः प्रतिषेध्यानां विरुद्धादीनामुपलब्ध्यनुपलब्धी वेदितव्ये ? इत्याह—**अन्येषामिति** । उपलब्ध्यनुपलब्धिमद्भ्योऽन्येऽनुपलब्धा एव ये तेषां विरोधश्च कार्यकारणभावश्च केनचित् सह अभावश्च व्याप्यस्य व्यापकस्याभावे न सिध्यति, यस्मात् ततो **विरोधकार्यकारणभावाभावासिद्धे** कारणाद् उपलब्ध्यनुपलब्धिमन्त एव विरुद्धादयो निषेध्याः । उभयवन्तश्च दृश्या एव । तस्माद् दृश्यानामेव प्रतिषेधः ।

तदयमर्थः—विरोधश्च कार्यकारणभावश्च व्यापकाभावे व्याप्याभावश्च दृश्यानुपलब्धेरेवेति । एकसन्निधावपराभावप्रतीतौ ज्ञातो विरोधः । कारणाभिमताभावे च कार्याभिमताभावप्रत्ययेऽवसितः कार्यकारणभावः । व्यापकाभिमताभावे च व्याप्याभिमताभावे निश्चिते निश्चितो व्याप्यव्यापकभावः । तत्र व्याप्यव्यापकभावप्रतीतेर्निमित्तमभावः प्रतिपत्तव्यः । इह गृहीते वृक्षाभावे हि शिंशपात्वाभावप्रतीतौ प्रतीतो व्याप्यव्यापकभावः । अभावप्रतिपत्तिश्च सर्वत्र दृश्यानुपलब्धेरेव । तस्माद्विरोधम्, कार्यकारणभावम्, व्याप्यव्यापकभावं च स्मरता विरोध-कार्यकारणभाव-व्याप्यव्यापकभावविषयाभावप्रतिपत्तिनिबन्धनं दृश्यानुपलब्धिः स्मर्तव्या । दृश्यानुपलब्ध्यस्मरणे विरोधादीना-

४७. विप्रकृष्टविषया पुनरनुपलब्धिः प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा संशयहेतुः ॥

[न्या०]तथाहि—उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य नियतानुषङ्गिणो ये दृष्टास्तत्सन्निधाने कस्यचित् तिरोभावे तेन सह विरोधस्य प्रत्यायनं शक्यम् । यच्च सन्निहितं तदपि तथैव विरुद्धम् । तदुपलब्धौ तु विरोधाभाव इति निश्चीयते ।

एवमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य यस्य सत्त्वे उपलब्धिलक्षणप्राप्तमदृष्टपूर्वं यदुपलभ्यते, तदभावे नोपलभ्यते । तत्तस्मादुत्पदचते इति तद्द्वयोः कार्यकारणभावो निश्चीयते । यदभावेऽपि यदुपलब्धिः, तद्द्वयोः कार्यकारणभावाभावो निश्चीयते । एवमपि अभावव्यवहारसिद्धिरुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिसमाश्रिता इत्युक्तं भवति ॥ ४६ ॥

ननु तदन्येनापि क्वचित् सिद्धिरिति चेत् ? उच्यते—विप्रकृष्टेत्यादि ।

विप्रकृष्टो यो विषयः प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिस्वभावः स संशयस्य हेतुः, न त्वभावव्यवहारहेतुः ॥ ४७ ॥

[ध०]मस्मरणम् । तथा च सति न विरुद्धादिविधिप्रतिषेधाभ्यामितराभावप्रतीतिः स्यात् । विरोधादिग्रहणकालभाविन्यां च दृश्यानुपलब्धाववश्यस्मर्तव्यायां तत एवाभावप्रतीतिः ।

तत्र यद्यपि सम्प्रतितनी नास्ति दृश्यानुपलब्धिः, विरोधादिग्रहणकाले त्वासीत् । या दृश्यानुपलब्धिः सम्प्रति स्मर्यमाणा सैवाभावप्रतिपत्तिनिबन्धनम् । ततः सम्प्रति नास्ति दृश्यानुपलब्धिप्रयोगाद् भिद्यन्ते कार्यानुपलब्ध्यादिप्रयोगाः ।

विरुद्धविधिना कारणादिनिषेधेन च यतो दृश्यानुपलब्धिराक्षिप्ता, ततो दृश्यानुपलब्धेरेव कालान्तरवृत्तायाः स्मृतिविषयभूताया अभावप्रतिपत्तिः । अमीषां च प्रयोगाणां दृश्यानुपलब्धावन्तर्भावः । तदनेन सर्वेण दृश्यानुपलब्धावन्तर्भावो दशानाममनुपलब्धिप्रयोगाणां पारम्पर्येण दर्शित इत्यवसेयम् ॥ ४६ ॥

उक्ता दृश्यानुपलब्धिरभावे, अभावव्यवहारसाध्ये च प्रमाणम्, अदृश्यानुपलब्धिस्तु किंस्वभावा ? किंव्यापारा ? इत्याह—**विप्रकृष्टे**त्यादि । विप्रकृष्टस्त्रिभिर्देशकालस्वभावविप्रकर्षैर्यस्या विषयः स **विप्रकृष्टविषये**ति **संशयहेतुः** । किंस्वभावा सा ? इत्याह—प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिर्लक्षणं स्वभावो यस्याः सा **प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा** । न ज्ञानज्ञेयस्वभावेति यावत् ॥ ४७ ॥

४८. प्रमाणनिवृत्तावपि अर्थाभावसिद्धेरिति ॥

[न्या०] तदेव कस्मात् ? इत्याह—प्रमाणेत्यादि ।

प्रमाणनिवृत्तिलक्षणा विप्रकृष्टविषयानुपलब्धिः, प्रमाणनिवृत्तिरपि अर्थाभावं न साधयति । प्रमाणं तु अर्थकार्यमिति प्रमाणनिवृत्त्या कारणमात्रनिवृत्तिर्न सिध्यतीति ॥ ४८ ॥

इति न्यायविन्दुविस्तरटीकायां शिष्यहितायां

द्वितीयः परिच्छेदः ॥



[ध०] ननु च प्रमाणात् प्रमेयसत्ताव्यवस्था, ततः प्रमाणाभावात् प्रमेयाभावप्रतिपत्तिर्युक्ता ? इत्याह—**प्रमाणनिवृत्तावपी**त्यादि । कारणं व्यापकं च निवर्तमानं कार्यं व्याप्यं च निवर्तयेत् । न च प्रमाणं प्रमेयस्य कारणम्, नापि व्यापकम् । अतः **प्रमाणयोर्निवृत्तावपि** अर्थस्य प्रमेयस्य निवृत्तिर्न सिध्यति । ततोऽसिद्धेः संशयहेतुरदृश्यानुपलब्धिः, न निश्चयहेतुः । यत् पुनः प्रमाणसत्तया प्रमेयसत्ता सिध्यति, तद्युक्तम् । प्रमेयकार्यं हि प्रमाणम् । न च कारणमन्तरेण कार्यमस्ति । न तु कारणान्यवश्यं कार्यवन्ति भवन्ति । तस्मात् प्रमाणात् प्रमेयसत्ता व्यवस्थाप्या, न प्रमाणाभावात् प्रमेयाभावव्यवस्थेति ॥ ४८ ॥

आचार्यधर्मोत्तरकृतायां न्यायबिन्दुटीकायां स्वार्थानुमानं नाम

द्वितीयः परिच्छेदः ॥



३

तृतीयः परार्थानुमानपरिच्छेदः

१. त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थमनुमानम् ॥

२. कारणे कार्योपचारात् ॥

[न्या०] सम्यग्ज्ञाननिरूपणप्रसङ्गेन स्वार्थ-परार्थभेदेन अनुमानं द्विविधमङ्गीकृतम्। तत्र स्वार्थं सप्रपञ्चं निरूपितम्। परार्थानुमानाभिधानार्थमेवमनुजानीते—त्रिरूपेत्यादि।

आख्यायतेऽनेनेति आख्यानम्। वचनमिति। त्रीणि रूपाणि सन्ति यस्य तत् त्रिरूपम्। त्रिरूपं च तल्लिङ्गं चेति त्रिरूपलिङ्गम्। तस्य आख्यानमित्यर्थः॥ १॥

अनुमानं च सम्यग्ज्ञानमित्युक्तम्, कथमनुमानं वचनमिति चेत्? तत्राह—कारण इति।

[ध०] स्वार्थ-परार्थानुमानयोः स्वार्थं व्याख्याय, परार्थं व्याख्यातुकाम आह—**त्रिरूपलिङ्गाख्यानमिति**। त्रीणि रूपाणि––अन्वय-व्यतिरेक-पक्षधर्मत्वसंज्ञकानि यस्य तत् त्रिरूपम्। **त्रिरूपं** च तल्लिङ्गं च तस्या**ख्यानम्**। आख्यायते=प्रकाश्यतेऽनेनेति त्रिरूपं लिङ्गमिति **आख्यानम्**। किं पुनस्तत्? वचनम्। वचनेन हि त्रिरूपं लिङ्गमाख्यायते। परस्मायिदं **परार्थम्**॥ १॥

ननु च सम्यग्ज्ञानात्मकमनुमानमुक्तम्, तत् किमर्थं सम्प्रति वचनात्मकमनुमानमुच्यते? इत्याह––**कारणे कार्योपचारा**दिति। त्रिरूपलिङ्गाभिधानात् त्रिरूपलिङ्गस्मृतिरुत्पदयते, स्मृतेश्चानुमानम्। तस्मादनुमानस्य परम्परया त्रिरूपलिङ्गाभिधानं कारणम्। तस्मिन् **कारणे** वचने **कार्य**स्यानुमानस्य **उपचारः** समारोपः क्रियते। ततः समारोपात् कारणं वचनमनुमानशब्देनोच्यते। औपचारिकं वचनमनुमानम्, न मुख्यमित्यर्थः। न यावत् किञ्चित् उपचारादनुमानशब्देन वक्तुं शक्यं तावत् सर्वं व्याख्येयम्, किन्त्वनुमानं व्याख्यातुकामेन अनुमानस्वरूपस्य व्याख्येयत्वान्निमित्तं व्याख्येयम्। निमित्तं च त्रिरूपं लिङ्गम्। तच्च स्वयं वा प्रतीतमनुमानस्य निमित्तं भवति, परेण वा प्रतिपादितं भवति। तस्माल्लिङ्गस्य स्वरूपं च व्याख्येयम्, तत्प्रतिपादकश्च शब्दः। तत्र स्वरूपं स्वार्थानुमाने व्याख्यातम्। प्रतिपादकश्च शब्द

३. तद् द्विविधम् ॥

४. प्रयोगभेदात् ॥

५. साधर्म्यवद् वैधर्म्यवच्च ॥

[न्या०] कारणं हि वचनम्, कार्यं चानुमानमिति वचने तस्मिन्ननुमानारोपात् तद्वचनमेवानुमानमित्यभिधीयते । अनुमानकारणत्वात् 'अनुमानम् इत्युच्यते' इति शेषः ॥२॥

तद्द्विविधमिति । अत्र तदिति परार्थानुमानम् । त्रिरूपलिङ्गाख्यानं तत् ॥ ३ ॥

कथं द्विविधमिति चेत् ? आह—प्रयोगभेदादिति । प्रयोगस्तु शब्दत उपस्थानम् । तस्य भेदेन द्वैविध्यमिति ॥ ४ ॥

किं तत् प्रकारद्वयमिति आह ? आह– साधर्म्यवदिति ।

समानो धर्मो यस्य स सधर्मा, सधर्मणो भावः साधर्म्यम्, तदस्यास्ति तत् साधर्म्यवत् । विसदृशो धर्मो यस्य स विधर्मा, विधर्मणो भावो वैधर्म्यम्, तदस्यास्ति तद् वैधर्म्यवत् । अन्वयवत् व्यतिरेकवच्चेति शेषः ॥ ५ ॥

[ध०] इह व्याख्येयः । ततः प्रतिपादकं शब्दमवश्यं वक्तव्यं दर्शयन् **अनुमान**शब्देनोक्तवानाचार्य इति परमार्थः ॥ २ ॥

परार्थानुमानस्य प्रकारभेदं दर्शयितुकाम आह--**तद् द्विविधमिति** । **त**दिति परार्थनुमानम् । द्वौ विधौ=प्रकारौ यस्य तद् **द्विविधम्** ॥ ३ ॥

कुतो द्विविधम् ? इत्याह--**प्रयोगस्य** शब्दव्यापारस्य **भेदात्** । प्रयुक्तिः=प्रयोगः, अर्थाभिधानम् । शब्दस्यार्थाभिधानव्यापारभेदाद् द्विविधमनुमानम् ॥ ४ ॥

तदेवाभिधानव्यापारनिबन्धनं द्वैविध्यं दर्शयितुमाह--**साधर्म्यवत् वैधर्म्यवच्चे**ति । समानो धर्मोऽस्य सोऽयं सधर्मा, तस्य भावः साधर्म्यम् । विसदृशो धर्मोऽस्य विधर्मा, विधर्मणो भावो वैधर्म्यम् । दृष्टान्तधर्मिणा सह साध्यधर्मिणः सादृश्यं हेतुकृतं साधर्म्यमुच्यते । असादृश्यं च हेतुकृतं वैधर्म्यमुच्यते । तत्र यस्य साधनवाक्यस्य साधर्म्यमभिधेयं तत् साधर्म्यवत् । यथा—'यत् कृतकं तदनित्यम्, यथा घटः, तथा च कृतकः शब्दः' इत्यत्र कृतकत्वकृतं दृष्टान्त-साध्यधर्मिणोः सादृश्यमभिधेयम् । यस्य तु वैधर्म्यमभिधेयं तद् वैधर्म्यवत् । यथा--'यन्नित्यं तदकृतकं दृष्टम्, यथा आकाशम्, शब्दस्तु कृतकः' इति कृतकत्वाकृतकत्वकृतं शब्दाकाशयोः साध्य-दृष्टान्तधर्मिणोरसादृश्यमिहाभिधेयम् ॥ ५ ॥

६. नानयोरर्थतः कश्चिद् भेदः ॥

७. अन्यत्र प्रयोगभेदात् ॥

८. तत्र साधर्म्यवत्प्रयोगः—यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते सोऽसद्व्यवहारविषयः सिद्धः, यथान्यो दृष्टः कश्चिद् शशविषाणादिः । नोपलभ्यते च क्वचित् प्रदेशविशेषे उपलब्धिलक्षणप्राप्तो घटः—इत्यनुपलब्धिप्रयोगः॥

[न्या०] यदि साधर्म्यप्रयोगोऽन्वयवान्, वैधर्म्यप्रयोगश्च व्यतिरेकवान्, तर्हि अर्थतोऽपि भेदः स्यात्, तत् कस्मात् प्रयोगभेदेन द्विविधमित्युच्यते इति चेत् ? तत्राह—नानयोरिति ।

साधर्म्यवानपि त्रिरूपापेक्षः, वैधर्म्यवानपि त्रिरूपापेक्षः । तस्मात् सर्वत्र त्रिरूपसत्त्वादर्थतो भेदलेशोऽपि नास्ति ॥ ६ ॥

अन्यत्र प्रयोगभेदादिति । इह प्रयोगस्यैव भेदः, न तु सर्वथापि । तथा हि—प्रथमे वस्तुतोऽन्वयाभिधानेऽपि व्यतिरेकः सामर्थ्यादवगम्यते । द्वितीये च वस्तुतो व्यतिरेकाभिधानेऽपि अन्वयोऽर्थाज्ज्ञायते ॥ ७ ॥

तत्र साधर्म्यवतः प्रथममुपन्यासः । यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते सोऽसद्व्य-

[ध०] यद्यनयोः प्रयोगयोरभिधेयं भिन्नम्, कथं तर्हि त्रिरूपं लिङ्गमभिन्नं प्रकाश्यम् ? इत्याह—**नानयोरर्थत** इति । अर्थः प्रयोजनम् । यत् प्रयोजनं प्रकाशयितव्यं वस्तु उद्दिश्यानुमाने प्रयुज्यते, ततः प्रयोजनादनयोर्न भेदः कश्चित् । त्रिरूपं हि लिङ्गं प्रकाशयितव्यम् । तदुद्दिश्य द्वे अप्येते प्रयुज्येते । द्वाभ्यामपि त्रिरूपं लिङ्गं प्रकाश्यत एव । ततः प्रकाशयितव्यं प्रयोजनमनयोरभिन्नम् । तथा च न ततो भेदः कश्चित् ॥ ६ ॥

अभिधेयभेदोऽपि तर्हि न स्यात् ? इत्याह—**अन्यत्र प्रयोगभेदा**दिति । प्रयोगः अभिधानम्, वाचकत्वम् । वाचकत्वभेदादन्यो भेदः प्रयोजनकृतो नास्तीत्यर्थः ।

एतदुक्तं भवति—अन्यदभिधेयमन्यत् प्रकाश्यं प्रयोजनम् । तत्राभिधेयापेक्षया वाचकत्वं भिद्यते, प्रकाश्यं त्वभिन्नम् । अन्वये हि कथिते वक्ष्यमाणेन न्यायेन व्यतिरेकगतिर्भवति । व्यतिरेके चान्वयगतिः । ततस्त्रिरूपं लिङ्गं प्रकाश्यमभिन्नम् । न च यत्राभिधेयभेदः, तत्र सामर्थ्यगम्योऽप्यर्थो भिद्यते । यस्मात् 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' 'पीनो देवदत्तो रात्रौ भुंक्ते' इत्यनयोर्वाक्ययोरभिधेयभेदेऽपि गम्यमानमेकमेव, तद्वदिहाभिधेयभेदेऽपि गम्यमानं वस्तु एकमेव ॥ ७ ॥

९. तथा स्वभावहेतोः प्रयोगः—यत् सत् तत् सर्वमनित्यम्, यथा घटादिरिति शुद्धस्य स्वभावहेतोः प्रयोगः ॥

न्या०]वहारविषयः सिद्ध इति। अत्रानुपलब्धेरन्वय उक्तः। यथा दृष्टः कश्चित् शशविषाणादिरिति। असद्व्यवहारस्य विषयो दृष्टः। तस्योदाहरणम्—शशविषाणादिः दृष्ट इति सिद्धः। परीक्षित इति शेषः। तेन दृष्टान्तकथनं नोपलभ्यते इति अनेन पक्षधर्म उक्तः ॥ ८ ॥

स्वभावहेतोः प्रयोग इति। द्वितीयस्य हेतोः साधर्म्यवान् प्रयोग उपदर्श्यते यत्

[ध०] **तत्रेति**। तयोः साधर्म्यवैधर्म्यवतोरनुमानयोः **साधर्म्यवत्** तावदुदाहरन्ननुपलब्धिमाह—**यदित्यादिना**। **यद्** दृश्यम्। **सन्नोपलभ्यते**—इत्यनेन दृश्यानुपलम्भोऽनूद्यते। **सोऽसद्व्यवहारविषयः** सिद्धः। तदसदिति व्यवहर्तव्यमित्यर्थः। अनेनासद्व्यवहारयोग्यत्वस्य विधिः कृतः। ततश्चासद्व्यवहारयोग्यत्वे दृश्यानुपलम्भो नियतः कथितः। दृश्यमनुपलब्धमसद्व्यवहारयोग्यमेवेत्यर्थः। साधनस्य च साध्येऽर्थे नियतत्वकथनं व्याप्तिकथनम्। यथोक्तम्—"व्याप्तिर्व्यापकस्य तत्र भाव एव व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः" (हे० वि०, पृ० २३) इति। व्याप्तिसाधनस्य प्रमाणस्य विषयो दृष्टान्तः। तमेव दर्शयितुमाह—**यथान्य** इति। साध्यधर्मिणोऽन्यो दृष्टान्त इत्यर्थः। **दृष्ट** इति। प्रमाणेन निश्चितः। **शशविषाणं** हि न चक्षुषा विषयीकृतम्। अपि तु प्रमाणेन दृश्यानुपलम्भेनासद्व्यवहारयोग्यं विज्ञातम्। शशविषाणमादिर्यस्य असद्व्यवहारविषयस्य स तथोक्तः। शशविषाणादौ हि दृश्यानुपलम्भमात्रनिमित्तोऽसद्व्यवहारः प्रमाणेन सिद्धः। तत एव प्रमाणादनेन वाक्येनाभिधीयमाना व्याप्तिर्ज्ञातव्या।

सम्प्रति व्याप्तिं कथयित्वा दृश्यानुपलम्भस्य पक्षधर्मत्वं दर्शयितुमाह—**नोपलभ्यते चेति**। प्रदेशः=एकदेशः पृथिव्याः। स एव विशिष्यतेऽन्यस्मादिति विशेष एकः। **प्रदेशविशेष** इति। एकस्मिन् प्रदेशे। **क्वचिदिति**। प्रतिपत्तुः प्रत्यक्ष एकोऽपि प्रदेशः। स एवाभावव्यवहाराधिकरणं यः प्रतिपत्तुः प्रत्यक्षः, नान्यः। **उपलब्धिलक्षणप्राप्त** इति। दृश्यः। यथा चासतोऽपि घटस्य समारोपितमुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वं तथा व्याख्यातम् ॥ ८ ॥

स्वभावहेतोः साधर्म्यवन्तं प्रयोगं दर्शयितुमाह—**तथेति**। यथाऽनुपलब्धेः, तथा **स्वभावहेतोः** साधर्म्यवान् **प्रयोग** इत्यर्थः। **यत् सदिति** सत्त्वमनूद्य तत् सर्वमनित्यमित्यनित्यनित्यत्वं विधीयते। **सर्वग्रहणं** च नियमार्थम्।

१०. यदुत्पत्तिमत् तदनित्यमिति स्वभावभूतधर्मभेदेन स्वभावस्य प्रयोगः॥

११. यत् कृतकं तद् अनित्यमित्युपाधिभेदेन ॥

[न्या०] सत् तत् सर्वमनित्यम्, यथा घटादिरिति। यदिति योग्यं वस्तुमात्रं सत्, तत् सर्वमखिलमनित्यम्। अनेन अन्वय एवोक्तः।

शुद्धस्य स्वभावहेतोः प्रयोग इति। निर्विशेषणस्य स्वभावहेतोः प्रयोग इति शेषः ॥ ९ ॥

यदुत्पत्तिमत् तदनित्यमिति वचनं स्वभावहेतोर्द्वितीयस्यान्वयः।

स्वभावभूतधर्मभेदेन स्वभावस्य प्रयोग इति। आत्मभूतधर्मस्यैव भेदं कृत्वा स्वभावहेतोः प्रयोगः कृतः। तथाहि—उत्पत्तिर्वस्तुनो जन्मलाभः। अभेद एव उत्पत्तिर्यस्यास्ति तदुत्पत्तिमदिति भेदेनोक्तः ॥ १० ॥

यत् कृतकं तदनित्यमिति। अनेन स्वभावहेतोस्तृतीयस्यान्वय उक्तः। उपाधिभेदेनेति। अत्र उपाधिः=विशेषणम्। अनभिव्यक्तविशेषणः स्वभावहेतुप्रयोग इति शेषः। ११ ॥

[ध०]सर्वमनित्यम्। न किञ्चिन्नानित्यम्। यत् सत् तदनित्यमेव। अनित्यत्वादन्यत्र नित्यत्वे सत्त्वं नास्तीत्येवं सत्त्वमनित्यत्वे साध्ये नियतं ख्यापितं भवति। तथा च सति व्याप्तिप्रदर्शनवाक्यमिदम्। **यथा घटादिरिति।** व्याप्तिसाधकस्य प्रमाणस्य विषयकथनमेतत्। **शुद्धस्येति।** निर्विशेषणस्य स्वभावस्य प्रयोगः ॥ ९ ॥

सविशेषणं दर्शयितुमाह—**यदुत्पत्तिमदिति।** उत्पत्तिः स्वरूपलाभो यस्यास्ति तद् **उत्पत्तिमत्**। उत्पत्तिमत्त्वमनूद्य तदनित्यमित्यनित्यत्वविधिः। तथा च सति उत्पत्तिमत्त्वमनित्यत्वे नियतमाख्यातम्।

स्वभावं भूतः तदात्मको धर्मः, तस्य भेदेन। भेदं हेतूकृत्य प्रयोगः। अनुत्पन्नेभ्यो हि व्यावृत्तिमाश्रित्योत्पन्नो भाव इत्युच्यते। सैव व्यावृत्तिर्यदा व्यावृत्त्यन्तरनिरपेक्षा वक्तुमिष्यते, तदा व्यतिरेकिणीव निर्देश्यते—भावस्य उत्पत्तिरिति। तथा च व्यतिरिक्तमेवोत्पत्त्या विशिष्टं वस्तु उत्पत्तिमदुक्तम्। तेन स्वभावभूतेन धर्मेण कल्पितभेदेन विशिष्टः स्वभावः प्रयुक्तो वेदितव्यः ॥ १० ॥

यत् कृतकमिति। कृतकत्वमनूद्यानित्यत्वं विधीयते—इति अनित्यत्वे नियतं कृतकत्वमुक्तम्। अतो व्याप्तिरनित्यत्वेन कृतकत्वस्य दर्शिता। **उपाधिभेदेन** स्वभावस्य प्रयोग इति सम्बन्धः। उपाधिर्विशेषणम्। तस्य **भेदेन** भिन्नेनोपाधिना विशिष्टः स्वभावः प्रयुक्त इत्यर्थः।

१२. अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इति ॥

१३. एवं प्रयत्नान्तरीयकप्रत्ययभेदभेदित्वादयोऽपि द्रष्टव्याः ॥

[न्या०] कथमनभिव्यक्तविशेषणं इति चेत् ? तत्राह—अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इति । अपेक्षितः परस्य व्यापारो येनेति विग्रहः । यश्च भावः स्वभानिष्पत्तये हेतूनां व्यापारमपेक्षते इति । यथा कृतकमित्युक्तम्, तस्मात् अनभिव्यक्तविशेषणं स्वभावहेत्वन्तरमेतत् ॥ १२ ॥

एवमिति । एतेऽपि उपाधिभेदापेक्षिताः स्वभावहेतव एव द्रष्टव्याः । तथा हि—प्रयत्ने = हेतुव्यापारे सति यस्य सिद्धिः स प्रयत्नान्तरीयक इति । तेन 'अनित्यं प्रयत्नान्तरीयकत्वाद्' इत्ययमपि अनभिव्यक्तविशेषणः स्वभावहेतुरेव । प्रत्ययस्य भेदः प्रत्ययभेदः । प्रत्ययभेदेन भेत्तुं शीलं यस्य स प्रत्ययभेदभेदी, तस्य भावः प्रत्ययभेदभेदित्वम् । कारणभेदानुकूलरूपवत्त्वमिति शेषः ।

तथा हि—स्वल्पकर्दमपिण्डाद् घटः क्षुद्रो भवति, महतस्तु महान् भवति । निपुण-

[ध०] इह कदाचिच्छुद्ध एवार्थ उच्यते, कदाचिदव्यतिरिक्तेन विशेषणेन विशिष्टः, कदाचिद् व्यतिरिक्तेन । 'देवदत्तः' इति शुद्धः, 'लम्बकर्णः' इति अभिन्नकर्णद्वयविशिष्टः, चित्रगुरिति व्यतिरिक्तचित्रगवीविशिष्टः । तद्वत् शुद्धम्, उत्पत्तिमत्त्वमव्यतिरिक्तविशेषणम्; कृतकत्वं व्यतिरिक्तविशेषणम् ॥ ११ ॥

ननु च चित्रगुशब्दे व्यतिरिक्तस्य विशेषणस्य वाचकश्चित्रशब्दो गोशब्दश्चास्ति, कृतकशब्दे तु निर्विशेषणवाचिनः शब्दस्य प्रयोगोऽस्ति ? इत्याशङ्क्याह—**अपेक्षितेति । परेषां कारणानां व्यापारः स्वभावस्य निष्पत्तौ** निष्पत्त्यर्थमपेक्षितः परव्यापारो येन स तथोक्तः । हीति यस्मादर्थे । यस्मादपेक्षितपरव्यापारः कृतक उच्यते, तस्माद् व्यतिरिक्तेन विशेषणेन विशिष्टः स्वभाव उच्यते । यद्यपि व्यतिरिक्तं विशेषणपदं न प्रयुक्तम्, तथापि कृतशब्देनैव व्यतिरिक्तं विशेषणपदमन्तर्भावितम् । अतएव संज्ञाप्रकारोऽयं कृतकशब्दः, यस्मात् संज्ञायामयं कन् प्रत्ययो विहितः । यत्र च विशेषणमन्तर्भाव्यते, तत्र विशेषणपदं न प्रयुज्यते ।

क्वचित्तु प्रतीयमानं विशेषणम्, यथा कृत इत्युक्ते हेतुभिरित्येतत् प्रतीयते । तत्र च हेतुशब्दः प्रयुज्यते, कदाचिन्न वा प्रयुज्यते ॥ १२ ॥

प्रयुज्यमानस्वशब्दश्च यथा प्रत्ययभेदभेदिशब्दे प्रत्ययभेदशब्दः, यथा च कृतकशब्दो भिन्नविशेषणस्वभावाभिधायी, एवं **प्रत्ययभेदभेदित्वमादियेषां**

१४. [1]सन्नुत्पत्तिमान् कृतको वा शब्द इति पक्षधर्मोपदर्शनम् ॥

१५. सर्वे एते साधनधर्माः यथास्वं प्रमाणैः सिद्ध-साधन-धर्ममात्रानुबन्धे एव साध्यधर्मेऽवगन्तव्याः ॥

[न्या०] कुम्भकारव्यापारे सति शोभनो भवति, अनिपुणकुम्भकारव्यापारेऽशोभनो भवति। तस्माद् अनित्यं प्रत्ययभेदभेदित्वादित्ययमपि अनभिव्यक्तविशेषणः स्वभावहेतुरेव ॥ १३ ॥

पूर्वं त्रयाणां स्वभावहेतूनामन्वयमात्रमुक्तम्, इदानीं तेन क्रमेण पक्षधर्मा उच्यन्ते। सन् शब्दः, उत्पत्तिमान् शब्दः, कृतकः शब्द इति प्रयोगभेददर्शनार्थं वा इति ॥ १४ ॥

"तन्मात्रानुबन्धिनि साध्यधर्मे स्वभावो हेतुः" (२.१५) इति पूर्वं स्वभावहेतुलक्षणं यदभिहितम्, तत्प्रयोगार्थमाह—सर्वे एते साधनधर्मा इति। पूर्वं येषां त्रिविधानां स्वभावहेतूनां पक्षधर्मा उक्ताः, ते यथास्वं प्रमाणैरिति। यस्य यदात्मीयं प्रमाणं तैः स्वप्रमाणैः।

[ध०] प्रयत्नानन्तरीयकत्वादीनां तेऽपि स्वभावहेतोः प्रयोगाः भिन्नविशेषणस्वभावाभिधायिनो द्रष्टव्याः।

प्रत्ययानाम् = कारणानाम्, भेदः = विशेषः, तेन प्रत्ययभेदेन भेत्तुं शीलं यस्य स प्रत्ययभेदभेदी शब्दः, तस्य भावः प्रत्ययभेदभेदित्वम्। ततः प्रत्ययभेदभेदित्वाच्छब्दस्य कृतकत्वं साध्यते। प्रयत्नानन्तरीयकत्वानित्यत्वम्। तत्र प्रत्ययभेदशब्दो व्यतिरिक्तविशेषणाभिधायी प्रत्ययभेदभेदिशब्दे प्रयुक्तः। प्रयत्नानन्तरीयकशब्दे च प्रयत्नशब्द।

तदेवं त्रिविधः स्वभावहेतुप्रयोगो दर्शितः—१. शुद्धः, २. अव्यतिरिक्तविशेषणः, ३. व्यतिरिक्तविशेषणश्च। एवमर्थं चैतदाख्यातम्—वाचकभेदान्मा भूत् कस्यचित् स्वभावहेतावपि प्रयुक्ते व्यामोह इति ॥ १३ ॥

अथ किमेते स्वभावहेतवः सिद्धसम्बन्धे स्वभावे साध्ये प्रयोक्तव्याः? आहोस्वित् असिद्धसम्बन्धे? इति दर्शयितुमाह—सर्वे एते इति। गमकत्वात् साधनानि, पराश्रितत्वाच्च धर्माः, साधनधर्मा एव साधनधर्ममात्रम्। मात्रशब्देनाधिकस्यापेक्षणीयस्य निरासः। तस्यानुबन्धः = अनुगमनम्, अन्वयः। सिद्धः साधनधर्ममात्रानुबन्धो यस्य स तथोक्तः। केन सिद्धः? इत्याह—

---

१. अस्य चतुर्दशसूत्रस्य धर्मोत्तरकृतं व्याख्यानं नोपलभ्यते।

१६. तस्यैव तत्स्वभावत्वात् ॥

सिद्धसाधनधर्ममात्रानुबन्धे एव साध्यधर्मेऽवगन्तव्या इति। साधनधर्म-स्वरूपमेव साधनधर्ममात्रम्। साधनधर्ममात्रेण अनुबन्धः=साधनधर्ममात्रानुबन्धः। अनुबन्धः=सम्बन्धः। अन्वय इति शेष। सिद्धः साधनधर्मामात्रानुबन्धो यस्य साध्य-धर्मस्य तस्मिन्।

यथास्वं साध्यधर्मे साधनधर्ममात्रानुबन्धे साधिते एव ते पक्षधर्मा हेतुत्वेनाभिधेया इति ॥ १५ ॥

कस्माच्च साध्यधर्मे साधनधर्ममात्रानुबन्ध इति चेत्? तत्राह—तस्यैवेति।

तथाहि—परमार्थतोऽनित्यस्वभाव एव कृतकः। अन्यश्च कृतकः, अन्यश्च अनित्य इति तु न। कथमिति चेत्? हेतुप्रत्ययैर्यत् क्रियते तद् विनश्यत्स्वभावमेवेति ॥ १६ ॥

[ध०] **यथास्वं प्रमाणैरिति**। यस्य साध्यधर्मस्य यदात्मीयं प्रमाणं तेनैव प्रमाणेन सिद्ध इत्यर्थः। स्वभावहेतूनां च बहुभेदत्वात् सम्बन्धसाधनान्यपि प्रमाणानि बहूनीति **प्रमाणैरिति** बहुवचननिर्देशः। गमयितव्यत्वात् साध्यः, पराश्रितत्वाच्च धर्मः साध्यधर्मः।

तदयं परमार्थः—न हेतुः प्रदीपवत् योग्यतया गमकः, अपितु नान्तरीय-कतया विनिश्चितः। साध्याविनाभावित्वनिश्चयनमेव हि हेतोः साध्यप्रति-पादनव्यापारः, नान्यः कश्चित्।

प्रथमं बाधकेन प्रमाणेन साध्यप्रतिबन्धो निश्चेतव्यो हेतोः। पुनरनुमान-काले साधनं साध्यनान्तरीयकं सामान्येन स्मर्तव्यम्। कृतकत्वं नामानित्य-स्वभावमिति सामान्येन स्मृतमर्थं पुनर्विशेषे योजयति--इदमपि कृतकत्वं शब्दे वर्तमानमनित्यस्वभावमेवेति।

तत्र सामान्यस्मरणं लिङ्गज्ञानम्। विशिष्टस्य तु शब्दगतकृतकत्वस्या-नित्यत्वस्वभावस्य स्मरणमनुमानज्ञानम्। तथा च सत्यविनाभावित्वज्ञानमेव परोक्षार्थप्रतिपादकत्वं नाम। तेन निश्चिततन्मात्रानुबन्धे साध्यधर्मे स्वभाव-हेतवः प्रयोक्तव्याः, नान्यत्रेत्युक्तम् ॥ १५ ॥

यद्येवं सम्बन्धो निश्चेतव्यः साध्यस्य साधनेन सह, साधनधर्ममात्रा-नुबन्धस्तु साध्यस्य कस्मान्निश्चितो मृग्यते? इत्याह—तस्यैवेति। सिद्ध-साधनधर्ममात्रानुबन्धस्य। **तत्स्वभावत्वा**दिति। साधनधर्मस्वभावत्वात्। यो हि साध्यधर्मः साधनधर्ममात्रानुबन्धवान् स एव तस्य साधनधर्मस्य स्वभावः, नान्यः ॥ १६ ॥

१७. स्वभावस्य च हेतुत्वात् ॥

१८. वस्तुतस्तयोस्तादात्म्यम्[1] ॥

१९. तन्निष्पत्तावनिष्पन्नस्य तत्स्वभावत्वाभावात् ॥

[न्या०] स्वभावस्येति । अत्र साध्यस्य स्वभाव एव हेतुरुक्तः, कथं साध्याननुबन्धी स्यात् तथा हि तन्मात्रानुबन्धो स्वभाव एवेति ॥ १७ ॥

तच्च कस्मात् इति चेत् ? तत्राह—तन्निष्पत्ताविति ।

यदि साधनधर्मस्य कृतकत्वादेः सिद्धौ साध्योऽनित्यत्वादिनं सिद्धयति, तदा कृतकत्वानित्यत्वे परमार्थत एकस्वभावे न स्याताम् ॥ १९ ॥

[ध०] भवतु ईदृश एव स्वभावः, स्वभाव एव तु साध्ये कस्माद् हेतुप्रयोगः ? **स्वभावस्य च हेतुत्वादिति** । स्वभाव एवेह हेतुः प्रक्रान्तः । तस्मात् स एव साध्यः कर्तव्यो यः साधनस्य स्वभावः स्यात् । साधनधर्ममात्रानुबन्धवाँश्च स्वभावः, नान्यः ॥ १७ ॥

यदि साध्यधर्मः साधनस्य स्वभावः स्यात्, प्रतिज्ञार्थैकदेशस्तर्हि हेतुः स्यात् ? इत्याह--**वस्तुत इति** । **वस्तुतः** परमार्थतः साध्यसाधनयो**स्तादात्म्यम्** । समारोपितस्तु साध्यसाधनभेदः । साध्यसाधनभावो हि निश्चयारूढे रूपे । निश्चयारूढं च रूपं समारोपितेन भेदेनेतरेतरव्यावृत्तिकेन भिन्नमिति अन्यत् साधनम्, अन्यत् साध्यम् । दूराद्धि शाखादिमानर्थो 'वृक्षः' इति निश्चीयते न शिंशपेति । अथ च स एव वृक्षः, सैव शिंशपा । तस्मादभिन्नमपि वस्तु निश्चयो भिन्नमादर्शयति व्यावृत्तिभेदेन । तस्मात् निश्चयारूढरूपापेक्षया अन्यत् साधनम्, अन्यत् साध्यम् । अतो न प्रतिज्ञार्थैकदेशो हेतुः । वास्तवं च तादात्म्यमिति ॥ १८ ॥

कस्मात् पुनः साधनधर्ममात्रानुबन्ध्येव साध्यः स्वभावः, नान्यः ? इत्याह--**तन्निष्पत्ताविति** । यो हि यन्नानुबध्नाति स तन्निष्पत्तावनिष्पन्नः, तस्य **तन्निष्पत्तावनिष्पन्नस्य** साधनस्वभावत्वमयुक्तम् । यतो निष्पत्त्यनिष्पत्ती भावाभावस्वरूपे । भावाभावौ च परस्परपरिहारेण स्थितौ । यदि च पूर्वनिष्पन्नस्य, अनिष्पन्नस्य चैक्यं भवेद्, एकस्यैवार्थस्य भावाभावौ स्यातां युगपत् । न च विरुद्धयोर्भावाभावयोरैक्यं युज्यते; विरुद्धधर्मसंसर्गात्मककत्वादेकत्वाभावस्य ।

किञ्च, पश्चादुत्पद्यमानं पूर्वनिष्पन्नाद् भिन्नहेतुकम्, हेतुभेदपूर्वकश्च

१. अस्य सूत्रस्य विनीतदेवव्याख्या नोपलब्धा ।

२०. व्यभिचारसम्भवाच्च ॥

२१. कार्यहेतोः प्रयोगः—यत्र धूमस्तत्राग्निः, यथा महानसादौ। अस्ति चेह धूम इति ॥

२२. इहापि सिद्धे एव कार्यकारणभावे कारणे साध्ये कार्यहेतुर्वक्तव्यः ॥

[न्या०] यदि कृतकत्वापरिनिष्पत्तावुत्तरकाले दण्डादिकारणान्तरेणानित्यत्वं क्रियते, तदा व्यभिचारः स्यात्, दण्डादेरपि स्वप्रत्ययसापेक्षतयोत्पन्नत्वात्। तदवश्यमेवानुत्पन्नस्य कस्यापि विनाशस्यापि न सम्भव इति ॥ २० ॥

कार्यहेतोः प्रयोग इति। साधर्म्यवदनुमानस्य कार्यहेतोः प्रयोग उपदर्श्यते। यत्र धूमस्तत्राग्निरिति। यत्रेति यस्मिन् प्रदेशे धूमस्तत्र सर्वत्राग्निरित्यन्वय इति। यथा महानसादाविति। अनेन दृष्टान्तो दर्शितः। अस्ति च इह धूम इति। अभिमतदेशे च धूमो दृश्यत इति पक्षधर्मो दर्शितः ॥ २१ ॥

कार्यहेतावपि पूर्वं कार्यकारणभावः साधनीयः, अनन्तरं च कारणसाधनार्थं कार्यहेतुर्वक्तव्यः। तथा हि—स्वरूपेण निश्चितमेव लिङ्गं ज्ञेयम्, न तु अनिश्चितमेवेति ॥ २२ ॥

[ध०] कार्यभेदः, ततो निष्पन्नानिष्पन्नयोर्विरुद्धधर्मसंसर्गात्मको भेदो भेदहेतुश्च कारणभेद इति कुत एकत्वम्! तस्मात् साधनधर्ममात्रानुबन्ध्येव साध्यः स्वभावः, नान्यः ॥ १९ ॥

मा भूत् पश्चान्निष्पन्नः पूर्वजस्य स्वभावः, साध्यस्तु कस्मान्न भवति? इत्याह—**व्यभिचारेत्यादि**। पूर्वजेन पश्चान्निष्पन्नस्य व्यभिचारः=परित्यागो यस्तस्य **सम्भवाच्च** न पूर्वनिष्पन्नस्य पश्चान्निष्पन्नः साध्यः। तस्मात् साधनधर्ममात्रानुबन्ध्येव स्वभावः। स एव च साध्यः। तथा च सिद्धसाधनधर्ममात्रानुबन्ध एव स्वभावे स्वभावहेतवः प्रयोक्तव्या इति स्थितम् ॥ २० ॥

कार्यहेतोः प्रयोग इति। साधर्म्यवानिति प्रकरणादपेक्षणीयम्। **यत्र धूम** इति धूममनूद्य **तत्राग्निरिति** अग्नेर्विधिः। तथा च नियमार्थः पूर्ववदवगन्तव्यः। तदनेन कार्यकारणभावनिमित्ता व्याप्तिर्दर्शिता।

व्याप्तिसाधनप्रमाणविषयं दर्शयितुमाह—**यथा महानसादाविति**। महानसादौ हि प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां कार्यकारणभावात्माविनाभावो निश्चितः। **अस्ति चेहेति**। साध्यधर्मिणि पक्षधर्मोपसंहारः ॥ २१ ॥

इहापीति। न केवलं स्वभावहेतौ, **इहापि** कार्यहेतौ। **सिद्ध एवेति**। निश्चिते कार्यकारणत्वे। कार्यकारणभावनिश्चयो ह्यवश्यं कर्तव्यः, यतो न योग्यतया हेतुर्गमकोऽपितु नान्तरीयकत्वादित्युक्तम् ॥ २२ ॥

२३. वैधर्म्यवतः प्रयोगः—यत् सद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं तदुपलभ्यत एव। यथा नीलादिविशेषः। न चैवमिहोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य सत उपलब्धिर्घटस्येति अनुपलब्धिप्रयोगः ॥

२४. असति अनित्यत्वे, नास्ति सत्त्वम् उत्पत्तिमत्त्वं कृतकत्वं वा। सन् च शब्द उत्पत्तिमान् कृतको वेति स्वभावहेतोः प्रयोगः ॥

[न्या०] वैधर्म्येत्यादि। यानि च वैधर्म्यवदनुमानानि, तानि वक्तव्यानि।

यत् सद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं तदुपलभ्यत एवेति। सच्च वस्तु किमप्युपलब्धिलक्षणप्राप्तं यदि स्यात्, तदा अवश्यमुपलभ्येत। एतेन व्यतिरेक उक्तः। यथा नीलादिविशेष इति। वैधर्म्यदृष्टान्तः।

न चैवमिहोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य घटस्योपलब्धिरिति। उपलब्धिरित्युपलब्धिलक्षणप्राप्तो यादृशो नीलादिविशेष उपलभ्यते, तादृशो घट इह नास्ति। इहेति अनेनाभिमतः प्रदेश उक्तः। अनुपलब्धिप्रयोग इति। अयमनुपलब्धेर्वैधर्म्यवान् ॥ २३ ॥

असति अनित्यत्वे नास्ति सत्त्वमुत्पत्तिमत्त्वं वेति। अनेन त्रयाणां स्वभावहेतूनां व्यतिरेक उपदिष्टः। सन् च शब्द उत्पत्तिमान्, कृतको वेति पक्षधर्मा उक्ताः। स्वभावहेतोः प्रयोग इति। एते च स्वभावहेतोर्वैधर्म्यवन्तः प्रयोगा इति ॥ २४ ॥

[ध०] साधर्म्यवान् स्वभावकार्यानुपलम्भानां प्रयोगो दर्शितः, वैधर्म्यवन्तं दर्शयितुमाह—**वैधर्म्यवत** इति। **यत् सद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तमिति**। यत् सद् दृश्यमित्यस्तित्वानुवादः। **तदुपलभ्यत** इति उपलम्भविधिः। तदनेन दृश्यस्य सत्त्वं दर्शनविषयत्वेन व्याप्तं कथितम्, असत्त्वनिवृत्तिश्च। सत्त्वम्, अनुपलम्भनिवृत्तिश्च उपलम्भः। तेन साध्यनिवृत्त्यनुवादेन साधननिवृत्तिर्विहिता। तथा च साध्यनिवृत्तिः साधननिवृत्तौ नियतत्वात् साधननिवृत्त्या व्याप्ता कथिता। यदि च धर्मिणि साध्यधर्मो न भवेद्, हेतुरपि न भवेत्। हेत्वभावेन साध्याभावस्य व्याप्तत्वात्। अस्ति च हेतुः। अतो व्यापकस्य साधनाभावस्याभावाद् व्याप्यस्य साध्याभावस्याभाव इति साध्यगतिर्भवति। ततो वैधर्म्यप्रयोगे साधनाभावे साध्याभावो नियतो दर्शनीयः सर्वत्रेति न्यायः ॥ २३ ॥

स्वभावहेतोर्वैधर्म्यप्रयोगमाह—**असत्यनित्यत्व** इति। इहानित्यत्वस्य साध्यस्याभावो हेतोरभावे नियत उच्यते। तेन हेत्वभावेन साध्याभावो

२५. असत्यग्नौ न भवत्येव धूमः। अत्र चास्ति धूम इति कार्यहेतोः प्रयोगः ।।

२६. साधर्म्येणापि हि प्रयोगेऽर्थाद् वैधर्म्यगतिरिति ।।

२७. असति तस्मिन् साध्येन हेतोरन्वयाभावात् ।।

[न्या०] असत्यग्नौ न भवत्येव धूम इति । अनेन व्यतिरेक उक्तः अत्र च । 'अस्तीति' अनेन पक्षधर्म उक्तः । कार्यहेतोः प्रयोग इति । कार्यहेतोर्वैधर्म्यवान्, प्रयोग उपदर्शित इति ।। २५ ।।

साधर्म्यवदनुमाने चान्वयः, पक्षधर्मो व्यतिरेकश्चेति त्रीणि रूपाणि नाभिव्यक्तानि, कथं परार्थानुमानं त्रिरूपलिङ्गाख्यानमिति चेत् ? तत्राह—साधर्म्येणेति ।

यस्मात् सामर्थ्यद्वारेण साधर्म्यवत्प्रयोगेऽपि वैधर्म्यस्य प्रतीतिः, तस्मात् यथोक्तप्रसङ्गो नास्तीति ।। २६ ।।

सामर्थ्यं च कीदृशमिति चेत् ? आह—असतीति ।

यदि व्यतिरेको न स्यात्, तदा साध्येन हेतोरन्वयोऽप्यसिद्ध एव स्यादिति ।। २७ ।।

[ध०] व्याप्त उक्तस्त्रिष्वपि स्वभावहेतुषु । सन्नुत्पत्तिमान् कृतको वा शब्द इति । त्रयाणामपि पक्षधर्मत्वकथनम् । इह च साधनाभावस्य व्यापकस्याभाव उक्तः । ततो व्याप्योऽपि साध्याभावो निवर्तत इति साध्यगति ।। २४ ।।

कार्यहेतोर्वैधर्म्यवत्प्रयोगमाह—असत्यग्नाविति । इहापि वह्न्यभावो धूमाभावेन व्याप्त उक्तः । अस्ति चात्र धूम इति । व्यापकस्य धूमाभावस्य भाव उक्तः । ततो व्याप्यस्य वह्न्यभावस्याभावे साध्यगतिः ।। २५ ।।

ननु च साधर्म्यवति व्यतिरेकोनोक्तः, वैधर्म्यवति चान्वयः, तत् कथमेतत् त्रिरूपलिङ्गाख्यानम् ? इत्याह—साधर्म्येणेति । साधर्म्येणाप्यभिधेयेन युक्ते प्रयोगे क्रियमाणे अर्थात् सामर्थ्यात् वैधर्म्यस्य व्यतिरेकस्य गतिर्भवतीति । हीति यस्मात् । तस्मात् त्रिरूपलिङ्गाख्यानमेतत् ।

यदि नाम व्यतिरेकोऽन्वयवता नोक्तः, तथापि अन्वयवाचकः सामर्थ्यादेवावसीयते ।। २६ ।।

कथम् ? असति तस्मिन् व्यतिरेके बुद्ध्या व्यवसिते साध्येन हेतोरन्वयस्य बुद्ध्याध्यवसितस्याभावात् । साध्ये नियतं साधनमन्वयवाक्यादवस्यता साध्याभावे साधनं नाशङ्कनीयम् । इतरथा साध्यनियतमेव न प्रतीतं स्यात् । साध्याभावे च साधनाभावगतिर्व्यतिरेकगतिः । अतः साध्यनियतस्य साधनस्याभिधानसामर्थ्यादन्वयवाक्येऽवसितो व्यतिरेकः ।। २७ ।।

२८. तथा वैधर्म्येणाप्यन्वयगतिः ॥

२९. असति तस्मिन् साध्याभावे हेत्वभावस्यासिद्धेः ॥

३०. नहि स्वभावप्रतिबन्धेऽसत्येकस्य निवृत्तावपरस्य नियमेन निवृत्तिः ॥

३१. स च द्विप्रकारः सर्वस्य तादात्म्यलक्षणः, तदुत्पत्तिलक्षणश्चेत्युक्तम ॥

[न्या०] वैधर्म्यवत्प्रयोगेऽपि सामर्थ्येनान्वयप्रतीतिर्भवतीति ॥ २८ ॥

अथ तच्च साधर्म्यं कीदृशमिति चेत् ? आह—असतीति ।

यदि साध्येन हेतोरन्वयो न स्यात् तदा साध्याभावेऽपि हेतोरभावः कथम् स्यात् ! ॥ २९ ॥

अन्वयाभावे व्यतिरेकोऽसिद्ध इत्येतत् कस्मादिति चेत् ? तत्राह—नहीत्यादि । यदि स्वभावप्रतिबन्ध आत्मा स्वरूपेण प्रतिबन्धो न स्यात् तदा एकनिवृत्तावपि अपरस्य निवृत्तिर्नियमेन न स्यात् । यथा क्वचिदश्वाभावे गवामप्यभावो नेति ॥ ३० ॥

सच सर्वस्य द्विप्रकार इति । सर्वस्यैव पदार्थस्य यः कोऽपि प्रतिबन्धो योग्यः समुपलभ्यते स सर्वः प्रकारद्वय एवान्तर्भवति । तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिलक्षणश्चेत्युक्त-

[ध०] तथेति । यथा अन्वयवाक्ये, तथा अर्थादेव वैधर्म्येण प्रयोगेऽन्वयस्याभिधीयमानस्यापि गतिः ॥ २८ ॥

कथम् ? **असति तस्मिन्** अन्वये बुद्धिगृहीते **साध्याभावे हेत्वभावस्यासिद्धे**रनवसायात् । हेत्वभावे साध्याभावं नियतं व्यतिरेकवाक्यादवस्यता हेतुः सम्भवे साध्याभावो नाशङ्कनीयः, इतरथा हेत्वभावे नियतो न स्यात् प्रतीतः। हेतुमत्त्वे च साध्यसत्त्वगतिरन्वयगतिः । अतः साधनाभावनियतस्य साध्याभावस्याभिधानसामर्थ्याद् व्यतिरेकवाक्येऽन्वयगतिः ॥ २९ ॥

यदि नामाकाशादौ साध्याभावे साधनाभावः, तथापि किमिति हेतुसम्भवे साध्यसम्भवः ? इत्याह—**नहीति** । **स्वभावेन प्रतिबन्धो** यस्तस्मिन्न**सत्येकस्य** साध्यस्य निवृत्त्या **नापरस्य** साधनस्य **नियमेन** युक्ता नियमवती **निवृत्तिः** ॥ ३० ॥

स च स्वभावप्रतिबन्धो **द्विप्रकारः सर्वस्य** प्रतिबद्धस्य । **तादात्म्यं लक्षणं** निमित्तं यस्य स तथोक्तः । **तदुत्पत्तिर्लक्षणं** निमित्तं तस्य स तथोक्तः । यो यत्र प्रतिबद्धस्तस्य स प्रतिबन्धविषयोऽर्थः स्वभावः कारणं वा स्यात्; अन्यस्मिन् प्रसिद्धत्वानुपपत्तेः । तस्माद् 'द्विप्रकारः सः' इत्युक्तम् । स च "साध्येऽर्थे लिङ्गस्य" (न्या० वि० २.२१) इत्यत्रान्तरेऽभिहितः ॥ ३१ ॥

३२. तेन हि निवृत्तिं कथयता प्रतिबन्धो दर्शनीयः। यस्माद् निवृत्तिवचनमाक्षिप्तप्रतिबन्धोपदर्शनमेव भवति। यच्च प्रतिबन्धोपदर्शनं तदेवान्वयवचनमित्येकेनापि वाक्येन अन्वयमुखेन व्यतिरेकमुखेन वा प्रयुक्तेन सपक्षासपक्षयोर्लिङ्गस्य सदसत्त्वख्यापनं कृतं भवतीति नावश्यं वाक्यद्वयप्रयोगः ॥

[न्या०] मिति। तस्य आत्मा तदात्मा, तदात्मनो भावस्तादात्म्यम्, तादात्म्यं लक्षणं यः स तादात्म्यलक्षणः। तस्मादुत्पत्तिस्तदुत्पत्तिः, तदुत्पत्तिर्लक्षणं यस्य स तदुत्पत्तिलक्षण इति विग्रहः। एतच्च पूर्वमुक्तमेव ॥ ३१ ॥

यस्मात् प्रतिबन्धे सति एकनिवृत्त्या अपरनिवृत्तिर्भवति, अभावे न; तेन हेतुना कस्यचिदेकस्य निवृत्त्या अपरनिवृत्तिरभिधीयते। एतेन निवर्त्यनिवर्तकयोः प्रतिबन्ध उक्त इति।

निवृत्तिवचनेनैव प्रतिबन्ध आक्षिप्यत इति।

यद्येवम् स्यादेव, ततश्च किमायातम् ? इति चेदाह—यदेव प्रतिबन्धोपदर्शनं तदेवान्वय इति। तस्मादेकेनापि वाक्येनान्वयमुखेन व्यतिरेकमुखेन वा प्रयुक्तेन सपक्षासपक्षयोर्लिङ्गस्य सदसत्त्वख्यापनं कृतं भवतीति। यद्यपि अन्वयमुखेन

[ध०] हिर्यस्मादर्थे। यस्मात् स्वभावप्रतिबन्धे निवर्त्य-निवर्तकभावः, तेन साध्यस्य निवृत्तौ साधनस्य **निवृत्तिं कथयता** प्रतिबन्धो निवर्त्य-निवर्तकयोर्दर्शनीयः। यदि हि साधनं साध्ये प्रतिबद्धम् भवेत्, एवं साध्यनिवृत्तौ तन्नियमेन निवर्तेत। यतश्च तस्य प्रतिबन्धो दर्शनीयः, तस्मात् साध्यनिवृत्तौ यत् साधन-निवृत्तिवचनं तेनाक्षिप्तं **प्रतिबन्धोपदर्शनम्**। यच्च तदाक्षिप्तं प्रतिबन्धोपदर्शनं **तदेवान्वयवचनम्**। प्रतिबन्धश्चेदवश्यं दर्शयितव्यः, न वक्तव्यस्तर्हि अन्वयः। यस्मात् दृष्टान्ते प्रमाणेन प्रतिबन्धो दर्श्यमान एवान्वयः, नापरः कश्चित्, तस्मात् निवर्त्य-निवर्तकयोः प्रतिबन्धो ज्ञातव्यः। तथा च अन्वय एव ज्ञातो भवति। **इति**शब्दो हेतौ। यस्मादन्वयेऽपि व्यतिरेकगतिः व्यतिरेके चान्वयगतिः, **तस्मादेकेनापि सपक्षे चासपक्षे** च सत्त्वासत्त्वयोः ख्यापनं कृतम्।

अन्वयो मुखम् =उपायोऽभिधेयत्वाद् यस्य तद् **अन्वयमुखं वाक्यम्**। एवं व्यतिरेको मुखं यस्येति। **इति** हेतौ। यस्मादेकेनापि वाक्येन द्वयगतिः, तस्माद् एकस्मिन् साधनवाक्ये द्वयोरन्वय-व्यतिरेकयोरवश्यमेव प्रयोगो न न कर्तव्यः।

३३. अनुपलब्धावपि यत्सद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं तदुपलभ्यत एवेत्युक्तेऽनुपलभ्यमानं तादृशमसदिति प्रतीतेरन्वयसिद्धिः ॥

३४. द्वयोरप्यनयोः प्रयोगयोर्नावश्यं पक्षनिर्देशः ॥

[न्या०]प्रयोगः क्रियते चेद् व्यतिरेकमुखेन करणमपि युक्तमेव, तथापि उक्तप्रकारेण सपक्षासपक्षयोः सत्त्वासत्त्वयोरभिधानमेव सत्त्वासत्त्वप्रदर्शनं भवतीति उभयेनापि लिङ्गेन प्रत्येकं क्रियते ।

इति नावश्यं वाक्यद्वयप्रयोग इति । तस्मादेकस्मिन्नेव प्रयोगे साधर्म्यवतो वैधर्म्यवतश्च वाक्यद्वयस्य प्रयोगो नावश्यं कार्यः ।। ३२ ।।

एवं कार्य-स्वभावहेत्वोरन्वय-व्यतिरेकयोः परस्पराक्षेपोऽभिहितः । तृतीयहेतुनिर्देशार्थमाह—अनुपलब्धावपीति ।

कार्य-स्वभावहेतुभ्यामनधिगतस्येति शेषः । यदोपलब्धिलक्षणप्राप्तं यदि स्याद्, अवश्यमुपलभ्येत इति व्यतिरेक उच्यते, तदोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भे सामर्थ्यान्नास्तीति प्रतीतिर्जायते । तस्मादन्वयसिद्धिराक्षिप्यत एव । एवमन्वयाक्षेप उक्तः । अनुपलब्धौ व्यतिरेकाक्षेपस्तु स्वयं द्रष्टव्य इति ।। ३३ ।।

साधर्म्यवति वैधर्म्यवति चानुमाने उभयत्रापि पक्षनिर्देशो नास्ति । एवं च पक्षनिर्देशाभाव एव कल्प्यत इति चेत् ? तत्राह—द्वयोरपीति ।

'अवश्यमेव पक्षो निर्देश्यः' इति यो नियमः, स तु नास्ति ।। ३४ ।।

[ध०] अर्थगत्यर्थो हि शब्दप्रयोगः । अर्थश्चेदवगतः किं शब्दप्रयोगेण ! एकमेवान्वयवाक्यं व्यतिरेकवाक्यं वा प्रयोक्तव्यम् ।। ३२ ।।

अनुपलब्धावपि व्यतिरेकेणोक्तेनान्वयगतिः । **यत् सद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तमिति** । साध्यस्य असद्व्यवहारयोग्यत्वस्य निर्वृत्तिं दृश्यसत्त्वरूपामाह । **तदुपलभ्यत एवेति** । अनुपलम्भस्य निवृत्तिमुपलम्भरूपामाह । तदनेन साध्यनिवृत्तिः साधननिवृत्त्या व्याप्ता दर्शिता । यदि च साधनसम्भवेऽपि साध्यनिवृत्तिर्भवेत् न साधनाभावेन व्याप्ता भवेत् । अतो व्याप्तिं प्रतिपद्यमानेन साधनसम्भवः साध्यसम्भवेन व्याप्तः प्रतिपत्तव्यः । अत एवाह—**अनुपलभ्यमानं तादृशमिति** । दृश्यम् । **असदिति प्रतीतेः** सम्प्रत्ययात् अन्वयसिद्धिरिति ।। ३३ ।।

यतश्च साधनं साध्यधर्मप्रतिबद्धं तादात्म्य-तदुत्पत्तिभ्यां प्रतिपत्तव्यं द्वयोरपि प्रयोगयोः, तस्मात् **पक्षोऽवश्यमेव न निर्देश्यः** । यत् साधनं साध्यनियतं प्रतीतं तत एव साध्यधर्मिणि दृष्टात् साध्यप्रतीतिः । अतो न किञ्चित् साध्यनिर्देशनेति ।। ३४ ।।

३५. यस्मात् साधर्म्यवत्प्रयोगेऽपि यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं तन्नोपलभ्यते सोऽसद्व्यवहारविषयः। नोपलभ्यते चात्रापि उपलब्धिलक्षणप्राप्तो घट इति सामर्थ्यादेव इह घटो नास्तीति भवति ॥

३६. तथा वैधर्म्यवत्प्रयोगेऽपि यः सद्व्यवहारविषय उपलब्धिलक्षणप्राप्तः स उपलभ्यत एव। 'न तथात्र तादृशो घट उपलभ्यते' इत्युक्ते सामर्थ्यादेव नेह सद्व्यवहारविषय इति भवति ॥

[न्या०] उपलब्धिलक्षणप्राप्तो यावान्नोपलभ्यते स सर्वोऽसद्व्यवहारविषय इति निखिलपदार्थोसंहारेण अन्वयः कार्य इति। निखिलपदार्थोपसंहारेणान्वयो यत्र च पक्षधर्मः इत्येतयोर्निर्देश तच्च साध्यं तत्र सामर्थ्येन सिद्ध्यतीति पक्षनिर्देशस्य किं प्रयोजनम् ? ॥ ३५ ॥

निखिलपदार्थोपसंहारेण यो व्यतिरेकनिर्देशः पक्षधर्मश्चेति तदुभयसामर्थ्येन प्रतिज्ञाप्रतीतेर्न प्रतिज्ञानिर्देशः। अन्यथा यन्न प्रतीयते तन्निर्दिश्येत। यदा सामर्थ्येन प्रतिज्ञार्थप्रतीतिर्जायते तदा प्रतिज्ञावचनश्रवणे उपरोधेनापि क आग्रही स्यात् ! एवं च यदा सामर्थ्येन वितर्कविषयार्थविनिश्चयः, पक्षधर्मव्याप्तिनिर्देशबलाच्च प्रतिज्ञार्थावगमस्तत्र पक्षनिर्देशेन किम् ? एतच्च विनिश्चयवचनाभिधाने द्रष्टव्यम्। प्रपञ्चा-

[ध०] एनमेवार्थमनुपलब्धिप्रयोगे दर्शयति—यस्मादिति। साधर्म्यवति प्रयोगेऽपि सामर्थ्यादेव 'नेह प्रदेशे घटः' इति भवति।

किं पुनस्तत्सामर्थ्यम् ? इत्याह—यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते इति अनुपलम्भानुवादः। सोऽसद्व्यवहारविषय इति। असद्व्यवहारयोग्यत्वविधिः। तथा च सति दृश्यानुपलम्भोऽसद्व्यवहारयोग्यत्वेन व्याप्तो दर्शितः। नोपलभ्यते च इत्यादिना साध्यधर्मिणि सत्त्वं लिङ्गस्य दर्शितम्। यदि च साध्यधर्मस्तत्र साध्यधर्मिणि न भवेत्, साधनधर्मोऽपि न भवेत्। साध्यनियतत्वात् तस्य साधनधर्मस्येति सामर्थ्यम् ॥ ३५ ॥

यथा साधर्म्यवत्प्रयोगे तथा वैधर्म्यवत्प्रयोगेऽपि नेह सद्व्यवहारविषयोऽस्ति घट इति भवति।

सामर्थ्यं दर्शयितुमाह—यः सद्व्यवहारविषय इति। विद्यमानः। उपलब्धिलक्षणप्राप्त इति। दृश्य इत्येषा साध्यनिवृत्तिः। स उपलभ्यत एवेति। साध्यनिवृत्तिरिति। अनेन च साध्यनिवृत्तिः साधननिवृत्त्या व्याप्ता दर्शिता। न तथेति। यथाऽन्यो दृश्य उपलभ्यते न तथात्र प्रदेशे तादृश इति। दृश्यो घटः। उपलभ्यते इति। अनेन साध्यनिवृत्तेर्व्यापिका निवृत्तिरसती साध्यधर्मिणि दर्शिता। यदि च साध्यधर्मः साध्यधर्मिणि न स्यात् साधन-

३७. कीदृशः पुनः पक्ष इति निर्देश्यः ।।

३८. स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतो निर्देश्यः पक्ष इति ।।

३९. स्वरूपेणेति साध्यत्वेनेष्ट इति ।।

४०. स्वरूपेणैवेति साध्यत्वेनैवेष्टो न साधनत्वेनापि ।।

[न्या०] भिधानार्थे पक्षनिर्देशे च दोषः कोऽपि नास्ति । अत एव नियमो नेत्युक्तम् । यदि पुनः सर्वथा पक्षनिर्देशप्रतिषेध एवाभिप्रेतः स्यात्, तर्हि वचनमेतदवश्यं नोपदिश्येत इत्युक्तं भवतीति ।। ३६ ।।

यदि विनिश्चयवचनाभिधाने च पक्षनिर्देश इति उच्यते, यत्र प्रपञ्चाभिधानं तत्र निर्देशः, तर्हि कीदृग्लक्षणविशिष्टः पक्षत्वेनाभिधेय इति चेद् ? आह—कीदृश इति ।

यश्चार्थो वादयभिमतेन विषयीकृतः साध्यरूपेणैव निर्दिश्यते, तथा प्रत्यक्षादिना च न निराक्रियते तादृशोऽर्थः पक्ष इति अभिधेयः । एव समासार्थः ।। ३८ ।।

अवयवार्थस्तु—स्वरूपेणेति ।

साध्यरूपेण विना अन्यरूपेण न युज्यते इति स्वरूपेणोक्तमेव साध्यत्वेनावगन्तव्यमिति ।। ३९ ।।

अनयोक्त्या केवलसाध्यरूपेण निर्देश्यस्यैव पक्षत्वेनाभिधानम् । अन्यरूपेण निर्देश्यस्य तु नेति ।। ४० ।।

[ध०] धर्मोऽपि न भवेत् । अस्ति च साधनधर्म इति सामर्थ्यम् । अतः **सामर्थ्यात् नास्त्यत्र** घट इति प्रतीतेर्न पक्षनिर्देशः । एवं कार्य-स्वभावहेत्वोरपि सामर्थ्यात् सम्प्रत्यय इति न पक्षनिर्देशः ।। ३६ ।।

कीदृशः पुनरर्थः पक्ष इति । अनेन शब्देन **निर्देश्यो** वक्तव्यः ? इति ।। ३७ ।।

आह—**स्वरूपेणैवेति** । साध्यत्वेनैव । **स्वयमिति** वादिना । **इष्ट** इति । नोक्त एव, अपि त्विष्टोऽपीत्यर्थः । एवम्भूतः सन् प्रत्यक्षादिभिः **अनिराकृतो** योऽर्थः स **पक्ष** इत्युच्यते ।

अथ यदि पक्षो न निर्देश्यः, कथमनिर्देश्यस्य लक्षणमुक्तम् ? न साधनवाक्यावयवत्वादस्य लक्षणमुक्तम्, अपि त्वसाध्ये केचित् साध्यम्, साध्यं चासाध्यमिति । केचित् प्रतिपन्नाः, तत्साध्यासाध्यप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं पक्षलक्षणमुक्तम् ।। ३८ ।।

स्वरूपेणेष्ट इत्यस्य विवरणम्—**स्वरूपेणेति** । **साध्यत्वेनेष्ट** इति । पक्षस्य साध्यत्वान्नापरमस्ति रूपम् । अतः स्वरूपं साध्यत्वमिति ।। ३९ ।।

एवशब्दं विवरीतुमाह—**स्वरूपेणैवेति** । ननु चैवशब्दः केवल एव

४१. यथा शब्दस्यानित्यत्वे साध्ये चाक्षुषत्वं हेतुः, शब्देऽसिद्धत्वात् साध्यं भवतीति न पुनरत्र साध्यत्वेनैवेष्टम्, साधनत्वेनाप्यभिधानात् ॥

४२. स्वयमिति वादिना ॥

४३. यस्तदा साधनमाह ॥

[न्या०] साध्यरूपान्यरूपविशिष्टस्य निर्देशः कीदृशः ? इति चेदाह—यथेति ।

'यः शब्दः सोऽनित्यः' इत्युच्यमाने तच्च चाक्षुषत्वं शब्देऽसिद्धमिति साध्यं भवति । तस्मात् स्वरूपेणैवेति निर्देशाभावे चाक्षुषत्वनिर्देशस्यापि पक्षत्वप्रसङ्गः ।

यदि तस्मिन् साध्यरूपमस्त्येव, कस्मान्न पक्ष इति चेद् ? आह—अत्रेति ।

चाक्षुषत्वे साध्यरूपता अस्त्येव । तथापि हेतुत्वेन निर्देशान्न केवलं साध्यस्वरूपत्वमेव । साधनरूपताऽप्यस्ति । तस्मात् साध्यत्वेऽपि अतिरिक्तसाधनरूपसत्त्वादधिकवचनस्य पक्षत्वं निरस्तम् ॥ ४१ ॥

साधनं कथयता स्वयं निर्देश्यो योऽर्थः स एव पक्षः, शास्त्रकारेण निर्देश्यस्तु नेति शेषः ॥ ४२ ॥

[ध०] प्रत्यवम्रष्टव्यः, तत् किमर्थं स्वरूपशब्देन सह प्रत्यवमृष्टः ? उच्यते; एवशब्दो निपातो द्योतकः । पदान्तराभिहितस्यार्थस्य विशेषं द्योतयति—इति पदान्तरेण विशेष्यवाचिना सह निर्दिष्टः । **न साधनत्वेनापीति** । यत् साधनत्वेन निर्दिष्टं तत् साधनत्वेनेष्टम् । असिद्धत्वाच्च साध्यत्वेनापीष्टम् । तस्य निवृत्त्यर्थम् एवशब्दः ॥ ४० ॥

तदुदाहरति—**यथेति** । **शब्दयानित्यत्वे साध्ये चाक्षुषत्वं हेतुः शब्देऽसिद्धत्वात् साध्यम्** इत्यनेन साध्यत्वेनेष्टिमाह । **त** इति चाक्षुषत्वम् । **इहेति** शब्दे । **साध्यत्वेनैवेष्टमिति** । साध्यत्वेनेष्टिनियमाभावमाह । **साधनत्वेनाभिधानादिति** । यतः साधनत्वेनाभिहितम्, अतः साधनत्वेनापीष्टम्, न साध्यत्वेनैवेति ॥ ४१ ॥

स्वयमित्यनेन स्वयं-शब्दं व्याख्येयमुपक्षिप्य तस्यार्थमाह—**स्वयमिति** । स्वयंशब्दो निपातः 'आत्मनः' इति षष्ठ्यन्तस्य 'आत्मना' इति च तृतीयान्तस्यार्थे वर्तते । तदिह स्वात्मशब्दस्यार्थे वृत्तः स्वयं-शब्दः । आत्म-शब्दश्च सम्बन्धिशब्दः । वादी च प्रत्यासन्नः । ततो यस्य वादिन आत्मा तृतीयार्थयुक्तः, स एव तृतीयार्थयुक्तो निर्दिष्टो वादिनेति । न तु स्वयंशब्दस्य 'वादिना' इत्येष पर्यायः ॥ ४२ ॥

कः पुनरसौ वादी ? इत्याह—**यस्तदेति** । वादकाले, साधनमाह । अनेक-

४४. एतेन यद्यपि क्वचित् शास्त्रे स्थितः साधनमाह, तच्छास्त्रकारेण तस्मिन् धर्मिण्यनेकधर्माभ्युपगमेऽपीति यस्तदा तेन वादिना धर्मः स्वयं साधयितुमिष्टः स एव साध्यो नेतर इत्युक्तं भवति ॥

४५. इष्ट इति यत्रार्थे विवादेन साधनमुपन्यस्तं तस्य सिद्धिमिच्छता सोऽनुक्तो पि वचनेन साध्यो भवति ॥

तेनेति वादिना निर्देश्य एव पक्ष उच्यते ॥ ४३ ॥

कश्चित् क्वचित् शास्त्रे स्थितः पक्षे कृतनिश्चय एव । अस्तु तादृशो निश्चयः, तथापि यदि शास्त्रादुद्धृत्य प्रमाणीक्रियते इति शेषः ।

वादी यस्मिन् शास्त्रे साधनं कथयति तच्छास्त्रकारेण वितर्कविषयधर्मिणि यदि बहवो धर्मा अङ्गीक्रियन्ते, तथापि च ।

वादिनैव यो धर्मं साधयितुमिष्टः स एव साध्यः । शास्त्रकारेणेष्टस्तु न । यस्माद् वादिना निर्देश्यस्य पक्षत्वमङ्गीक्रियते तस्माद् वादिना शास्त्राङ्गीकारद्वारेणोपकारको यो धर्मः परिष्कर्तुमिष्यते स एव साध्यः, शास्त्रकारेणाङ्गीकृतस्तु न—इत्यनेन वचनेनोक्तं भवति ॥ ४४ ॥

[ध०] वादिसम्भवेऽपि स्वयं-शब्दवाच्यस्य, वादिनो विशेषणमेतत् । यद्येवम्, 'वादिनः इष्टः साध्यः' इत्युक्तम्, एतेन च किमुक्तेन ? अनेन तदा वादकाले **तेन** वादिना स्वयं यो धर्मः साधयितुमिष्टः, स एव साध्यः, नेतरो धर्मः—इत्युक्तं भवति । वादिनोऽनिष्टधर्मसाध्यत्वनिवर्तनमस्य वचनस्य फलमिति यावत् ॥ ४३ ॥

अथ कस्मिन् सति अन्यधर्मसाध्यत्वस्य सम्भवः, यन्निवृत्त्यर्थं तद् वक्तव्यम् ? इत्याह—**तच्छास्त्रकारेणे**ति । यच्छास्त्रं तेन वादिनाभ्युपगतं तच्छास्त्रकारेण **तस्मिन् साध्यधर्मिणि अनेकस्य धर्मस्याभ्युपगमे** सति अन्यधर्मसाध्यत्वसम्भवः । तथा हि—शास्त्रं येनाभ्युपगतं तत्सिद्धो धर्मः सर्व एव तेन साध्य इत्यस्ति विप्रतिपत्तिः, अनेनापास्यते । अनेकधर्माभ्युपगमेऽपि सति **स एव साध्यो यो वादिना इष्टः**, नान्य इति ।

ननु च शास्त्रानपेक्षं वस्तुबलप्रवृत्तं लिङ्गम्, अतोऽनपेक्षणीयत्वान्न शास्त्रे स्थित्वा वादः कर्त्तव्यः ? सत्यम्; आहोपुरुषिकया तु **यद्यपि क्वचिच्छास्त्रे स्थित** इति किञ्चिच्छास्त्रमभ्युपगतः **साधनमाह**, तथापि 'य एव तस्येष्टः स एव साध्यः' इति ज्ञापनायेदमुक्तम् ॥ ४४ ॥

इष्टशब्दमुक्षिप्य व्याचष्टे—**इष्ट** इति । **यत्रार्थ** आत्मनि विरुद्धो

४६. तदधिकरणत्वाद् विवादस्येति ॥

४७. यथा परार्थाश्चक्षुरादयः सङ्घातत्वात् शयनासनाद्यङ्गवदिति । अत्र आत्मार्था इत्यनुक्तेऽपि आत्मार्थतैव साध्यं भवतीति । तेन नोक्तमात्रमेव साध्यमित्युक्तं भवति ॥

[न्या०] इष्टशब्दार्थं आख्यायते । यस्मिन् वस्तुनि विवाद उत्पन्नः, विवादाधिकरणं तद् वस्तु साधयितुमिच्छता साध्यत्वेनोपन्यस्तोऽर्थं एवेष्ट इति ।

यदि वितर्कविषयार्थोऽसौ वचनेन नाभिधीयते, तथापि स एव साध्यो भवति ॥ ४५ ॥

तच्च कस्माद् इति चेद् ? आह—तदधिकरणत्वादिति ।

तत एव यस्माद् विवादः कथमसौ विवाद एव साध्यो न स्यात् ॥ ४६ ॥

यच्च विवादाधिकरणं तद् वचनेनानुक्तमपि साध्यमेवेष्यत इति कथम् इति चेद् ? तत्राह—यथेति ।

[ध०] वादः प्रक्रान्तः—'नास्ति आत्मा' इत्यात्मप्रतिषेधवादः आत्मसत्तावादविरुद्धः, विधिप्रतिषेधयोर्विरोधात् । तेन **विवादेन** हेतुना **साधनमुपन्यस्तम्, तस्या**त्मार्थस्य **सिद्धिं** निश्चयम् **इच्छता** वादिना **सोऽर्थः** साध्य इत्युक्तं भवति—इष्टशब्देन । यत् तद् '**इत्युक्तं भवति**' इति ग्रहणमन्ते तदिहापेक्ष्य वाक्यं समापयितव्यम् ।

यद्यपि परार्थानुमाने उक्त एव साध्यो युक्तः, अनुक्तोऽपि तु वचनेन साध्यः; सामर्थ्योक्तत्वात् तस्य ॥ ४५ ॥

कुत एतद् ? इत्याह—**तदिति** । सोऽर्थः अधिकरणम् = आश्रयो यस्य स तदधिकरणो विवादः, तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्मादिति ।

एतदुक्तं भवति—यस्माद् विवादं निराकर्तुमिच्छता वादिना साधनमुपन्यस्तम्, तस्माद् यद् अधिकरणं विवादस्य तदेव साध्यम् । यतो विरुद्धं वादमपनेतुं साधनमुपन्यस्तं तच्चेत् न साध्यम्, किमिदानीं जातिनियतं किञ्चित् साध्यं स्यादिति ! ॥ ४६ ॥

अनुक्तमपि परार्थानुमाने साध्यमिष्टम्, तदुदाहरति—**परार्था** इति । चक्षुरादिर्येषां श्रोत्रादीनां ते चक्षुरादय इति धर्मी । परस्मायिमे परार्था इति साध्यं पारार्थ्यम् । **सङ्घातत्वादिति** हेतुः । व्याप्तिविषयप्रदर्शनं च **शयनासनाद्यङ्गवदिति** । शयनम् आसनं च ते आदौ यस्य तच्छयनासनादि पुरुषोपभोगाङ्गं सङ्घातरूपम् । तद्वदत्र प्रमाणे यदप्यात्मार्थाश्चक्षुरादय इत्या**त्मार्थता** नोक्ता । **अनुक्तावप्यात्मार्थता साध्या** ।

४८. **अनिराकृत इति—एतल्लक्षणयोगेऽपि यः साधयितुमिष्टोऽप्यर्थः प्रत्यक्षानुमान-प्रतीति-स्ववचनैर्निराक्रियते, न स पक्ष इति प्रदर्शनार्थम् ॥**

४९. **तत्र प्रत्यक्षनिराकृतो यथा—'अश्रावणः शब्दः' इति ॥ (१)**

[न्या०] यथा शयनासनादीन्यङ्गानि सङ्घातरूपत्वात् परार्थानि दृष्टानि, तथा चक्षुरादयोऽपि सङ्घातरूपत्वात् परार्था एवेति प्रयोगार्थः ॥ ४७ ॥

अस्मिन् प्रयोगे यद्यपि चक्षुरादय आत्मार्था इति नोक्तम्, तथापि आत्मार्थतैव साध्यते। अन्यथा परार्थत्वमात्रे साध्ये सिद्धसाधनं स्यात्। आत्मनि (आत्मार्थतायाम्) विप्रतिपत्त्या साध्यत्वेन उपस्थाप्यते। तस्मात् तदेव साध्यं भवति।

यस्मादेवमनुयुक्तमपीष्टत्वेन विषयीकरणात् साध्यत्वेनैवष्टम्, तस्मात् केवलमुक्तमेव न साध्यं भवति। कथमिति चेत् ? यस्मादिष्टत्वेन विषयीकृतमपि साध्यमेव ॥ ४८ ॥

[ध०] तथा हि साङ्ख्येनोक्तम्--'अस्ति आत्मा', तद्विरुद्धं **बौद्धेनोक्तम्**--'नास्त्यात्मा' इति, ततः साङ्ख्येन स्ववादविरुद्धं बौद्धवादं हेतूकृत्य विरुद्धवादनिराकरणाय स्ववादप्रतिष्ठापनाय च साधनमुपन्यस्तम्। अतोऽनुक्तावप्यात्मार्थता साध्या, तदधिकरणत्वाद् विवादस्य। शयनासनादिषु हि पुरुषोपभोगाङ्गेषु आत्मार्थत्वेनान्वयो न प्रसिद्धः। सङ्घातत्वस्य पारार्थ्यमात्रेण तु सिद्धः। ततः **परार्था** इत्युक्तम्।

चक्षुरादय इति। अत्रादिग्रहणाद् विज्ञानमपि परार्थं साधयितुमिष्टम्। विज्ञानाच्च पर आत्मैव स्यात्।

परस्यार्थकारि विज्ञानं सेत्स्यतीति सामर्थ्यात् आत्मार्थत्वं सिध्यति चक्षुरादीनाम्--इति मत्वा **परार्थ**ग्रहणं कृतम्। तेन इष्टसाध्यत्ववचनेन नोक्तमात्रम्, अपि तु प्रतिवादिनो विवादास्पदत्वाद् वादिनः साधयितुमिष्टम् उक्तमनुक्तं वा प्रकरणगम्यं साध्यम्--इत्युक्तं भवति ॥ ४७ ॥

अनिराकृत इति। व्याख्येयम्। **एतदिति**। अनन्तरप्रक्रान्तं यत् पक्षलक्षणमुक्तम्--'साध्यत्वेनेष्टः' (न्या० बि० सू० ३९) इत्यादि, **एतल्लक्षणेन योगेऽप्यर्थो न पक्ष इति प्रदर्शनार्थम्** प्रतिपादनाय अनिराकृतग्रहणं कृतम्।

कीदृशोऽर्थो न पक्षः साधयितुमिष्टोऽपि ? इत्याह--**यः साधयितुमिष्टोऽर्थः**-प्रत्यक्षं च **अनुमानं** च **प्रतीतिश्च स्ववचनं** च--**एतैर्निराक्रियते** विपरीतः साध्यते, न स पक्ष इति ॥ ४८ ॥

तत्रेति। तेषु चतुर्षु प्रत्यक्षादिनिराकृतेषु प्रत्यक्षनिराकृतः कीदृशः ? **यथेति**। यथाऽयं निराकृतस्तथाऽन्येऽपि द्रष्टव्या इति यथाशब्दस्यार्थः।

५०. अनुमाननिराकृतो यथा—'नित्यः शब्दः' इति ॥ (२)

५१. प्रतीतिनिराकृतो यथा—'अचन्द्रः शशी' इति ॥ (३)

[न्या०] यथोक्तलक्षणयुक्तोऽप्यर्थो यदि साधनदशायां प्रत्यक्षानुमानप्रसिद्धिस्ववचनैर्निराक्रियते, तदा सोऽर्थः पक्षो न भवतीति प्रदर्शनार्थमनिराकृत इत्युक्तम् ॥ ४८ ॥

अत्र श्रवणम्=आकर्णनम्। कर्णविज्ञानमिति शेषः। श्रावणप्रतीतिर्वा। श्रवणेन ग्राह्यः श्रावणः। न श्रावणः अश्रावणः। कर्णविज्ञानेन अप्रतीत इति शेषः। तथा चात्र शब्दो धर्मी। अश्रावणत्वं साध्यधर्मः। 'अश्रावणः शब्दः' इति प्रतिज्ञा तु प्रत्यक्षेण निराक्रियते ! तथा हि—कर्णविज्ञानस्य शब्दप्रकाशकत्वं प्राणिभिः सर्वैः स्वयमवगम्यते। तेन शब्दे श्रावणत्वस्य स्वकीयज्ञानेन प्रतीतेरश्रावणत्वं निराक्रियते ॥ ४९ ॥

अत्र–घटस्य नित्यत्वं प्रतिज्ञातं कृताद्यनुमानेन निराक्रियते। तथा हि कृतकमनित्यं दृष्टम्, घटोऽपि कृतक इति, तेन कुतो नित्यत्वम् ! ॥ ५० ॥

यदि केनचित् 'शशी न चन्द्रशब्दाभिधेयः' इति प्रतिज्ञा क्रियते, स तु 'शशी चन्द्रशब्दाभिधेय एव' इति प्रसिद्धया निराक्रियते। अपि च—सर्वेष्वर्थेषु सर्वस्य शब्दस्य वाच्यतयापि निराक्रियते। शब्दार्थसम्बन्धस्य सङ्केतसूचितत्वात्। यथा घटस्यापि चन्द्रशब्दाभिधानयोग्यता ॥ ५१ ॥

[ध०] श्रवणेन ग्राह्यः श्रावणः, न श्रावणोऽश्रावणः। श्रोत्रेण न ग्राह्य इति प्रतिज्ञार्थः। श्रोत्राग्राह्यत्वं शब्दस्य प्रत्यक्षसिद्धेन श्रोत्रग्राह्यत्वेन बाध्यते ॥ ४९ ॥

अनुमाननिराकृतो यथा—नित्यः शब्द इति। शब्दस्य प्रतिज्ञातं नित्यत्वम् अनित्यत्वेनानुमानसिद्धेन निराक्रियते ॥ ५० ॥

प्रतीत्या निराकृतः अचन्द्र इति चन्द्रशब्दवाच्यो न भवति। **शशीति** प्रतिज्ञातार्थः। अयं च प्रतीत्या निराकृतः। प्रतीतोऽर्थ उच्यते विकल्पविज्ञानविषयः। प्रतीतिः=प्रतीतत्वम्, विकल्पविज्ञानविषयत्वमुच्यते। तेन विकल्पज्ञानेन प्रतीतिरूपेण शशिनश्चन्द्रशब्दवाच्यत्वं सिद्धमेव। तथाहि—

यद्विकल्पविज्ञानग्राह्यं तत् शब्दाकारसंसर्गयोग्यम्। यच्छब्दाकारसंसर्गयोग्यं तत् साङ्केतिकेन शब्देन वक्तुं शक्यम्। अतः प्रतीतिरूपेण विकल्पविज्ञानविषयत्वेन सिद्धं चन्द्रशब्दवाच्यत्वम्, अचन्द्रत्वस्य बाधकम्। स्वभावहेतुश्च प्रतीतिः। यस्माद् विकल्पविषयत्वमात्रानुबन्धिनी साङ्केतिकशब्दवाच्यता, ततः स्वभावहेतुसिद्धं चन्द्रशब्दवाच्यत्वम् अवाच्यत्वस्य बाधकं द्रष्टव्यम् ॥ ५१ ॥

५२. स्ववचननिराकृतो यथा--'नानुमानं प्रमाणम्' इति ॥ (४)

[न्या०] केनचिद् 'अनुमानं प्रमाणं न भवति' इत्युच्यमाने तत् स्ववचनेन विरुद्धम् । अनुमानं प्रमाणमेव यदि न स्यात्, एतत् वचनमपि न वक्तव्यम् । तथा हि वाक्यमपि अनुमानान्तर्भूतमेव । अनुमानं च यदि प्रमाणं न स्यात् वाक्यं तावत् कुतः प्रमाणम् ! तद् वाक्यमप्रमाणं चेत्, कस्मादुच्यते इति स्ववचनेन विरुद्धम् ॥ ५२ ॥

[ध०]**स्ववचनं** प्रतिज्ञार्थस्यात्मीयो वाचकः शब्दः, तेन **निराकृतः** प्रतिज्ञार्थो न साध्यः। **यथा नानुमानं प्रमाणमिति**। अत्र अनुमानस्य प्रामाण्यनिषेधः प्रतिज्ञार्थः। स 'नानुमानं प्रमाणम्' इत्यनेन स्ववाचकेन वाक्येन बाध्यते। वाक्यं हि एतत् प्रयुज्यमानं वक्तुः शाब्दप्रत्ययस्य सदर्थत्वमिष्टं सूचयति। तथा हि—'मद्वाक्याद् योऽर्थसम्प्रत्ययस्तवोत्पद्यते सोऽसत्यार्थः' इति दर्शयन् वाक्यमेव नोच्चारयेद् वक्ता, वचनार्थश्चेदसत्यः परेण ज्ञातव्यः, वचनमपार्थकम्। योऽपि हि 'सर्वं मिथ्या ब्रवीमि' इति वक्ति, सोऽप्यस्य वाक्यस्य सत्यार्थत्वमादर्शयन्नेव वाक्यमुच्चारयति। यदि एतद् वाक्यं सत्यार्थत्वमादर्शितम्, एवं वाक्यान्तराण्यात्मीयान्यसत्यार्थानि दर्शितानि भवन्ति। एतदेव तु यद्यसत्यार्थम्, अन्यान्यसत्यार्थानि न दर्शितानि भवन्ति। ततश्च न किञ्चिदुच्चारणस्य फलमिति नोच्चारयेत्। तस्माद् वाक्यप्रभववाक्यार्थालम्बनं विज्ञानं सत्यार्थं दर्शयन्नेव वक्ता वाक्यमुच्चारयति। तथा च सति वाह्यवस्तुनान्तरीयकं शब्दं दर्शयता शब्दजं विज्ञानं सत्यार्थं दर्शयितव्यम्। ततो बाह्यार्थकार्याच्छब्दादुत्पन्नं विज्ञानं सत्यार्थमादर्शयता कार्यलिङ्गजमनुमानं प्रमाणं शाब्दं दर्शितं भवति।

तस्मात् 'नानुमानं प्रमाणम्' इति ब्रुवता शाब्दस्य प्रत्ययस्यासन्नार्थो ग्राह्य उक्तः। असदर्थत्वमेव ह्यप्रामाण्यमुच्यते, नान्यत्। शब्दोच्चारणसामर्थ्याच्च अर्थाविनाभावी स्वशब्दो दर्शितः। तथा च सन्नर्थो दर्शितः। ततः कल्पितादर्शकार्याच्चच्छब्दाच्छाब्दप्रत्ययार्थस्यानुमितं सत्त्वं प्रतिज्ञायमानमसत्त्वं प्रतिबध्नाति।

तदेवं स्ववचनानुमितेन सत्त्वेनासत्त्वं बाध्यमानं स्ववचनेन बाधितमुक्तमित्ययमत्रार्थः।

अन्ये त्वाहुः—"अभिप्रायकार्याच्छब्दाज्जातं ज्ञानमभिप्रायालम्बनम्। सदर्थमिच्छतः शब्दप्रयोगः। तेनाप्रामाण्यं प्रतिज्ञातं बाध्यते" इति।

तदयुक्तम्; यत इह प्रतीतेः स्वभावहेतुत्वम्, स्ववचनस्य च कार्य-

५३. इति चत्वारः पक्षाभासा निराकृता भवन्तीति ।।

५४. एवं सिद्धस्य, असिद्धस्यापि साधनत्वेनाभिमतस्य, तदा स्वयं वादिना साधयितुमनिष्टस्य, उक्तमात्रस्य, निराकृतस्य च विपर्ययेण साध्य इति । तेनैव स्वरूपेण वादिन इष्टोऽनिराकृतः पक्ष इति पक्षलक्षणमनवद्यं दर्शितं भवति ।।

[न्या०] अत्रागमविरुद्धः स्ववचनविरुद्धेऽन्तर्भूत इति सर्वे पक्षाभासाश्चत्वार इत्युक्तम् । किञ्च—आगमस्य वस्तुबलप्रवृत्तेऽनुमानेऽनाश्रयणीयतयाऽविरोधादपि उक्तम् । इति इति । उक्तप्रकारेण ।। ५३ ।।

अत्र 'विपरीतम्' इति प्रत्येकं योजनीयम् । एतेन सिद्धस्य विपरीतम् असिद्धस्यापि विपरीतम्, साधनत्वेनाभिमतस्य विपरीतम्, तदा वादिना स्वयं साधयितुमनिष्टस्य विपरीतम्, उक्तमात्रस्य विपरीतम्, निराकृतमात्रस्य च विपरीतं पक्षत्वेन द्रष्टव्यमित्ययमर्थं उक्तो भवति । तथा च वैपरीत्यमुखेन पक्षलक्षणकथनमेतत् ।

[ध०] हेतुत्वं कल्पितमिष्टम्, न वास्तवम् । अभिप्राकार्यत्वं च वास्तवमेव शब्दस्य । ततस्तदिह न गृह्यते ।

किञ्च—यथा अनुमानमिच्छन् वह्न्यव्यभिचारित्वं धूमस्य प्रत्येति, तथा शब्दस्याप्यभिप्रायाव्यभिचारित्वं न प्रत्येष्यति । बाह्यवस्तुप्रत्यायनाय च शब्दः प्रयुज्यते । तन्न शब्दस्याभिप्रायाविनाभावित्वाभ्युपगमपूर्वकः शब्दप्रयोगः । अपि च, न स्वाभिप्रायनिवेदनाय शब्द उच्चार्यते, अपि तु बाह्यसत्त्वप्रतिपादनाय । तस्माद् बाह्यवस्त्वविनाभावित्वाभ्युपगमपूर्वकः शब्दप्रयोगः । ततः पूर्वकमेव व्याख्यातमनवद्यम् ।। ५२ ।।

एवं च सति **अनिराकृतग्रहणेन** अनन्तरोक्ताश्चत्वारः पक्षवदवभासन्त इति **पक्षाभासा निरस्ता भवन्ति** ।। ५३ ।।

सम्प्रति पक्षलक्षणपदानि येषां व्यवच्छेदकानि तेषां व्यवच्छेदेन यादृशः पक्षार्थो लभ्यते, तं दर्शयितुं व्यवच्छेदयान् संक्षिप्य दर्शयति—**एवमिति** । अनन्तरोक्तक्रमेण । **सिद्धस्य विपर्ययेण** विपरीत्वेन हेतुना **साध्यो** द्रष्टव्यः । यस्मादर्थात् सिद्धोऽर्थो विपरीतः स साध्य इत्यर्थः । सिद्धश्च विपरीतोऽसिद्धस्य । यस्मादसिद्धः साध्यः । असिद्धोऽपि न सर्वः, अपि तु **साधनत्वेनोक्तस्यासिद्धस्यापि विपर्ययेण** । **स्वयं वादिना** साधयितुमनिष्टस्य असिद्धस्य विपर्ययेण । तथा **उक्तमात्रस्य असिद्धस्यापि** विपर्ययेण । तथा **निराकृतस्यासिद्धस्यापि** विपर्ययेण साध्यः ।

५५. त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानमित्युक्तम् । तत्र त्रयाणां रूपाणा-मेकस्यापि रूपस्यानुक्तौ साधनाभासः ॥

५६. उक्तावप्यसिद्धौ सन्देहे वा प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः ॥

[न्या०] तेनैव रूपेणेति । साध्यत्वेनैवेति शेषः । वादिना इष्ट इति । शास्त्रकारस्येष्टो निरस्तः । इष्ट इति उक्तमात्रमेव नेति प्रदर्शनार्थम् । अनिराकृत इति अपरिहारणीय इति शेषः । पक्ष इति । साध्य इति शेषः । इति पक्षलक्षणमनवद्य दर्शितं भवतीति । एव पक्षस्य लक्षणं दोषरहितमभितमिति ।

तदेवं यथार्थलक्षणकमनुमानं कृतव्याख्यानम् ॥ ५४ ॥

अनुमानाभासाभिधानानुज्ञार्थमाह—उक्तमिति ।

उक्त्वा हेत्वाभासासस्य सम्बन्ध उच्यते । तदा न्यूनमिति साधनदोषो भवति ॥ ५५ ॥

त्रयाणां रूपाणां योग्यमेकमपि यदयुक्तमपि वादिप्रतिवादिनोरसिद्धं सन्दिग्धं वा स्यात्, तदापि साधनाभासः, स्यात् । तदेवं साधनाभासयोगो दर्शितः ॥ ५६ ॥

[ध०] यश्चायं पञ्चभिर्व्यवच्छेद्यै रहितोऽर्थोऽसिद्धोऽसाधनं वादिनः स्वयं साधयितुमिष्ट उक्तोऽनुक्तो वा प्रमाणैरनिराकृतः साध्यः, स एवासौ **स्वरूपेणैव** स्वयमिष्टोऽनिराकृत एतैः पदैरुक्त इत्यर्थः। यश्चायं साध्यः स **पक्ष**-इति उच्यते। इतिशब्द एवमर्थे। एवं **पक्षलक्षणमनवद्य**मिति। अविद्यमानमवद्यम् =दोषो यस्य तद् **अनवद्यम्** । **दर्शितं** कथितम् ॥ ५४ ॥

त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परिसमापय्य, प्रसङ्गागतं च पक्षलक्षणमभिधाय हेत्वाभासान् वक्तुकामस्तेषां प्रस्तावं रचयति—**त्रिरूपे**त्यादिना ।

एतदुक्तं भवति—त्रिरूपलिङ्गं वक्तुकामेन स्फुटं तद् वक्तव्यम् । एवं च तत् स्फुटमुक्तं भवति यदि तच्च, तत्प्रतिरूपकं चोच्यते । हेयज्ञाने हि तद्विविक्तमुपादेयं सुज्ञातं भवतीति । "त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थमनुमानम्" (न्या० वि० ३.१) इति प्रागुक्तम् ।

तत्रेति । तस्मिन् सति । त्रिरूपलिङ्गाख्याने परार्थानुमाने सतीत्यर्थः । **त्रयाणां रूपाणां** मध्ये **एकस्याप्यनुक्तौ** । अपिशब्दाद् द्वयोरपि । साधनस्य आभासः सदृशं साधनस्य, न साधनमित्यर्थः । त्रयाणां रूपाणां न्यूनता नाम साधनदोषः ॥ ५५ ॥

न केवलमनुक्तावुक्तावप्यसिद्धौ सन्देहे वा । कस्य ? इत्याह—**प्रतिपाद्यस्य** प्रतिवादिनः । **प्रतिपादकस्य** च वादिनो हेत्वाभासः ॥ ५६ ॥

५७. एकस्य स्वरूपस्य धर्मिसम्बन्धस्यासिद्धौ सन्देहे वासिद्धो हेत्वाभासः॥

५८. यथा--'अनित्यः शब्दः' इति साध्ये चाक्षुषत्वमुभयासिद्धम् ॥

५९. 'चेतनास्तरवः' इति साध्ये सर्वत्वगपहरणे मरणं प्रतिवाद्यसिद्धम् । विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणस्य मरणस्यानेनाभ्युपगमात् । तस्य च तरुष्वसम्भवात् ॥

[न्या०] विशेषकथनार्थमाह—एकस्येति ।

धर्मिणा सम्बन्धो धर्मिसम्बन्धः । पक्षधर्म इत्यर्थः । तस्यासिद्धौ सन्देहे चासिद्धो नाम हेत्वाभासो भवति ॥ ५७ ॥

दृष्टान्तनिर्देशार्थमाह—यथेति ।

शब्दस्य चाक्षुषत्वं हि वादि-प्रतिवादिनोरुभयोरप्यननुमतम् ॥ ५८ ॥

यदि दिगम्बरैरुक्तम्—'वृक्षाः चेतनाः ; सर्वत्वगपहरणे मरणात्' इति बौद्धैः प्रमीयते, तर्हि वृक्षाणां सर्वत्वगपहरणे मरणं बौद्धानामसिद्धम् । कस्मादसिद्धमिति चेद् ? आह—विज्ञानेत्यादि ।

[ध०] अथ कस्यैकस्य रूपस्यासिद्धौ सन्देहे वा किंसंज्ञको हेत्वाभासः ? इत्याह—**एकस्य रूपस्येति** । धर्मिणा सह सम्बन्धः **धर्मिसम्बन्धः** । धर्मिणि सत्त्वं हेतोः **तस्य असिद्धौ सन्देहे** वा **असिद्धसंज्ञको हेत्वाभासः** । असिद्धत्वादेव च धर्मिण्यप्रतिपत्तिहेतुः । न साध्यस्य, न विरुद्धस्य, न संशयस्य हेतुः, अपि त्वप्रतिपत्तिहेतुः । न कस्यचिदतः प्रतिपत्तिरिति कृत्वा । अयं चार्थोऽसिद्धसंज्ञाकरणादेव प्रतिपत्तव्यः ॥ ५७ ॥

उदाहरणमाह--**यथेत्यादि** । **अनित्यः शब्द** इत्यनित्यत्वविशिष्टे शब्दे **साध्ये चाक्षुषत्वं** चक्षुर्ग्राह्यत्वं शब्दे द्वयोरपि वादिप्रतिवादिनोर **सिद्धम्** ॥ ५८ ॥

चेतनास्तरव इति । तरूणां चैतन्ये **साध्ये** । सर्वा त्वक् **सर्वत्वक्** तस्या **अपहरणे** सति **मरणं** दिगम्बरैरुपन्यस्तं **प्रतिवादिनो** बौद्धस्य **असिद्धम्** ।

कस्मादसिद्धम् ? इत्याह--**विज्ञानमित्यादि** । विज्ञानं चेन्द्रियं चायुश्चेति द्वन्द्वः तत्र **विज्ञानं** चक्षुरादिजनितम् । रूपादिविज्ञानोत्पत्त्या यदनुमितं कार्यान्तर्भूतं चक्षुर्गोलकादिस्थितं रूपं तद् **इन्द्रियम्** । **आयुरिति** लोके प्राणा उच्यते । न चागमसिद्धिरिह युज्यते वक्तुम् । अतः प्राणस्वभावमायुरिह । तेषां **निरोधो** निवृत्तिः । स **लक्षणं** तत्त्वं यस्य तत् तथोक्तम्; तथाभूतस्य **मरणस्यानेन** बौद्धेन प्रतिज्ञातत्वात् ।

६०, 'अचेतनाः सुखादयः' इति साध्ये उत्पत्तिमत्त्वमनित्यत्वं वा साङ्ख्यस्य स्वयं वादिनोऽसिद्धम् ॥

[न्या०] विज्ञानं च इन्द्रियाणि च आयुश्चेति विग्रहः। तेषां निरोधो विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधः। स एव लक्षणं यस्य मरणस्य तद् विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणं मरणम्। बौद्धानां तु तथाविधं मरणमनुमतम्। न तु शोषमात्रम्। तादृशं हि मरणं वृक्षेषु न सम्भवतीति ॥ ५९ ॥

यदा साङ्ख्यैरुक्तम्—'सुखादयोऽचेतनाः, उत्पत्तिमत्त्वादनित्यत्वात्' इति बौद्धैः प्रमीयते, तदा सुखादिषूत्पत्तिरनित्यत्वं वा साङ्ख्यानां स्वयमेवासिद्धम्; तस्य हि किमपि नोत्पद्यते, किमपि वा न विनश्यति ॥ ६० ॥

[ध०] यदि नामैवम्, तथापि कथमसिद्धम्? इत्याह—**तस्य च** विज्ञानादिनिरोधात्मकस्य **तरुष्वसम्भवात्**। सत्तापूर्वको निरोधः। ततश्च यो विज्ञाननिरोधं तरुष्विच्छेत्, स कथं विज्ञानं नेच्छेत्! तस्माद् विज्ञानानिष्टेर्निरोधोऽपि नेष्टस्तरुषु।

ननु च शोषोऽपि मरणमुच्यते, स च तरुषु सिद्धः? सत्यम्; केवलं विज्ञानसत्तया व्याप्तं यत् मरणं तदिह हेतुः। विज्ञाननिरोधश्च तत्सत्तया व्याप्तः, न शोषमात्रम्। ततो यन्मरणं हेतुस्तत् तरुष्वसिद्धम्। यत्तु सिद्धं शोषात्मकं तदहेतुः।

दिगम्बरस्तु साध्येन व्याप्तमव्याप्तं वा मरणमविविच्य मरणमात्रं हेतुमाह। तदस्य वादिनो हेतुभूतं मरणं न ज्ञातम्। अज्ञानात् सिद्धं शोषरूपम्, शोषरूपस्य मरणस्य तरुषु दर्शनात् **प्रतिवादिनस्तु** ज्ञातम्, अतो**ऽसिद्धम्**। यदा तु वादिनोऽपि ज्ञातम्, तदा वादिनोऽप्यसिद्धं स्यादिति न्यायः ॥ ५९ ॥

अचेतनाः सुखादय इति। सुखमादिर्येषां दुःखादीनां ते सुखादयः। तेषामचैतन्ये **साध्ये उत्पत्तिमत्त्वम्, अनित्यत्वं वा** लिङ्गमुपन्यस्तम्। य उत्पत्तिमन्तोऽनित्या वा ते न चेतनाः, यथा रूपादयः। तथा च—उत्पत्तिमन्तोऽनित्या वा सुखादयः तस्मादचेतनाः। चैतन्यं तु पुरुषस्य स्वरूपम्। अत्र चोत्पत्तिमत्त्वमनित्यत्वं वा पर्यायेण हेतुः, न युगपत्। तच्च **द्वयमपि सांख्यस्य वादिनो न सिद्धम्**। परार्थो हि हेतूपन्यासः। तेन यः परस्य सिद्धः स हेतुर्वक्तव्यः। परस्य चासत उत्पत्तिमत्त्वम्, सतश्च निरन्वयो विनाशोऽनित्यत्वं सिद्धम्। तादृशं **सांख्यस्यासिद्धम्**। इहापि अनित्यत्वोत्पत्ति-

६१. तथा स्वयं तदाश्रयणस्य वा सन्देहेऽसिद्धिः ॥

६२. यथा वाष्पादिभावेन सन्दिह्यमानो भूतसङ्घातोऽग्निसिद्धावुपदिश्यमानः सन्दिग्धासिद्धः ॥

६३. यथा—इह निकुञ्जे मयूरः, केकायितादिति ॥

[न्या०] यदा हेतोरात्मनस्तदधिकरणस्य वा सन्देहः, तदा असिद्धहेत्वाभासो भवति ॥ ६१ ॥

तत्र दृष्टान्तः—यथेति ।

वाष्प आदिर्यस्य स बाष्पादिः, तेषां भावो वाष्पादिभावः । वाष्पादिस्वरूपमिति शेषः । भूतानां सङ्घातो भूतसङ्घातः । अग्निसिद्धौ हेतुः क्रियते चेद् ? असौ वाष्पो वा धूलिर्वा कुहेलिका वा ? इति वाष्पादिभावेन सन्दिह्यमानः असिद्धहेत्वाभासो भवति ॥ ६२ ॥

तदाश्रय-सन्देहनिर्देशार्थमाह—यथेति ।

मयूरध्वनिप्रवाहः = केकायितमिति । निकुञ्जः = पर्वतप्रदेशविशेषः । यदि केनचित् 'इह निकुञ्जे मयुरोऽस्ति, केकायिताद्' इति प्रमीयते, तदा मयूरध्वनिस्तत्र तदभिमतनिकुञ्जे सन्दिग्ध एव ॥ ६३ ॥

[ध०] मत्त्वसाधनाज्ञानाद् वादिनोऽसिद्धम् । यदि त्वनित्यत्वोत्पत्तिमत्त्वयोः प्रामाण्यं वादिना ज्ञातं स्यात्, तदा वादिनोऽपि सिद्धं स्यात् । ततः प्रमाणापरिज्ञानादिदं वादिनोऽसिद्धम् ॥ ६० ॥

सन्दिग्धासिद्धं दर्शयितुमाह—**तथेति** । **स्वयमिति** हेतोरात्मनः **सन्देहेऽसिद्धः** । **तदाश्रयणस्य वेति** । तस्य हेतोराश्रयणम् । आश्रीयतेऽस्मिन् हेतुरित्याश्रयणम्, हेतोर्व्यतिरिक्त आश्रयभूतः साध्यधर्मी कथ्यते । तत्र हि हेतुर्वर्तमानो गमकत्वेनाश्रीयते तस्याश्रयणस्य सन्देहे सन्दिग्धः ॥ ६१ ॥

आत्मना सन्दिह्यमानमुदाहर्तुमाह—**यथेति** । बाष्प आदिर्यस्य स **बाष्पादिः**, **तद्भावेन** बाष्पादित्वेन **सन्दिह्यमानो भूतसङ्घात** इति । भूतानां पृथिव्यादीनां संघातः समूहः । **अग्निसिद्धौ** अग्निसिद्ध्यर्थमुपादीयमानोऽसिद्धः ।

एतदुक्तं भवति—यदा धूमोऽपि बाष्पादित्वेन सन्दिग्धो भवति, तदाऽसिद्धः; गमकरूपानिश्चयात् । धूमतया निश्चितो वह्निजन्यत्वाद् गमकः । यदा तु सन्दिग्धः, तदा न गमकः—इत्यसिद्धताख्यो दोषः ॥ ६२ ॥

आश्रयणासिद्धमुदाहरति—**यथेति** । इह **निकुञ्ज** इति धर्मी । पर्वतोपरिभागेन तिर्यङ्निर्गतेन प्रच्छादितो भूभागो **निकुञ्जः** । **मयूर** इति साध्यम् । **केकायितादिति** हेतुः । केकायितम् = मयूरध्वनिः ॥ ६३ ॥

६४. तदापातदेशविभ्रमे ॥

६५. धर्म्यसिद्धावप्यसिद्धः-यथा 'सर्वगत आत्मा' इति साध्ये सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वम् ॥

[न्या०] कथं सन्दिग्ध इति चेत् ? आह – तदेति ।

मयूरध्वन्यापातदेशः सन्दिग्ध एव । स हि मयूरध्वनिः कस्मान्निकुञ्जप्रदेशान्निःसरतीत्यत्र संशय एव ॥ ६४ ॥

सर्वगतः=निखिलव्यापी । विभुरिति शेषः । सर्वत्रोपलभमाना गुणा यस्येति विग्रहः । तस्य भावः सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वम् । कश्चित् सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वेन सर्वगतत्वमात्मनः साधयति । तत्राश्रयसिद्धो हेतुः । तथाहि—सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वं यस्य धर्म उक्तः स आत्मैव नास्ति ।

अयं तु परसंवादः । सुखादय आत्मगुणा इति प्रसिद्धम् । ते च सर्वदेशस्थ एव देवदत्ते उपलभ्यन्ते । क्रियाभावादात्मनि गमनागमने न स्तः । यस्मात्तस्य गुणाः सर्वत्रोपलभ्यन्ते, तस्मात् नूनमात्मा सर्वत्र स्थित इति ॥ ६५ ॥

[ध०] कथमयमाश्रयणासिद्धः ? इत्याह – **तदापात** इति । तस्य केकायितस्य **आपात** आगमनम्, तस्य देशः स उच्यते यस्माद् देशादागच्छति केकायितम् । तस्य **विभ्रमे** व्यामोहे सत्ययमाश्रयणासिद्धः । निरन्तरेषु बहुषु निकुञ्जेषु सत्सु यदा केकायितापातनिकुञ्जे विभ्रमः—किमस्मान्निकुञ्जात् केकायितमागतम् ? आहोस्विद् अन्यस्मादिति ?, तदायमाश्रयणासिद्ध इति ॥ ६४ ॥

धर्मिणोऽसिद्धावप्यसिद्धत्वमुदाहरति—**यथेति** । सर्वस्मिन् गतः स्थितः **सर्वगतः** । व्यापीति यावत् । व्यापित्व आत्मनः **साध्ये सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वं** लिङ्गम् । सर्वत्र देशे उपलभ्यमानाः सुखदुःखेच्छारागद्वेषादयो गुणा यस्यात्मनस्तस्य भावस्तत्त्वम् । न गुणा गुणिनमन्तरेण वर्तन्ते; गुणानां गुणिनि समवायात् । निष्क्रियश्चात्मा । ततश्च यदि व्यापी न भवेत्, कथं दक्षिणापथे उपलब्धाः सुखादयो मध्यदेशे उपलभ्येरन् ! तस्मात् सर्वगत आत्मा ।

तदिह **बौद्धस्य** आत्मैव न सिद्धः, किमुत सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वं सिध्येत् तस्य इत्यसिद्धौ हेत्वाभासः पूर्वमाश्रयणसन्देहेन धर्मिणि सन्देह उक्तः । सम्प्रति त्वसिद्धो धर्म्युक्त इत्यनयोर्विशेषः ।

तदेवमेकस्य रूपस्य धर्मिसम्बन्धस्यासिद्धावसिद्धो हेत्वाभासः ॥ ६५ ॥

६६. तथैकस्य रूपस्यासपक्षे सत्वस्यासिद्धावनैकान्तिको हेत्वाभासः ॥

६७. यथा शब्दस्यानित्यत्वादिके धर्मे साध्ये प्रमेयत्वादिको धर्मः सपक्षविपक्षयोः सर्वत्रैकदेशे वा वर्तमानः ॥

[न्या०] व्यतिरेकासिद्धौ अनैकान्तिको हेत्वाभासो प्रष्टव्यः ॥ ६६ ॥

दृष्टान्तनिर्देशार्थमाह—यथेति ।

नित्यत्वमादिर्यस्य धर्मस्य स नित्यत्वादिकः । तथा प्रमेयत्वमादिर्यस्य स प्रमेयत्वादिकः । "शब्दोऽनित्यः प्रमेयत्वात्" इति साध्ये प्रमेयत्वं सपक्षविपक्षयोः सर्वत्रास्ति । "शब्दो न प्रयत्नान्तरीयकः, अनित्यत्वात्" इति साध्ये, अनियत्यत्वं सपक्षस्य एकदेशे विपक्षस्य च सर्वत्रैवास्ति । 'शब्दः प्रयत्नान्तरीयकः, अनित्यत्वात्" इति

[ध०] **तथा** अपरस्यैकस्य **रूपस्य असपक्षेऽसत्त्वाख्यस्यासिद्धावनैकान्तिको हेत्वाभासः** ।

एकोऽन्त एकान्तः = निश्चयः, स प्रयोजनमस्येति ऐकान्तिकः, नैकान्तिकोऽ**नैकान्तिकः** । यस्मान्न साध्यस्य न विपर्ययस्य निश्चयः, अपि तु तद्विपरीतः संशयः । साध्येतरयोः संशयहेतुरनैकान्तिक उक्तः ॥ ६६ ॥

तमुदाहरति—**यथे**त्यादिना । अनित्यत्वमादिर्यस्यासौ **अनित्यत्वादिको धर्मः** । आदि-शब्दादप्रयत्नानन्तरीयकत्वं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं नित्यत्वं च परिगृह्यते । प्रमेयत्वमादिर्यस्य स **प्रमेयत्वादिकः** । आदि-शब्दादनित्यत्वम्, पुनरनित्यत्वम्, अमूर्तत्वं च गृह्यते । **शब्दस्य** धर्मिणोऽ**नित्यत्वादिके धर्मे साध्ये प्रमेत्वादिको धर्मो**ऽनैकान्तिकः । चतुर्णामपि हि विपक्षेऽसत्त्वमसिद्धम् ।

तथा हि—'अनित्यः शब्दः, प्रमेयत्वात्, घटवत् आकाशवत्'—इति प्रमेयत्वं सपक्षविपक्षव्यापि ।

'अप्रयत्नानन्तरीयकः शब्दः, अनित्यवाद् विद्युदाकाशवद् घटवच्च'—इत्यनित्यत्वं सपक्षैकदेशवृत्ति विद्युदादावस्ति, नाकाशादौ; विपक्षव्यापि प्रयत्नान्तरीयके सर्वत्र भावात् ।

'अनित्यत्वात् प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दः घटवत्, विद्युदाकाशवच्च' इत्यनित्यत्वं विपक्षैकदेशवृत्ति विद्युदादावस्ति, नाकाशादौ; सपक्षव्यापि सर्वत्र प्रयत्नान्तरीयके भावात् ।

'नित्यः शब्दः; अमूर्तत्वाद्, आकाशपरमाणुवत्, कर्मघटवच्च'—इत्यमूर्तत्वमुभयैकदेशवृत्ति, उभयोरेकदेशे आकाशे कर्मणि च वर्तते; परमाणौ तु

६८. तथा अस्यैव रूपस्य सन्देहेऽप्यनैकान्तिक एव ॥

६९. यथा असर्वज्ञः कश्चिद् विवक्षितः पुरुषो रागादिमान् वेति साध्ये वक्तृत्वादिको धर्मः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकः ॥

[न्या०] साध्ये, अनित्यत्वं सपक्षस्य सर्वत्र विपक्षस्य चैकदेशेऽस्ति । "शब्दो नित्यः, अस्पर्शात्" इति साध्ये, स्पर्शाभावः सपक्षविपक्षयोरुभयोकदेशेऽस्ति । एतेन साधारणानैकान्तिकश्चतुर्विध उक्तः ॥ ६७ ॥

विपक्षेऽसत्त्वमेव यदा सन्दिग्धस्तदापि अनैकान्तिक एव ॥ ६८ ॥

दृष्टान्तनिदर्शनार्थमाह—यथेति ।

केनचिद् विवक्षितः—'कश्चित् पुरुषो न सर्वज्ञो वक्तृत्वात्' तथा 'रागादिमान् वा वक्तृत्वादेव' इति उच्यमाने तस्य वक्तृत्वादिधर्मोऽनैकान्तिक एव ।

स चानैकान्तिकः किन्नामक इति चेत् ? आह—सन्दिग्धेत्यादि ।

विपक्षाद् व्यावृत्तिः सन्दिग्धा अस्येति स सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकः । सन्दिग्ध-व्यतिरेक इति शेषः । सर्वज्ञः कश्चिद् वक्ता न दृश्यते इति अदर्शनेऽपि व्यतिरेक-सिद्धिर्न भवति ॥ ६९ ॥

[ध०] सपक्षैकदेशे घटादौ च विपक्षैकदेशे न वर्तते; मूर्तत्वाद् घटपरमाणु-प्रभृतीनाम् ।

नित्यास्तु परमाणवो **वैशेषिकै**रभ्युपगम्यन्ते । ततः सपक्षान्तर्गताः ।

अस्य चतुर्विधस्य पक्षधर्मस्यासत्त्वमसिद्धं विपक्षे । ततोऽनैकान्तिकता ॥ ६७ ॥

यथा चास्य रूपस्यासिद्धावनैकान्तिकः, **तथा अस्यैव** विपक्षेऽसत्त्वाख्यस्य **रूपस्य सन्देहेऽनैकान्तिकः** ॥ ६८ ॥

तमुदाहरति—**यथेति** । **असर्वज्ञ** इति । असर्वज्ञत्वं साध्यम् । **कश्चिद् विवक्षित** इति । वक्तुरभिप्रेतः । **पुरुषो** धर्मी । राग आदिर्यस्य द्वेषादेः स रागादिः, स यस्यास्ति स **रागादिमान्** इति द्वितीयं साध्यम् । **वा**-ग्रहणं रागादिमत्त्वस्य पृथक्साध्यत्वख्यापनार्थम् । ततोऽसर्वज्ञत्वे रागादिमत्त्वे वा **साध्ये** प्रकृते वक्तृत्वम् = वचनशक्तिः, तदादिर्यस्योन्मेषनिमेषादेः स **वक्तृत्वादिको धर्मोऽनैकान्तिकः** ।

सन्दिग्धाविपक्षाद् व्यावृत्तिर्यस्य स तथोक्तः । असर्वज्ञत्वे साध्ये सर्वज्ञत्वं विपक्षः । तत्र वचनादेः सत्त्वमसत्त्वं वा सन्दिग्धम् । अतो न ज्ञायते—किं वक्ता सर्वज्ञः ? उत असर्वज्ञः ?—इत्यनैकान्तिकं वक्तृत्वम् ॥ ६९ ॥

७०. **'सर्वज्ञो वक्ता नोपलभ्यते' इत्येवम्प्रकारस्यानुपलम्भस्यादृश्यात्मविषयत्वेन सन्देहहेतुत्वात् । ततोऽसर्वज्ञविपर्ययाद्वक्तृत्वादेर्व्यावृत्तिः सन्दिग्धा ।**

७१. **वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोर्विरोधाभावाच्च यः सर्वज्ञःस वक्ता न भवतीत्यदर्शनेऽपि व्यतिरेको न सिद्ध्यति, सन्देहात् ॥**

[न्या०] कथमयमनैकान्तिक इति चेत् ? तत्राह—एवमिति ।

सर्वज्ञस्य वक्तुरदर्शनेऽपि, अदृश्यात्मविषयेयमनुपलब्धिरिति अदृश्यात्मविषयत्वात् सन्देहहेतुरेव भवति । व्यतिरेकसिद्धिं नाभिधत्ते ।

अदृश्यविषयानुपलम्भः संशयस्यैव हेतुरिति असर्वज्ञपर्ययात् सर्वज्ञात् वक्तृत्वलक्षणहेतोर्निवृत्तिः सन्दिग्धैव ॥ ७० ॥

अनुपलब्धिरदृश्यात्मविषयत्वाद् व्यतिरेकं मा साधयतु, स्वभावविरोधोपलब्ध्या सिद्धिः, स्यादिति चेत् ? तत्राह—वक्तृत्वेति ।

वक्तृत्व-सर्वज्ञयोस्तु विरोधो नास्ति । तस्मात्—सर्वज्ञस्य वक्तुरदर्शनेऽपि वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोर्विरोधाभावाद् वक्तृत्वस्य सर्वज्ञत्वाद् व्यावृत्तिरिति न सिध्यति सन्देहसत्त्वात् ॥ ७१ ॥

[ध०] ननु च सर्वज्ञो वक्ता नोपलभ्यते, तत् कथं वचनं सर्वज्ञे सन्दिग्धम् ? अत एव **'सर्वज्ञो वक्ता नोपलभ्यते'** इत्ये**वम्प्रकारस्य** एवञ्जातीयस्य **अनुपलम्भस्य** सन्देहहेतुत्वात् । कुतः ? इत्याह—अदृश्य आत्मा विषयो यस्य तस्य भावोऽ**दृश्यात्मविषयत्वम्** । तेन सन्देहहेतुत्वम् । यतोऽदृश्यविषयोऽनुपलम्भः सन्देहहेतुः न निश्चयहेतुः; **ततो**ऽसर्वज्ञविपक्षात् सर्वज्ञाद् वक्तृत्वादेर्व्यावृत्तिः सन्दिग्धा ॥ ७० ॥

नानुपलम्भात् सर्वज्ञे वक्तृत्वमसद् ब्रूमः, अपितु सर्वज्ञत्वेन सह वक्तृत्वस्य विरोधात् । एतन्न । **सर्वज्ञत्ववक्तृत्वयोर्विरोधो नास्ति । विरोधाभावाच्च** कारणात् व्यतिरेको न सिध्यति—इति सम्बन्धः ।

व्याप्तिमन्तं व्यतिरेकं दर्शयति—**यः सर्वज्ञ** इति । साध्याभावरूपं सर्वज्ञत्वमनूद्य **स वक्ता न भवति** इति साधनस्य वक्तृत्वस्याभावो विधीयते । तेन साध्याभावः साधनाभावे नियतत्वात् साधनाभावेन व्याप्त उक्त इति । व्याप्तिमानीदृशो **व्यतिरेको** विरोधे सति वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोः सिध्येत् । न चास्ति विरोधः; तस्मान्न **सिध्यति** । कुतः ? इत्याह--**सन्देहाद्** । यतो विरोधाभावः, तस्मात् सन्देहः । सन्देहाद् व्यतिरेकासिद्धिः ॥ ७१ ॥

७२. द्विविधो हि पदार्थानां विरोधः ॥

७३. अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावाद् विरोधगतिः ॥

[न्या०] कथं तयोर्विरोधाभाव इति चेत् ? तत्राह—द्विविध इति ।

यत्र यः कोऽपि विरोध उपलभ्यते स सर्व एव प्रकारद्वयेऽन्तर्भवति । एको वास्तवविरोधः, द्वितीयो लाक्षणिकविरोधः ॥ ७२ ॥

वास्तवविरोधकथनार्थमाह—**अविकलेति** ।

यदा भावस्य कारणसमूहानामवैकल्ये कारणनिवर्त्यस्याविर्भावः । अन्यभावपरिनिष्पत्तौ च निवृत्तिस्तदा विरोधप्रतीतिः ॥ ७३ ॥

[ध०] कथं विरोधाभावः ? **द्विविध** इति । **हीति** । यस्माद् **द्विविध** एव **विरोधः**, नान्यः, तस्मान्न वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोर्विरोधः ॥ ७२ ॥

कः पुनरसौ द्विविधो विरोधः ? इत्याह—**अविकलकारणस्येति** । अविकलानि समग्राणि कारणानि यस्य स तथोक्तः । यस्य कारणवैकल्यादभावः, न तस्य केनचिदपि विरोधगतिः । तदर्थमविकलकारणम् । (१)

ननु च यस्यापि कारणसाकल्यम्, तस्यापि निवृत्तिरशक्या केनचिदपि कर्तुम्, तत् कुतो विरोधगतिः ? एवं तर्हि अविकलकारणस्यापि यत्कृतात् कारणवैकल्यादभावस्तेन विरोधगतिः । (२)

तथा च सति, यो यस्य विरुद्धः स तस्य किञ्चित्कर । एव तथाहि—शीतस्पर्शस्य जनको भूत्वा शीतस्पर्शान्तरजननशक्ति प्रतिबध्नन् शीतस्पर्शस्य निवर्तको विरुद्धः । तस्माद्धेतुवैकल्यकारी विरुद्धो जनक एव निवर्त्यस्य । सहानवस्थानविरोधश्चायम् । ततो विरुद्धयोरेकस्मिन्नपि क्षणे सहावस्थानं परिहर्तव्यम् । दूरस्थयोर्विरोधाभावाच्च निकटस्थयोरेव निवर्त्यनिवर्तकभावः ।

तस्माद् यो यस्य निवर्तकः स तं यदि परं तृतीयक्षणे निवर्तयति, प्रथमे क्षणे सन्निपतन्नसमर्थावस्थाधानयोग्यो भवति, द्वितीये विरुद्धमसमर्थं करोति, तृतीये त्वसमर्थे निवृत्ते तद्देशमाक्रामति ।

तत्रालोको गतिधर्मा क्रमेण जलतरङ्गन्यायेन देशमाक्रामन् यदान्धकारनिरन्तरमालोकक्षणं जनयति, तदाऽऽलोकसमीपवर्तिनमन्धकारमसमर्थं जनयति । ततोऽसामर्थ्यं तस्य यस्य समीपवर्त्यालोकः । असमर्थे निवृत्ते तद्देशे जायत आलोक इत्येवं क्रमेणाऽऽलोकेनान्धकारोऽपनेयः । तथोष्णः स्पर्शेन शीतस्पर्शो निवर्तनीयः ।

यदा त्वालोकस्तत्रैवान्धकारदेशे जन्यते, तदा यतः क्षणादन्धकारदेशस्यालोकस्य जनकः क्षण उत्पद्यते, तत एवान्धकारोऽन्धकारान्तरजननासमर्थ

७४. शीतोष्णस्पर्शवत् ॥

७५. परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया वा भावाभाववत् ॥

[न्या०] यथा शीतोष्णस्पर्शयोः शीतस्याविकलकारणस्य सतो यदा उष्णत्वापरिनिष्पत्तिस्तदा शीतत्वनिवृत्तिः। तयोश्च लोके विरोधप्रतीतिः ॥ ७४ ॥

परस्परपरिहारेण स्थितं लक्षणं येषां तानि परस्परपरिहारस्थितलक्षणानि, तेषां भावः परस्परिहारस्थितलक्षणता, तया विरोधः। यथा भावाभावयोः भावोऽभावपरिहारेण व्यवस्थितः, अभावश्च भावपरिहारेण व्यवस्थितः ॥ ७५ ॥

[ध०] उत्पन्नः। ततोऽसमर्थावस्थाजनकत्वमेव निवर्तकत्वम्। अतश्च यस्मिन् क्षणे जनकः, ततस्तृतीये क्षणे निवृत्तो विरुद्धो यदि शीघ्रं निवर्तते।

जन्यजनकभावाच्च सन्तानयो**र्विरोधः**, न क्षणयोः। यद्यपि च न सन्तानो नाम वस्तु, तथापि सन्तानिनो वस्तुभूताः। ततोऽयं परमार्थः न क्षणयोर्विरोधः, अपितु बहूनां क्षणानाम्। यतः सत्सु दहनक्षणेषु प्रवृत्ता अपि शीतक्षणा निवृत्तिधर्माणो भवन्तीति सन्तानयोर्निवर्त्यनिवर्तकत्वनिमित्ते च विरोधे स्थिते सर्वेषां परमाणूनां सत्यप्येकदेशावस्थानाभावे न विरोधः; इतरेतरसन्तानानिवर्तनात् तेषाम्। गतिधर्मा चालोको यां दिशमाक्रामति, तद्दिग्वर्तिनो विरोधिसन्तानान् निवर्तयति। ततोऽपवरकैकदेशस्था प्रदीपप्रभाऽन्धकारनिकटवर्तिन्यपि नान्धकारं निवर्तयति; अन्धकाराक्रान्तायां दिश्यालोकक्षणान्तरजननासामर्थ्यात्। कारणसामर्थ्यहेतुत्वकृतं सन्ताननिष्ठमेव विरोधं दर्शयता **भवता** इति कृतम्। भवतः प्रबन्धेन प्रवर्तमानस्य शीतस्पर्शसन्तानस्याभावोऽन्यस्योष्णसन्तानस्य भावे सतीति।

ये त्वाहुः—'न विरोधो वास्तवः' इति, त इदं वक्तव्याः—यथा न निष्पन्ने कार्ये कश्चिज्जन्य-जनकभावो नाम द्विष्ठोऽस्ति, कारणपूर्विका तु कार्यवृत्तिः। अतो वास्तव एव। तद्वन्न निवृत्ते वस्तुनि कश्चिद् द्विष्ठो नाम विरोधोऽस्ति। दहननिमित्तं तु शीतस्पर्शस्य क्षणान्तरजननासामर्थ्यम्। अतो विरोधोऽपि वास्तव एव ॥ ७३ ॥

उदाहरणमाह—**शीतेति**। **शीतश्चोष्णश्च** तावेव **शीतस्पर्शौ**, तयोरिव। शीतोष्णस्पर्शयोर्हि पूर्ववद् विरोधो योजनीयः ॥ ७४ ॥

द्वितीयमपि विरोधं दर्शयितुमाह—**परस्परे**त्यादि। परस्परस्य परिहारः=परित्यागः, तेन स्थितं लक्षणम् = रूपं ययोः, तद्भावः **परस्परपरिहारस्थितलक्षणता, तया**।

७६. स च द्विविधोऽपि विरोधो वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोर्न सम्भवति ॥

[न्या०] स चोभयविधोऽपि विरोधो वक्तृसर्वज्ञयोर्न सम्भवति । वक्तृत्वस्य हि

[ध०] इह यस्मिन् परिच्छिद्यमाने यद् व्यवच्छिद्यते, तत् परिच्छिद्यमानमविच्छद्यमानपरिहारेण स्थितरूपं द्रष्टव्यम् । नीले च परिच्छिद्यमाने ताद्रूप्यप्रच्युतिरवच्छिद्यते, तदव्यवच्छेदे नीलापरिच्छेदप्रसङ्गात् । तस्माद् वस्तुनो भावाभावौ परस्परपरिहारेण स्थितरूपौ । नीलात्तु यदन्यद्रूपं तन्नीलाभावाव्यभिचारि । नीलस्य दृश्यस्य पीतादावुपलभ्यमानेऽनुपलम्भादभावनिश्चयात् । यथा च नीलं स्वभावं परिहरति, तद्वद् अभावाव्यभिचारि पीतादिकमपीति । तथा च भावाभावयोः साक्षाद् विरोधः, वस्तुनोस्त्वन्योन्याभावाव्यभिचारित्वाद् विरोधः ।

कस्य चान्यत्राभावावसायः ? यो नियताकारोऽर्थः, तस्य । न त्वनियताकारः । क्षणिकत्वादिवत् । क्षणिकत्वं हि सर्वेषां नीलादीनां स्वरूपात्मकम् । अतो न नियताकारम्; यतः क्षणिकत्वपरिहारेण न किञ्चिद् दृश्यते ।

यद्येवम्, अभावोऽपि न नियताकारः । कथमनियताकारो नाम ? यावता वस्तुरूपविविक्ताकारः कल्पितोऽभावः । ततो दृष्टं कल्पितं वा नियतं रूपमन्यत्रासदित्यवसीयते, नानियतम् । एवं नित्यत्वपिशाचादिरपि नियताकारः कल्पितो द्रष्टव्यः । एकात्मत्वविरोधश्चायम् । ययोर्हि परस्परपरिहारेणावस्थानं तयोरेकत्वाभावः ।

अत एव लाक्षणिकोऽयं विरोध उच्यते । लक्षणं रूपम्, वस्तूनां प्रयोजनमस्येति कृत्वा । विरोधेन ह्यनेन वस्तुतत्त्वं विभक्तं व्यवस्थाप्यते । अत एव दृश्यमाने रूपे यन्निषिध्यते, तद् दृश्यमेवाभ्युपगम्य निषिध्यते । तथा हि— अभावोऽपि पिशाचोऽपि यदा पीते निषेद्धुमिष्यते, तदा दृश्यात्मतया निषेध्य इति दृश्यत्वमभ्युपगम्य दृश्यानुपलब्धेरेव निषेधः । तथा च सति रूपे परिच्छिद्यमान एकस्मिंस्तदभावो दृश्यो व्यवच्छिद्यते । यच्च तदभाववन्नियताकारं रूपम्, तदपि दृश्यं व्यवच्छिद्यते । ततः स्वप्रच्युतिवत् प्रच्युतिमन्तोऽपि व्यवच्छिन्ना इति ये परस्परपरिहारस्थितरूपाः सर्वे तेऽनेन निषिद्धैकत्वादिति । सत्यपि चास्मिन् विरोधे सहावस्थानं स्यादपि ।

ततो भिन्नव्यापारौ विरोधौ । एकेन विरोधेन शीतोष्णस्पर्शयोरेकत्वं वार्यते । अन्येन सहावस्थानम्, भिन्नविषयौ च । सकले वस्तुन्यवस्तुनि च परस्परपरिहारविरोधः । वस्तुन्येव कतिपये सहानवस्थानविरोधः । तस्माद् भिन्नव्यापारौ भिन्नविषयौ च । ततो नानयोरन्योन्यान्तर्भाव इति ॥ ७५ ॥

स चायं **द्विविधोऽपि विरोधो वक्तृत्वं च सर्वज्ञत्वं च तयोर्न सम्भवति ।**

७७. न चाविरुद्धविधेरनुपलब्धावप्यभावगतिः ॥
७८, रागादीनां वचनादेश्च कार्यकारणभावसिद्धेः ॥
७९. अर्थान्तरस्य चाकारणस्य निवृत्तौ न वचनादेर्निवृत्तिः ॥

[न्या०] अविकलकारणस्य सतः सर्वज्ञत्वपरिनिष्पत्तावपि निवृत्तिर्न दृष्टा । वक्तृत्वपरिहारेणापि सर्वज्ञत्वस्य न व्यवस्थितिः, नापि वा सर्वज्ञत्वपरिहारेण वक्तृत्वस्य व्यवस्थितिः ॥ ७६ ॥

विरोधाभावे च अविरुद्धवद्वक्तृत्वं सर्वज्ञत्वाववविपर्ययेणोपलभ्यत इति चेत् ? तत्राह—नचेति ।

यत्र विरुद्धत्वेन नाभिधानं तत्र वस्तुनोरनुपलब्धावपि नाभावनिश्चयः सम्भवति । असर्वज्ञत्वे साध्ये वक्तृत्वस्य व्यतिरेकस्तथैव सन्दिग्धः ॥ ७७ ॥

रागादिमत्त्वेन निर्देशेऽपि व्यतिरेकसन्देहकथनार्थमाह—रागादीनामिति ।

रागादिर्वचनस्य हेतुरित्येतदसिद्धम् ॥ ७८ ॥

अस्तु रागादिवचनयोः कार्यकारणभावोऽसिद्धः, ततः किमिति चेत् ? आह—

[ध०] न ह्यविकलकारणस्य सर्वज्ञत्वस्य वक्तृत्वभावादभावगतिः । सर्वज्ञत्वं ह्यदृश्यम् । अदृष्टस्य चाभावो नावसीयते; ततो नानेन विरोधगतिर्भवति ।

न च वक्तृत्वपरिहारेण सर्वज्ञत्वमवस्थितम् । काष्ठादयो हि वक्तृत्वपरिहृताः, तेषामपि सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् । नापि सर्वज्ञत्वपरिहारेण वक्तृत्वम्; काष्ठादीनामपि वक्तृत्वप्रसङ्गात् । तत एवाविरोधाद् वक्तृत्वविधेर्न सर्वज्ञत्वनिषेधः ॥ ७६ ॥

स्यादेतत्—यदि नास्त्येव विरोधो घटपटयोरिव, स्यादपि तयोः सहावस्थितिदर्शनम् । सहावस्थित्यदर्शनात्तु विरोधगतिः, विरोधाच्चाभावगतिः ? इत्याशङ्क्याह—**न चाविरुद्धविधेरिति** । अनुपलब्धावपि नायं विरुद्धविधिः । यद्यपि सहावस्थानानुपलम्भस्तथापि न तयोर्विरोधः । यस्मान्न सहानुपलम्भमात्राद् विरोधः, अपि तु द्वयोरुपलभ्यमानयोर्निवर्त्यनिवर्तकभावावसायात् । तस्मादनुपलब्धावपि न वक्तृत्वविधेर्विरुद्धविधिः । अतोऽस्मान्नान्यस्याभावगतिः ॥ ७७ ॥

तथा न वक्तृत्वाद् रागादिमत्त्वगतिः । यतो यदि वचनादि रागादीनां कार्यं स्याद्, वचनादेः रागादिगतिः स्यात् । रागादिनिवृत्तौ वचनादिनिवृत्तिः स्यात्, न च कार्यम् । कुतः ? **रागादीनां वचनादेश्च कार्यकारणभावस्याऽसिद्धेः** । कारणान्न कार्यम् । अतोऽस्मान्न गतिः ॥ ७८ ॥

मा भूद् रागादिकार्यम्, वचनं सहचारि तु भवति । ततो रागादौ

८०. इति सन्दिग्धव्यतिरेकोऽनैकान्तिको वचनादिः ॥
८१. द्वयो रूपयोर्विपर्ययसिद्धौ विरुद्धः ॥
८२. कयोर्द्वयोः ?
८३. सपक्षे सत्त्वस्य, असपक्षे चासत्त्वस्य। यथा कृतकत्वं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं च नित्यत्वे साध्ये विरुद्धो हेत्वाभासः ॥

[न्या०] अर्थान्तरस्येति। अर्थान्तरम् रागादिकम्। अकारणस्य तस्य निवृत्तौ कथं वचनादेर्निवृत्तिः स्यात् ? ॥ ७९ ॥

तथाहि यस्माद् वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोः कोऽपि विरोधो नास्ति। रागादिवचनयोर्वा न कार्यकारणभावः। तस्मात् असर्वज्ञनिवृत्त्या रागादिनिवृत्त्या वा वचननिवृत्तिः सन्दिग्धा। तस्मात् सन्दिग्धव्यतिरेको नामानैकान्तिकः ॥ ८० ॥

यदि द्वयो रूपयोर्विपर्ययसिद्धिस्तदा विरुद्धहेत्वाभासः स्यात् ॥ ८१ ॥

कयोर्द्वयो रूपयोर्विपर्ययप्रतीतौ विरुद्धहेत्वाभास उच्यते ? ॥ ८२ ॥

अन्वय-व्यतिरेकाविति शेषः। एवं विरुद्धस्य सामान्यं लक्षणमुक्तम्। विशेषेण कथनार्थमाह—कृतकत्वमित्यादि।

[ध०] सहचारिणि निवृत्ते निवर्तते वचनम् ? इत्याशङ्कयाह—**अर्थान्तरस्य चाकारणस्य निवृत्तौ** सहचारित्वदर्शनमात्रेण **नान्यस्य वचनादेर्निवृत्तिः**। अतो वक्तृत्वं भवेद् रागादिविरहश्च ॥ ७९ ॥

इतिशब्दस्तस्मादर्थे। तस्मादसर्वज्ञत्वविपर्ययाद् विपक्षात् सर्वज्ञत्वाद् रागादिमत्त्वविपर्ययादरागादिमत्त्वात् **सन्दिग्धो व्यतिरेको** वचनादेः। अतोऽ**नैकान्तिको वचनादिः** ॥ ८० ॥

एवमेकैकरूपादिसिद्धिसन्देहे हेतुदोषान् आख्याय, द्वयोर्द्वयो रूपयोरसिद्धिसन्देहे हेतुदोषान् वक्तुकाम आह—द्वयोर्द्वयो**रि**ति। **द्वयो रूपयोर्विपर्ययसिद्धौ** सत्यां **विरुद्धः** ॥ ८१ ॥

त्रीणि च रूपाणि सन्ति, ततो विशेषज्ञापनार्थमाह—**कयोर्द्वयो**रिति ॥ ८२ ॥

विशिष्टे रूपे दर्शयति—**सपक्षे सत्त्वस्य, असपक्षे चासत्त्वस्य**। विपर्ययसिद्धाविति सम्बन्धः। **कृतकत्वमि**ति स्वभावहेतुः। प्रयत्नानन्तरीयकत्वं हि कार्यहेतुः। **प्रयत्नान्तरीयक**शब्देन हि प्रयत्नानन्तरं जन्मज्ञानं च प्रयत्नानन्तरीयकमुच्यते। जन्म = जायमानस्य स्वभावः। ज्ञानम् = ज्ञेयस्य कार्यम्। तदिह प्रयत्नानन्तरं ज्ञानं गृह्यते। तेन कार्यहेतुः।

८४. अनयोः सपक्षेऽसत्त्वम्, असपक्षे च सत्त्वमिति विपर्ययसिद्धिः ॥
८५. एतौ च साध्यविपर्ययसाधनाद् विरुद्धौ ॥
८६. ननु च तृतीयोऽपीष्टविघातकृद् विरुद्धः ॥
८७. यथा परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वाच्छयनासनाद्यङ्गवदिति ॥

[न्या०] यदि कृतकत्वेन प्रयत्नान्तरीयकत्वेन वा नित्यत्वं साध्यते, तर्हि विरुद्धो हेत्वाभासः स्यात् ॥ ८३ ॥

कथमिह विपर्ययसिद्धिरिति चेद् ? आह—अनयोरिति ।

नित्यत्वे साध्ये सपक्ष आकाशादिः, तत्र कृतकत्वप्रयत्नान्तरीयकत्वयोरुभयोरेवासम्भवः । विपक्षश्चानित्यो घटादिः । तत्र तयोरुभयोरेव सत्त्वम्, तथा च तयोर्विपर्ययसिद्धिः ॥ ८४ ॥

यस्माद् द्वयो रूपयोर्विपर्ययसिद्धिः, तस्मात् साध्यविर्ययसिद्धिः । साध्यविपर्ययसाधनाच्च विरुद्धो हेत्वाभासः ॥ ८५ ॥

इष्टस्य विघातः क्रियतेऽनेनेति इष्टविघातकृत् । तृतीयो हि विरुद्धः शास्त्रकारैरुक्तः ॥ ८६ ॥

दृष्टान्तकथनम्—यथेति । तस्यार्थस्तु व्याख्यात एव । ८७ ॥

[ध०] एतौ हेतू नित्यत्वे साध्ये विरुद्धौ हेत्वाभासौ ॥ ८३ ॥

कस्मात् पुनरेतौ विरुद्धौ ? इत्याह—**अनयोरिति** । सपक्षे हि नित्ये कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वयोरसत्त्वमेव निश्चितम् । अनित्ये विपक्षे एव **सत्त्वं** निश्चितमिति **विपर्ययसिद्धिः** ॥ ८४ ॥

कस्मात् पुनर्विपर्ययसिद्धावप्येतौ विरुद्धौ ? इत्याह—एतौ च साध्यस्य नित्यत्वस्य विपर्ययम् अनित्यत्वं साधयतः । ततः **साध्यविपर्ययसाधनाद् विरुद्धौ** ॥ ८५ ।

यदि साध्यविपर्ययसाधनाद् विरुद्धावेतौ, उक्तं च परार्थानुमाने साध्यम्, न त्वनुक्तम्, इष्टं चानुक्तम्, अतोऽन्य इष्टविघातकृदाभ्यामिति दर्शयन्नाह—**ननु च तृतीयोऽपि** विरुद्ध उक्तः । उक्तविपर्ययसाधनौ द्वौ । तृतीयोऽयमिष्टस्य शब्देनानुपात्तस्य विघातं करोति विपर्ययसाधनादिति इष्टविघातकृत् ॥ ८६ ॥

तमुदाहरति—**यथेति** । **चक्षुरादय इति** धर्मी । परोऽर्थः प्रयोजनं परार्थः प्रयोजकः संस्कार्य उपकर्तव्यो येषां ते परार्था इति साध्यम् । **सङ्घातत्वात्** सञ्चितरूपत्वादिति हेतुः । **चक्षुरादयो** हि परमाणुसञ्चितिरूपाः । ततः सङ्घातरूपा उच्यन्ते । शयनम्, आसनं चादिर्यस्य तत् शयनासनादि । तदेव **अङ्गम्** पुरुषोपभोगाङ्गत्वात् । अयं व्याप्तिप्रदर्शनविषयो दृष्टान्तः । **अत्र** हि

८८. तदिष्टासंहतपारार्थ्यविपर्ययसाधनाद् विरुद्धः ॥

८९. स इह कस्मान्नोक्तः ? **९०. अनयोरेवान्तर्भावात् ॥**

९१. न ह्ययमाभ्यां साध्यविपर्ययसाधनत्वेन भिद्यते ॥

[न्या०] विरुद्धश्चायं कथमिति चेद् ? आह—तदिष्टेति । परेभ्योऽयमिति परार्थः, तस्य भावः पारार्थ्यम् । असंहृतस्य पारार्थ्यमिति असंहृतपारार्थ्यम् । इष्टं च तस्य तद् असंहृतपारार्थ्यं चेति विग्रहः, तद्विपर्ययः असंहृतपारार्थ्यविषयः । तस्य साधन इत्यर्थः । तस्मात् तदिष्टासंहृतपारार्यविपर्ययसाधनादसौ विरुद्ध एव द्रष्टव्यः ॥ ८८ ॥

शास्त्रकारेणानुमतस्तथा विरुद्धलक्षणयुक्तोऽपीति भावः ॥ ८९ ॥

यच्च विरुद्धद्वयमुक्तं तयोरेवान्तर्भावेण पृथग्नाभिधानम् ॥ ९० ॥

अन्तर्भावस्यैव प्रदर्शनार्थमाह—न हीति ।

कृतकत्वप्रयत्नान्तरीयकत्वलक्षणं हेतुर्नित्यत्वे साध्ये साध्यविपर्ययसाधनाद् विरुद्ध इत्युक्तम् । अयमपि साध्यविपर्ययसाधनात् ताभ्यां समान एव विरुद्धः ॥ ९१ ॥

[ध०] पारार्थ्येन संहतत्वं व्याप्तम् । यतः शयनासनादयः सङ्घातरूपाः पुरुषस्य भोगिनो भवन्ति उपकारका इति परार्था उच्यन्ते ॥ ८७ ॥

कथमयमिष्टविघातकृत् ? इत्याह—**तदिष्टासंहृतपारार्थ्यविपर्ययसाधनादिति**। असंहृते विषये पारार्थ्यमसंहृतपारार्थ्यम् । तस्य **साङ्ख्यस्य** वादिनः इष्टमसंहृतपारार्थ्यं **तदिष्टासंहृतपारार्थ्यम्** । तस्य **विपर्ययः** संहृत-पारार्थ्यं नाम । तस्य **साधनाद् विरुद्धः** ।

'आत्मा अस्ति' इति ब्रुवाणः साङ्ख्यः 'कुत एतद्' इति पर्यनुयुक्तो **बौद्धेन**, इदमात्मनः साङ्ख्यो प्रमाणमाह । तस्माद् असंहृतस्यात्मनः उपकारकत्वं साध्यं चक्षुरादीनाम् । अयं तु हेतुर्विपर्ययव्याप्तः । यस्माद् यो यस्योपकारकः स तस्य जनकः । जन्यमानश्च युगपत् क्रमेण वा भवति संहृतः, तस्मात् परार्थाश्चक्षुरादयः संहृतपरार्था इति सिद्धम् ॥ ८८ ॥

अयं च विरुद्ध आचार्यदिङ्नागेनोक्तः, **स कस्माद् वार्त्तिककारेण** सता त्वया **नोक्तः** ॥ ८९ ॥

इतर आह—**अनयोरेव** साध्यविपर्ययसाधनयोरन्तर्भावात् ॥ ९० ॥

ननु च उक्तविपर्ययं न साधयति, तत् कथमुक्तविपर्ययसाधनयोरेवान्तर्भावः ? इत्याह— **न ह्ययमिति**। **हीति** यस्मादर्थे । यस्माद् **अयम्** इष्टविघातकृद् **आभ्यां** हेतुभ्यां **साध्यविपर्ययस्य साधनत्वेन न भिद्यते**। यथा तौ साध्यविपर्ययसाधनौ, तथाऽयमपीति । उक्तविपर्ययं तु साधयतु वा मा वा, किमुक्तविपर्ययसाधनेन ! तस्मादनयोरेवान्तर्भावः ॥ ९१ ॥

९२. न हीष्टोक्तयोः साध्यत्वेन कश्चिद्विशेष इति ॥

९३. द्वयो रूपयोरेकस्यासिद्धावपरस्य च सन्देहेऽनैकान्तिकः ॥

९४. यथा वीतरागः कश्चित् सर्वज्ञो वा, वक्तृत्वादिति । व्यतिरेकोऽत्रासिद्धः । सन्दिग्धोऽन्वयः ॥

९५ सर्वज्ञवीतरागयोर्विप्रकर्षाद् वचनादेस्तत्र सत्त्वमसत्त्वं वा संदिग्धम् ॥

[व्या०] पूर्वं शब्देनोक्तस्यैव साध्यस्य विपर्ययसिद्धिः । तत्र च नेष्टार्थविपर्ययसिद्धिः । तस्मात् कथमयं ताभ्यां समान इति चेत् ? तत्राह—न हीति ।

यच्चेष्टं यच्चोक्तं तद्द्वयोः साध्यत्वे विशेषः कोऽपि नास्तीत्येतदुक्तमेव ॥ ९२ ॥

अन्वयव्यतिरेकयोरेवैकस्यासिद्धौ अपरस्य च सन्देहे हेतोरनैकान्तिकत्वम् ॥ ९३ ॥

दृष्टान्तकथनम्—यथेति । तस्यार्थ उक्त एव ।

अत्रेति । अस्मिन् प्रयोगे । व्यतिरेको नास्ति । अन्वयस्तु सन्दिग्धः । तथा हि—सर्वज्ञत्वे साध्ये असर्वज्ञो विपक्षः । असर्वज्ञेभ्यश्च वचनं च व्यावृत्तम् ॥ ९४ ॥

अन्वयसन्देहकथनार्थमाह—सर्वज्ञेति ।

यस्मात् सर्वज्ञत्वं वीतरागत्वं चेन्द्रियस्याविषयस्यैव, तस्मात् तयोः कुत्रापि वचनमस्ति नास्ति वेति सन्दिग्धमेव । तथाहि—दृष्टान्तत्वेन यः पुरुष उक्तः स किं सर्वज्ञः सन् वक्ता, किमुत असर्वज्ञः सन् वक्ता ? इत्यत्र निश्चयो नास्ति ॥ ९५ ॥

[ध०] ननु च उक्तमेव साध्यम्, तत् कथं साध्यविपर्ययसाधनेत्वेनाभेदः ? इत्याह—**न हीति** । यस्मादिष्टोक्तयोः परस्परस्मात् **साध्यत्वेन न कश्चिद् विशेषो भेद** इति । तस्मादनयोरेव अन्तर्भाव इत्युपसंहारः ।

प्रतिवादिनो हि यज्जिज्ञासितं तत् प्रकरणापन्नम् । यच्च प्रकरणापन्नं तत् साधनेच्छया विषयीकृते साध्यमिष्टमुक्तम्, अनुक्तं वा, न तूक्तमात्रमेव साध्यम् । तेनाविशेष इति ॥ ९२ ॥

द्वयो रूपयोर्विपर्ययसिद्धौ विरुद्धः उक्तः । तयोस्तु द्वयोर्मध्ये । **एकस्यासिद्धौ, अपरस्य च संदेहे चानैकान्तिकः** ॥ ९३ ॥

कीदृशोऽसौ ? इत्याह—**यथेति** । विगतो रागो यस्य स **वीतराग** इत्येकं साध्यम् । **सर्वज्ञो** वेति द्वितीयम् । **वक्तृत्वादिति** हेतुः । **व्यतिरेकोऽत्रासिद्ध** इति । स्वात्मन्येव सरागे च असर्वज्ञे च विपक्षे वक्तृत्वं दृष्टम् । अतोऽसिद्धो व्यतिरेकः सन्दिग्धोऽन्वयः ॥ ९४ ॥

कुतः ? इत्याह—सपक्षभूतयोः **सर्वज्ञवीतरागयोः** । **विप्रकर्षा**दिति अतीन्द्रियत्वाद् । **वचनादे**रतीन्द्रियगम्यस्यापि तत्र अतीन्द्रिययोः सर्वज्ञवीतरागयोः **सत्त्वमसत्त्वं वा सन्दिग्धम्** । ततश्च न ज्ञायते किं वक्तृत्वात् सर्वज्ञः ? उत न—इत्यनैकान्तिक इति ॥ ९५ ॥

९६. अनयोरेव द्वयो रूपयोः सन्देहेऽनैकान्तिकः ॥

९७. यथा सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादिति ॥

९८ न हि सात्मकनिरात्मकाभ्यामन्यो राशिरस्ति यत्रायं प्राणादिर्वर्तेत ॥

[न्या०] यद्यन्वयो व्यतिरेकश्च द्वावेव सन्दिग्धौ, तदापि अनैकान्तिकहेत्वाभासः ॥९६॥

दृष्टान्तकथनार्थमाह—यथेति । प्राण आदिर्यस्य स प्राणादिः । प्राणशब्देन उन्मेष-निमेषप्रसारणसङ्कोचादीनां परिग्रहः । सात्मकमिति । आत्मनो भोगायतनभूतम् । जीवच्छरीरमिति । अनेन मृतशरीरस्य निरासः ॥ ९७ ॥

तत्र च व्यतिरेकसन्देहकथनार्थमाह—नहीति ।

द्विविधो हि राशिः—सात्मकः, निरात्मकश्च । तत्रान्तर्भूतोऽपरो नास्ति । प्राणादिमत्त्वस्य वस्तुधर्मत्वे तच्च सात्मकनिरात्मकाभ्यां निवृत्तम् ॥ ९८ ॥

[ध०] सम्प्रति द्वयोरेव सन्देहेऽनैकान्तिकं वक्तुमाह—**अनयोरेव** अन्वयव्यति-रेकयोः । **सन्देहात्** संशयहेतुः ॥ ९६ ॥

उदाहरणम्—**यथेति** । सह आत्मना वर्तते **सात्मक**मिति साध्यम् । **शरीर**मिति धर्मी । **जीवद्**ग्रहणं धर्मिविशेषणम् । मृते ह्यात्मानं नेच्छति ।

प्राणाः=श्वासादय आदिर्यस्योन्मेषनिमेषादेः प्राणिधर्मस्य स प्राणादिः, स यस्यास्ति तत् प्राणादिमत् जीवच्छरीरम्, तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्मा-दित्येष हेतुः ॥ ९७ ॥

अयमसाधारणः संशहेतुरुपपादयितव्यः । पक्षधर्मस्य च द्वाभ्यां कारणाभ्यां संशयहेतुत्वम् । संशयविषयौ यावाकारौ, ताभ्यां सर्वस्य वस्तुनः संग्रहात् । तयोश्च व्यापकयोराकारयोरेकत्रापि वृत्त्यनिश्चयात् । याभ्यां ह्याकाराभ्यां सर्वं वस्तु न संगृह्यते तयोराकारयोर्न संशयः । प्रकारान्तरसम्भवे हि पक्षधर्मो धर्मिणमवियुक्तं द्वयोरेकेन धर्मेण दर्शयितुं न शक्नुयात्, अतो न संशयहेतुः स्यात् । द्वयोर्धर्मयोरनियतं भावं दर्शयन् संशयहेतुः । द्वयोस्त्वनियतमपि भावं दर्शयितुमशक्तोऽप्रतिपत्तिहेतुः । नियतं तु भावं दर्शयन् सम्यग् हेतुर्विरुद्धो वा स्यात् । तस्माद् याभ्यां सर्वं वस्तु संगृह्यते, तयोः संशयहेतुः, यदि तयोरेकत्रापि सद्भावनिश्चयो न स्यात् । सद्भावनिश्चये तु यद्येकत्र नियतसत्तानिश्चयो हेतुर्विरुद्धो वा स्यात् । अनियत-सत्तानिश्चये तु साधारणानैकान्तिकः, सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकः, संदिग्धा-न्वयोऽसिद्धव्यतिरेको वा स्यात् । एकत्रापि तु वृत्त्यनिश्चयादसाधारणा-नैकान्तिको भवति । ततोऽसाधारणानैकान्तिकस्यानैकान्तिकत्वे हेतुद्वयं दर्श-

९९. आत्मनो वृत्ति-व्यवच्छेदाभ्यां सर्वसंग्रहात् ॥
१००. नाप्यनयोरेकत्र वृत्तिनिश्चयः ॥
१०१. सात्मकत्वेनाऽनात्मकत्वेन वा प्रसिद्धे प्रमाणादेरसिद्धेः ॥

[न्या०] तिष्ठत्वन्यत्र कुत्रापि, कथं तृतीयराश्यसम्भव इति चेद् ? आह—आत्मन इति।

वृत्तिश्च व्यवच्छेदश्च वृत्तिव्यवच्छेदौ। वृत्तिः = सद्भावः। व्यवच्छेदः = अभावः। आत्मनो वृत्तिव्यवच्छेदौ आत्मवृत्तिव्यवच्छेदौ। ताभ्यां हि सकलवस्तुसंग्रहः। तथा हि—यस्मिन् आत्मनो वृत्तिस्तत् सात्मकम्। तत्रानन्तर्भूतमन्यत् सर्वं निरात्मकम्। तस्मात् कुतस्तृतीयराशिसम्भवः ! एवं हि प्राणादिमत्त्वस्य सात्मकनिरात्मकाभ्यां व्यतिरेकोऽसिद्धः ॥ ९९ ॥

यद्यपि ताभ्यां व्यतिरेकोऽसिद्धः, तथापि तत्रान्वय एवास्त्विति चेत् ? तत्राह—नापीति। प्राणादिमत्त्वस्य सात्मके निरात्मके वा सत्त्वमिति निश्चयो न शक्यते कर्तुम् ॥ १०० ॥

तच्च कस्मादिति चेत् ? आह—सात्मकत्वेनेति।

सात्मकत्वेन निश्चिते वस्तुनि, निरात्मकत्वेन वा निश्चिते वस्तुनि प्राणादिमत्त्वमदृष्टम्, तस्मात् कुतो वृत्तिनिश्चयः ? ॥ १०१ ॥

[ध०] यितुमाह—**न हीति**। सहात्मना वर्तते **सात्मकः**। निष्क्रान्तः आत्मा यस्मात् स **निरात्मकः**। ताभ्यां यस्मान्नान्यो **राशिरस्ति**। किम्भूतः ? **यत्रायं** वस्तुधर्मः **प्राणादिर्वर्तेत**। तस्मादयं तयोर्भवति संशयहेतुः ॥ ९८ ॥

कस्मादन्यराश्यभावः ? इत्याह—**आत्मनो वृत्तिः** = सद्भावः, **व्यवच्छेदः** = अभावः, ताभ्यां सर्वस्य वस्तुनः **संग्रहात्** क्रोडीकरणात्। यत्र ह्यात्मा अस्ति तत् सात्मकम्, अन्यन्निरात्मकम्। ततो नान्यो राशिरस्तीति संशयहेतुत्वकारणम् ॥ ९९ ॥

प्रकाराभ्यां सर्ववस्तुसंग्रहं प्रतिपाद्य द्वितीयमाह—**नाप्यनयोः** सात्मकानात्मकयोर्मध्य **एकत्र** सात्मकेऽसात्मके वा **वृत्ते** सद्भावस्य **निश्चयोऽस्ति**। द्वावपि राशी त्यक्त्वा न वर्तते प्राणादि; वस्तुधर्मत्वात्। ततश्चानयोरेव वर्तते इत्येतावदेव ज्ञातम्। विशेषे तु वृत्तिनिश्चयो नास्तीत्यमर्थः ॥ १०० ॥

तदाह—**सात्मकत्वेनानात्मकत्वेन वा** विशेषेण युक्ते **प्रसिद्धे** निश्चिते वस्तुनि **प्राणादेः** धर्मस्य सर्ववस्तुव्यापिनोः प्रकारयोरेकत्र नियतसद्भावस्य **असिद्धेः** अनैकान्तिकः; अनिश्चितत्वात्।

तदेवमसाधारणस्य धर्मस्यानैकान्तिकत्वे कारणद्वयमभिहितम् ॥ १०१ ॥

१०२. तस्माज्जीवच्छरीरसम्बन्धी प्राणादिः सात्मकादनात्मकाच्च सर्वस्माद् व्यावृत्तत्वेनासिद्धेस्ताभ्यां न व्यतिरिच्यते ॥

१०३. न तत्रान्वेति ॥

१०४. एकात्मन्यप्यसिद्धेः ॥

१०५ नापि सात्मकादनात्मकाच्च तस्यान्वयव्यतिरेकयोरभावनिश्चयः ॥

[न्या०]उपसंहारे पक्षधर्मो निर्दिश्यते। जीवच्छरीरेण सम्बन्ध इति विग्रहः। स यस्यास्ति स जीवशरीरसम्बन्धी। पक्षधर्म इति शेषः। अनेनोपसंहारेण व्यतिरेकाभावो दर्शितः ॥ १०२ ॥

अनेनोपसंहारेणान्वयाभावो दर्शितः ॥ १०३ ॥

एवं चान्वयव्यतिरेकयोर्द्वयोः सत्त्वमसिद्धम् ॥ १०४ ॥

ननु तयोस्तत्राभावनिश्चय एव स्यादिति चेत् ? तत्राह—नापीति।

यथा सात्मकेऽन्वयव्यतिरेकयोः सत्त्वमनिश्चियम्, तथैवासत्त्वमपि अनिश्चितम्। एवमेव निरात्मकस्यापि वक्तव्यम् ॥ १०५ ॥

[ध०] पक्षधर्मश्च भवन् सर्वः साधारणोऽसाधारणो वा भवत्यनैकान्तिकः। तस्मादुपसंहारव्याजेन पक्षधर्मत्वं दर्शयति—**तस्मा**दित्यादिना। **जीवच्छरीरस्य सम्बन्धी** पक्षधर्म इत्यर्थः। यस्मात् तयोरेकत्रापि न निवृत्तिनिश्चयः **तस्मात् ताभ्यां न व्यतिरिच्यते**।

वस्तुधर्मे हि सर्ववस्तुव्यापिनोः प्रकारयोरेकत्रनियतसद्भावो निश्चितः प्रकारान्तरान्निवर्तेत। अत एवाह—**सात्मकादनात्मकत्वाच्च सर्वस्माद्** वस्तुनो **व्यावृत्तत्वेनासिद्धे**रिति। प्राणादिस्तावत् कुतश्चित् घटादेर्निवृत्त एव। तत एतावदवसातुं शक्यम्—सात्मकादनात्मकाद् वा कियतो निवृत्तः। सर्वस्मात् तु निवृत्तो नावसीयते। ततो न कुतश्चिद् व्यतिरेकः ॥ १०२ ॥

यद्येवम्, अन्वयोऽस्तु तयोर्निश्चितः ? इत्याह—**न तत्र** सात्मकेऽनात्मके वार्थेऽ**न्वेति** अन्वयवान् प्राणादिः ॥ १०३ ॥

कुतः ? इत्याह—**एकात्मन्यपी**ति। **एकात्मनि** सात्मकेऽनात्मके वाऽसिद्धेः कारणात्। वस्तुधर्मतया तयोर्द्वयोरेकत्र वा वर्तत इत्यवसितः प्राणादिः। न तु सात्मक एव निरात्मक एव वा वर्तत इति कुतोऽन्वयनिश्चयः ! ॥ १०४ ॥

ननु च प्रतिवादिनो न किञ्चित् सात्मकमस्ति, ततोऽस्य हेतोर्न सात्मकेऽन्वयो न व्यतिरेक इत्यन्वयव्यतिरेकयोरभावनिश्चयः सात्मके, न तु सद्भाव-

१०६. एकाभावनिश्चयस्यापरभावनिश्चयनान्तरीयकत्वात् ॥

१०७. अन्वय-व्यतिरेकयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वात्, तत एवान्वयव्यतिरेकयोः सन्देहादनैकान्तिकः ॥

[न्या०]सत्त्वनिश्चयाभावेऽपि असत्त्वनिश्चयः कथं न स्यादिति चेत् ? तत्राह–अन्वय इति । अन्योन्यवच्छेदरूपेण तौ स्थिताविरयुच्यते, ततश्च किमिति चेत् ? आह—एकेति ।

यदि तयोः परस्पराभावरूपेण स्थितिस्तदा यत्रान्वयाभावनिश्चयस्तत्र व्यतिरेकसत्त्वनिश्चयोऽवश्यम्भावी । तथा व्यतिरेकाभावनिश्चयेऽपि अन्वतसत्त्वनिश्चयोऽवश्यम्भावी । एवं यत्र प्राणादिमत्त्वस्य सत्त्वं नेति निश्चयस्तत्राभावनिश्चयः । यत्र च तदसत्त्वं नेति निश्चयस्तत्र भावनिश्चयः । यस्मादेवमन्वयव्यतिरेकयोरेकस्याभावनिश्चय एव, अपरस्य सत्त्वनिश्चयोऽवश्यम्भावी, तस्मात् सात्मक–निरात्मकयोः प्राणादिमत्त्वाभावनिश्चयोऽपि नास्त्येव ॥ १०६ ॥

सत्त्वनिश्चयाभावेऽपि असत्त्वनिश्चयः कथं न स्यादिति चेत् ? तत्रा—अन्वयेति । अन्वयव्यतिरेकौ हि परस्पराभावरूपेणावस्थितौ । तथा हि यत्रान्वयाभावस्तत्र व्यतिरेकसत्त्वम्, यत्र वा व्यतिरेकाभावस्तत्रान्वयसत्त्वम् ।

[ध०] संशयः ? इत्याशङ्क्याह—**नापीति । नापि सात्मकाद्** वस्तुनः **तस्य** प्राणादे**रन्वयव्यतिरेकयोरभावनिश्चयः । नापि च निरात्मकात् । सात्मकादनात्मका**दिति च पञ्चमी व्यतिरेकशब्दापेक्षया द्रष्टव्या ॥ १०५ ॥

कथमन्वयव्यतिरेकयोर्नाभावनिश्चयः ? इत्याह—**एकेति । एकस्य** अन्वयस्य व्यतिरेकस्य वा योऽ**भावनिश्चयः** सोऽ**परस्य** द्वितीयस्य भावनिश्चयनान्तरीयकः भावनिश्चयस्याव्यभिचारी, तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । यत एकाभावनिश्चयोऽपरभावनिश्चयनान्तरीयकः, तस्मान्न द्वयोरेकत्राभावनिश्चयः ॥ १०६ ॥

कस्मात् पुनरेकस्याभावनिश्चयोऽपरसद्भावनिश्चयाव्यभिचारी ? इत्याह–**अन्वयव्यतिरेकयोरन्योन्यव्यवछेदरूपत्वा**दिति । **अन्योन्य**यस्य **व्यवच्छेदः** अभावः, स एव रूपं ययोस्तयोर्भावस्तत्त्वम्, तस्मात् कारणात् ।

अन्वयव्यतिरेकौ भावाभावौ । भावाभावौ च परस्परव्यवच्छेदरूपौ । यस्य व्यवच्छेदेन यत् परिच्छिदयते तत् तत्परिहारेण व्यवस्थितम् । स्वभावव्यवच्छेदेन च भावः परिच्छिदयते ।

तस्मात् स्वभावव्यवच्छेदेन भावो व्यवस्थितः । अभावो हि नीरूपो यादृशो विकल्पेन दर्शितः । नीरूपतां च व्यवच्छिदय रूपमाकारवत्

१०८. साध्येतरयोरतो निश्चयाभावात् ॥

१०९. एवमेषां त्रयाणां रूपाणामेकैकस्य द्वयोर्द्वयोर्वा रूपयोरसिद्धौ सन्देहे वा यथायोगमसिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः ॥

[न्या०] तस्मादन्वयव्यतिरेकयोः सन्देहादसौ अनैकान्तिक एव ॥ १०७ ॥

अन्वय-व्यतिरेकयोः सन्देहे सत्यपि कस्मादनैकान्तिकत्वमेव स्यादिति चेत् ? तत्राह—साध्येत्यादि । यस्मात् साध्य-साध्यविपक्षयोः प्राणादिमत्त्वनिश्चयो नास्ति, तस्मादनैकान्तिकः ॥ १०८ ॥

एवमिति । उक्तप्रकारेण । त्रयाणां रूपाणमिति । पक्षधर्मः, अन्वयः, व्यतिरेकश्चेति । एकैकस्य द्वयोर्द्वयोर्वा रूपयोरसिद्धौ सन्देहे चेति । क्वचिदेकस्य रूपस्या-

[ध०] परिच्छिदचते । तथा च सत्यन्वयाभावो व्यतिरेकः, व्यतिरेकाभावश्चान्वयः ।

ततोऽन्वयाभावे निश्चिते व्यतिरेको निश्चितो भवति । व्यतिरेकाभावे च निश्चितेऽन्वयो निश्चितो भवति ।

तस्माद् यदि नाम सात्मकमवस्तु, निरात्मकं च वस्तु; तथापि तयोर्न प्राणादेरन्वयव्यतिरेकयोरभावनिश्चयः । एकत्र वस्तुनि एकस्य वस्तुनो युगपद् भावाभावविरोधात् तयोरभावनिश्चयायोगात् ।

न च प्रतिवादयनुरोधात् सात्मकानात्मके वस्तुनी सदसती, किन्तु प्रमाणानुरोधात् । इत्युभे सन्दिग्धे । ततस्तयोः प्राणादिमत्त्वस्य सदसत्त्वसंशयः ।

यत एव क्वचिदन्वयव्यतिरेकयोर्न भावनिश्चयः, नाप्यभावनिश्चयः, तत एवान्वयव्यतिरेकयोः सन्देहः ।

यदि तु क्वचिदप्यन्वयव्यतिरेकयोरेकस्याप्यभावनिश्चयः स्यात्, स एव द्वितीयस्य । भावनिश्चय इत्यन्वयव्यतिरेकसन्देह एव न स्यात् । यतश्च न क्वचिद् भावाभावनिश्चयः, **तत एवान्वयव्यतिरेकयोः** सन्देहः । **सन्देहाच्चानैकान्तिकः** ॥ १०७ ॥

कस्मादनैकान्तिकः ? इत्याह—**साध्येति** । **साध्यस्य** इतरस्य च विरुद्धस्य, **अतः** सन्दिग्धान्वयव्यतिरेका**न्निश्चयाभावात्** । सपक्षविपक्षयोर्हि सदसत्त्वसन्देहे न साध्यस्य न विरुद्धस्य सिद्धिः । न च सात्मकानात्मकाभ्यां परः प्रकारः सम्भवति । ततः प्राणादिमत्त्वाद् धर्मिणि जीवच्छरीरे संशय आत्मभावाभावयोः—इत्यनैकान्तिकः प्राणादिरिति ॥ १०८ ॥

त्रयाणां रूपाणामसिद्धौ सन्देहे च हेतुदोषानुपपाद्योपसंहरन्नाह—**एव-**

११०. विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः । स इह कस्मान्नोक्तः ?

१११. अनुमानविषयेऽसम्भवात् ॥

११२. न हि सम्भवोऽस्ति कार्यस्वभावयोरुक्तलक्षणयोरनुपलम्भस्य च विरुद्धतायाः ॥

[न्या०] सिद्धिः सन्देहो वा, क्वचित्तु द्वयो रूपयोः । यथायोगमिति प्रयोगानुरूपम् । असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासा इति । असिद्धश्च विरुद्धश्च अनैकान्तिकश्चेति विग्रहः ॥ १०९ ॥

विरुद्धेनाव्यभिचारो विरुद्धाव्यभिचारः । सोऽत्रास्तीति विरुद्धाव्यभिचारी । यद्वा—विरुद्धश्चासौ न व्यभिचरितुं शीलं चास्येति विरुद्धाव्यभिचारी । स च शास्त्रकारेणानैकान्तिक उक्तः । स इहेति । स्वयं न निर्दिष्ट इत्यर्थः ॥ ११० ॥

तच्च कस्मादिति चेत् ? आह—अनुमान इति ।

तथा हि—वस्तुबलप्रवृत्तेऽनुमाने तस्यासम्भवः ॥ १११ ॥

कथमसम्भव इति चेद् ? आह—न हीति ।

कारणसत्त्वे कार्यसत्त्वमेव कार्यहेतोर्लक्षणम् । तन्मात्रानुबन्धिहेतुत्वमेव स्वभाव

[ध०]मिति अनन्तरोक्तेन क्रमेण । एषां मध्य एकैकं रूपं यदा असिद्धं सन्दिग्धं वा भवति, द्वे द्वौ वाऽसिद्धे सन्दिग्धे वा भवतः, **तदासिद्धश्च विरुद्धश्च अनैकान्तिकश्च** ते **हेत्वाभासाः** । **यथायोगमिति** । यस्यासिद्धौ सन्देहे वा यो हेत्वाभासो युज्यते स तस्यासिद्धेः सन्देहाच्च व्यवस्थाप्यत इति यस्य यस्य येन येन योगो यथायोगमिति ॥ १०९ ॥

ननु च **आचार्येण विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः** । हेत्वन्तरसाधितस्य विरुद्धं यत् तन्न व्यभिचरतीति विरुद्धाभिचारी । यदि वा विरुद्धश्चासौ साधनान्तरसिद्धस्य धर्मस्य विरुद्धसाधनात्, अव्यभिचारी च स्वसाध्यव्यभिचाराद् विरुद्धाव्यभिचारी ? ॥ ११० ॥

सत्यम्, उक्त आचर्येण, मया तु नोक्तः । कस्मात् ? इत्याह—**अनुमानेति** । **अनुमानस्य विषयः** प्रमाणसिद्धं त्रैरूप्यम् । यतो हि अनुमानसम्भवः, सोऽनुमानस्य विषयः । प्रमाणसिद्धाच्च त्रैरूप्यादनुमानसम्भवः । तस्मात् तदेवानुमानविषयः । तस्मिन् प्रक्रान्ते न विरुद्धाव्यभिचारिसम्भवः । प्रमाणसिद्धे हि त्रैरूप्ये प्रस्तुते स एव हेत्वाभासः सम्भवति यस्य प्रमाणसिद्धं रूपम् । न च बिरुद्धाव्यभिचारिणः प्रमाणसिद्धमस्ति रूपम् । अतो न सम्भवः । **ततोऽसम्भवान्नोक्तः** ॥ १११ ॥

कस्मादसम्भवः ? इत्याह—**नहीति** । यस्मान्न **सम्भवोऽस्ति विरुद्धतायाः** । **कार्यं च स्वभावश्च तयोरुक्तलक्षणयोरिति** ।

११३. न चान्योऽव्यभिचारी ॥

११४ तस्मादवस्तुदर्शनबलप्रवृत्तमागमाश्रयमनुमानमाश्रित्य तदर्थविचारेषु विरुद्धाव्यभिचारी साधनदोष उक्तः ॥

[न्या०] हेतोर्लक्षणम् । उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिरनुपलब्धेर्लक्षणम् । विरुद्धश्चोक्तलक्षणत्रिशिष्टेषु न सम्भवति । तथा हि शिंशपया वृक्षसंसिद्धौ विजातीयवृक्षसाधनं यथोक्तलक्षणस्य द्वितीयस्यासम्भवः ॥ ११२ ॥

यद्युक्तलक्षणेषु त्रिषु असम्भवः, अस्तु तर्हि अपरत्र सम्भव इति चेत् ? तत्राह--न चेति । त्रिषु हेतुषु अनन्तर्भूतमव्यभिचारिहेत्वन्तरं नास्ति यस्मिन् विरुद्धाव्यभिचारिसम्भवः ॥ ११३ ॥

कस्मात्त्रिषु असम्भव इति चेद् ? आह—तस्मादिति ।

यत्र प्रतिबद्धेन प्रमाणेन न निर्णयस्तद् अवस्तुदर्शनबलप्रवृत्तमिति । आगमाश्रयमनुमानमाश्रित्येति । आगम आश्रयोऽस्येति आगमाश्रयम् । यत्र आगमद्वारेण धर्मिपक्षधर्मादिकमुपस्थाप्यते तद् आगमाश्रयमनुमानमिति । तदर्थविचारेष्विति ।

[ध०] कार्यस्य कारणाज्जन्मलक्षणं तत्त्वम् । स्वभावस्य च साध्यव्याप्तत्वं तत्त्वम् । यत् कार्यं यश्च स्वभावः, स कथमात्मकारणं व्यापकं च स्वभावं परित्यज्य भवेद्, येन विरुद्धः स्यात् । **अनुपलम्भस्य च उक्तलक्षणस्येति** । दृश्यानुपलम्भत्वं चानुपलम्भलक्षणम् । तस्यापि वस्त्वभावाव्यभिचारित्वान्न विरुद्धत्वसम्भवः ॥ ११२ ॥

स्यादेतत्, एतेभ्योऽन्यो भविष्यति ? इत्याह--**न चान्य** एतेभ्यो**ऽव्यभिचारी** त्रिभ्यः । अत एवैष्वेव हेतुत्वम् ॥ ११३ ॥

क्व तर्ह्या**चार्यदिङ्नागेनायं हेतुदोष** उक्तः ? इत्याह--तस्मादिति । यस्माद् वस्तुबलप्रवृत्तेऽनुमाने न सम्भवति **तस्माद्** आगमाश्रयान**ुमानमाश्रित्य विरुद्धाव्यभिचार्युक्तः** । आगमसिद्धं हि यस्यानुमानस्य लिङ्गत्रैरूप्यं तस्यागम आश्रयः ।

ननु चागमसिद्धमपि त्रैरूप्यं प्रमाणसिद्धम् ? इत्याह—**अवस्तुदर्शनबलप्रवृत्तमिति** । अवस्तुनो दर्शनं विकल्पमात्रम्, तस्य बलं सामर्थ्यम्, ततः प्रवृत्तम् अप्रमाणाद् विकल्पमात्राद् व्यवस्थितं त्रैरूप्यमागमसिद्धमनुमानस्य, न तु प्रमाणात् ।

तत् तर्ह्यनुमानमागमसिद्धत्रैरूप्यं क्वाधिकृतम् ? इत्याह--**तदर्थेति** । तस्य आगमस्य योऽर्थोऽतीन्द्रियः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामविषयीकृतः सामान्या

११५ शास्त्रकाराणामर्थेषु भ्रान्त्या विपरीतस्वभावोपसंहारसम्भवात् ॥
११६ न ह्यस्य सम्भवो यथावस्थितवस्तुस्थितिष्वात्मकार्यानुपलम्भेषु ॥
११७. तत्रोदाहरणम्—यत् सर्वदेशस्थितैः स्वसम्बन्धिभिर्युगपदभिसम्बध्यते तत् सर्वगतम् यथाऽऽकाशम् । अभिसम्बध्यते च सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धिभिर्युगपत् सामान्यमिति ॥

[न्या०] आगमार्थविचारेषु । विरुद्धाव्यभिचारी साधनदोष उक्त इति । सुगमम् ॥ ११४ ॥

यद्ययमयोग्य एव, तर्हि आगमाश्रयानुमानेऽपि तस्य कथं सम्भव इति चेद् ? आह—शास्त्रेति ।

सर्वैश्च शास्त्रकारैस्तद्दर्शनानुत्पन्ना अपि केचन अर्थाः स्वभावविपर्ययेणाभिहिता भवन्ति । ततस्तया विरुद्धाव्यभिचारी भवति ॥ ११५ ॥

यदि तस्यागमप्रतिबद्धानुमाने सत्त्वमेवेष्यते, तर्हि वस्तुबलेन प्रवृत्तिरपि कस्मान्नेष्यते इति चेत् ? तत्राह—न हीति ।

यथा वस्तुनोऽवस्थितिस्तथैव स्थितिर्येषां ते यथावस्थितवस्तुस्थितयः । स्थितिः=व्यवस्था । आत्मा च कार्यं चानुपलम्भश्चेति विग्रहः । आत्मा स्वभावो नाम । यथा सदर्थे वस्तुव्यवस्था, तथा स्वभाव-कार्य-अनुपलम्भहेतवस्ते व्यवस्थिताः; तेषु विरुद्धाव्यभिचारिणः कुतः सम्भवः ! ॥ ११६ ॥

तत्रोदाहरणमिति । आगमाश्रितप्रमाणोपदर्शनम् । यत् सर्वदेशावस्थितैः

[ध०] दिस्तस्य **विचारेषु** प्रक्रान्तेषु **आगमाश्रयमनुमानं** सम्भवति । तदाश्रयो विरुद्धाव्यभिचार्युक्त आचार्येणेति ॥ ११४ ॥

कस्मात् पुनरागमाश्रयेऽप्यनुमाने सम्भवः ? इत्याह--**शास्त्रकाराणा**मिति । शास्त्रकृताम् । **विपरीतस्य** वस्तुविरुद्धस्य **स्वभावस्य उपसंहारो** ढौकनमर्थेषु, तस्य सम्भवाद् विरुद्धाव्यभिचारिसम्भवः । **भ्रान्त्येति** । विपर्यासेन । विपर्यस्ता हि शास्त्रकाराः सन्तमसन्तं स्वभावमारोपयन्तीति ॥ ११५ ॥

यदि शास्त्रकृतोऽपि भ्रान्ताः, पुनरन्येष्वपि पुरुषेषु क आश्वासः ? इत्याह-- **न हीति** । न हेतुषु कल्पनया हेतुत्वव्यवस्था, अपि तु वस्तुस्थित्या । ततो **यथावस्थितवस्तुस्थितिष्वात्मकार्यानुपलम्भेष्वस्य सम्भवो** नास्ति ।

अवस्थितं परमार्थसद्वस्तु तदनतिक्रान्ता यथावस्थिता वस्तुस्थितिः= व्यवस्था येषां ते यथावस्थिदवस्तुस्थितयः । ते हि यथा वस्तु स्थितं तथा स्थिताः, न कल्पनया । ततस्तेषु न भ्रान्तेरवकाशोऽस्ति, येन विरुद्धाव्यभिचारि सम्भवः स्यात् ॥ ११६ ॥

११८. तत्सम्बन्धस्वभावमात्रानुबन्धिनी तद्देशसन्निहितस्वभावता ॥

[न्या०] स्वसम्बन्धिभियुंपगपदभिसम्बद्धयते तत् सर्वगतमिति। सर्वस्मिन् देशेऽवस्थिताः सर्वदेशावस्थिताः। त एव स्वस्य च सम्बन्धिनः स्वसम्तन्धिनः। यदपि वस्तु सर्वदेशावस्थितस्वसम्बन्धिभियुंगपदभिसम्बध्यते तत् सर्वगतमेव दृष्टम्। यथा आकाशमिति। आकाशं हि सर्वदेशावस्थितस्वसम्बन्धिभियुंगपदभिसम्बध्यते तच्च सर्वगतमेवेष्टम्। एतद्वचनेनान्वयो दर्शितः।

सामान्यमपि सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धिभियुंगपदभिसम्बध्यते इति। सामान्यस्य सम्बन्धिनो हि व्यक्तिविशेषाः सर्वेषु विद्यमानाः। तैश्च सामान्यं युगपदभिसम्बद्धयते। अनेन पक्षधर्म उक्तः॥ ११७॥

स्वभावहेतुलणत्वं प्रयोगस्य दर्शयितुमाह—तत्सम्बन्धीति।

तस्य सम्बन्धिनः तत्सम्बन्धिनः। तत्सम्बन्धिनां स्वभावमात्रमनुबन्धुं शीलं यस्या सा तत्सम्बन्धिस्वभावमात्रानुबन्धिनी। तेषां सम्बन्धिनां देशास्तद्देशाः। तद्देशे सन्निहितस्तद्देशसन्निहितः। तद्देशन्निहितः स्वभावो यस्य स तद्देशसन्निहितस्वमावः। तस्य भावः तद्देशसन्निहितस्वभावता। सम्बन्धिदेशे उपस्थितिरिति शेषः॥ ११८॥

[ध०]तत्र विरुद्धाव्यभिचायुंदाहरणम्—यदिति। **यत् सर्वस्मिन् देशेऽवस्थितैः स्वसम्बन्धिभियुंगपदभिसम्बद्धयते** इति सर्वदेशावस्थितैरभिसम्बध्यमानत्वं सामान्यस्य अनूदय सर्वगतत्वं विधीयते। तेन युगपदभिसम्बध्यमानत्वं सर्वगतत्वे नियतं तेन व्याप्तं कथ्यते।

इह सामान्यं **कणाद**महर्षिणा निष्क्रियं दृश्यमेकं चोक्तम्। युगपच्च सर्वैः स्वैः सम्बन्धिभिः समवायेन सम्बद्धम्। तत्र **पैलुकेन** कणादशिष्येण व्यक्तिषु व्यक्तिरहितेषु च देशेषु सामान्यं स्थितं साधयितुं प्रमाणमिदमुपन्यस्तम्। **यथा आकाशमिति**। व्याप्तिप्रदर्शनविषयो दृष्टान्तः। आकाशमपि हि सर्वदेशावस्थितैर्वृक्षादिभिः स्वसंयोगिभियुंगपदभिसम्बध्यमानं सर्वगतं च। **अभिसम्बध्यते च सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धिभिरिति**। हेतोः पक्षधर्मत्वप्रदर्शनम्॥ ११७॥

अस्य स्वभावहेतुत्वं योजयितुमाह--**तत्सम्बन्धीति**। तेषां सर्वदेशावस्थितानां द्रव्याणां **सम्बन्धी** सामान्यस्य स्वभावः स एव **तत्सम्बन्धिस्वभावमात्रम्**, तदनुबध्नातीति **तदनुबन्धिनी**।

कासौ ? इत्याह--**तद्देशसन्निहितस्वभावता**। तेषां सम्बन्धिनां देशः तद्देशः। तद्देशे सन्निहितः स्वभावो यस्य तत् तद्देशसन्निहितस्व-

११९. न हि यो यत्र नास्ति स तद्देशमात्मना व्याप्नोतीति स्वभावहेतु-प्रयोग इति।

१२०. द्वितीयोऽपि प्रयोगः—यदुपलब्धिलक्षप्राप्तं सन्नोपलभ्यते न तत् तत्रास्ति। तदयथा—क्वचिदविदयमानो घटः। नोपलभ्यते चोपलब्धिलक्षणप्राप्तं सामान्यं व्यक्त्यन्तरालेष्विति। अयमनुपलम्भः स्वभावश्च परस्परविरुद्धासाधनादेकत्र संशयं जनयतः॥

[न्या०] 'सर्वगतत्वेनैव हि सम्बन्धिनो व्याप्यन्ते' इत्येतच्च कस्मादिति चेत्? आह—य इति।

यश्च यत्र नास्ति तस्य तद्देशव्यापन्नं कथं शक्यम्? तद्देश इति। स देशो यस्य स तद्देश इति यस्मिन् देशे स नास्ति तद्देशसम्बन्धिनं स न शक्नोति व्यापयितुमिति शेषः। स्वभावहेतुप्रयोग इति। सुगमम्॥ ११९॥

अथ काणादैः कैश्चित् सामान्यस्य सर्वगतत्वमुक्तम्, अपरैश्च काणादैः सामा-

[ध०] भावम्, तस्य हि येषां सम्बन्धी स्वभावः, तन्नियमेन तेषां देशे सन्निहितं भवति। ततस्तत्सम्बन्धित्वानुबन्धिनी तद्देशसन्निहिता सामान्यस्य॥ ११८॥

ननु च गवां सम्बन्धी स्वामी, न च गोदेशे सन्निहितस्वभावः, तत् कथं तत्सम्बन्धित्वात् तद्देशत्वम्? इत्याह—**न हीति**। यो यत्र देशे नास्ति स देशो यस्य स तद्देशः तं न व्याप्नोतीत्यात्मना स्वरूपेण।

इह सामान्यस्य तद्वतां च समवायलक्षणः सम्बन्धः, स चाभिन्नदेशयोरेव। तेन यत्र यत् समवेतं तत् तदात्मीयेन रूपेण क्रोडीकुर्वत् समवायिरूप देशे स्वात्मानं निवेशयति।

तद्देशरूपनिवेशनमेव तत्क्रोडीकरणम्। ततस्तत्समवायः।

तस्माद् यत् तत्र समवेतं तत् तद् द्रव्यं व्याप्नुवदात्मना तद्देशे सन्निहितं भवति।

तदयमर्थः—तद्देशस्थवस्तुव्यापनं तद्देशसत्तया व्याप्तम्। तद्देशसत्ताभावे तद्व्यापनाभावात् व्यापनलक्षणः समवायसम्बन्धो न स्यात्। अस्ति च व्यापनम्। अतस्तद्देशे सन्निहितत्वमिति यदयं स्वभावहेतुः॥ ११९॥

पैठरप्रयोगं दर्शयन्नाह—**द्वितीयोऽपीति**। यदुपलब्धेर्लक्षणतां विषयतां प्राप्तं दृश्यमित्यर्थः। एतेन दृश्यानुपलब्धिमनूदय 'न तत् तत्रास्ति' इत्यसद्व्यवहार्यत्वं विहितम्। ततो व्याप्यदृश्यानुपलब्धेर्व्यापकमसद्व्यवहार्यत्वं दर्शितम्। **तदयथेति क्वचिदसन् घटो** दृष्टान्तः।

१२१. त्रिरूपो हेतुरुक्तः । तावता नार्थप्रतीतिरिति न पृथग्दृष्टान्तो नाम साधनावयवः कश्चित् । तेन नास्य लक्षणं पृथगुच्यते गतार्थत्वात् ।

[न्या०] न्यस्य केवलाश्रयसर्वगतत्वमेवाङ्गीकृतम्, तन्नयप्रदर्शनार्थमाह—द्वितीय इति । तच्च सुगमम् ।

यदुपलब्धीति । अत्रानुपलब्धेरन्वयः कथितः ।

व्यक्तेरन्तरालानि व्यक्त्यन्तरालानि व्यक्त्यन्तराणि । तेषु उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सामान्यं नोपलभ्यते । अनेन पक्षधर्म उक्तः । तद्वादिना च केवलाश्रयसर्वगतत्वमुक्तम् ॥ ११९ ॥

अव्यवहितोक्त्याऽनुपलब्ध्या सामान्यस्य केवलाश्रयसर्वगतत्वं साध्यते । प्राक्च स्वभावहेतुना सर्वसर्वगतत्वं साधितमिति द्वाभ्यां परस्परविरुद्धार्थसाधनात् किं व्यक्त्यन्तरालेषु सामान्यानुपलब्धेः केवलाश्रयसर्वगतत्वमेव सर्वदेशावस्थितस्वसम्बन्धिषु अनुबद्धत्वात् सर्वसर्वगतत्वमेव वेति अनुभवादेकस्मिन्नेव सामान्ये सन्देहो जायते । एवमियता परार्थानुमानं तत्स्वरूपैर्दर्शितम् ॥ १२० ॥

ननु दृष्टान्तलक्षणं कस्मान्नोक्तमिति चेत् ? तत्राह—त्रिरूप इति ।

पूर्वं हेतोर्लक्षणत्रयं यदुक्तं तेनैव रूपत्रयेण साध्यार्थसिद्धिर्भवति । तेन दृष्टान्तो नाम पृथक् साधनावयवो नास्ति । ततश्च तल्लक्षणं पृथग्नोक्तम् ।

[ध०] पक्षधर्मत्वं दर्शयितुमाह—**नोपलभ्यते** चेति । व्यक्त्यन्तरालं व्यक्त्यन्तरं च व्यक्तिशून्यं चाकाशम् । दृश्यमपि कस्याञ्चिद् व्यक्तौ गोसामान्यमश्वादिषु व्यक्त्यन्तरेषु व्यक्तिशून्ये चाकाशे नोपलभ्यते । तस्मान्न तेष्वस्तीति गम्यते ।

अयमनुपलम्भः पूर्वोक्तश्च स्वभावः परस्य विरुद्धौ यावर्थौ तयोः साधनात् तावेकस्मिन् धर्मिणि संशयं जनयतः । न ह्येकोऽर्थः परस्परविरुद्धस्वभावो भवितुमर्हति । एकेन चात्र व्यक्त्यन्तरेषु व्यक्तिशून्ये चाकाशे सत्त्वम् । अपरेण चानुपलम्भेन असत्त्वं साध्यते । न चैकस्यैकदैकत्र सत्त्वमसत्त्वं च युक्तम्; तयोर्विरोधात् । तदागमसिद्धस्य सामान्यस्य सर्वगतत्वासर्वगतत्वयोः साध्ययोरेतौ विरुद्धाव्यभिचारिणौ जातौ । यतः सामान्यस्यैकस्य युगपत् सर्वदेशावस्थितैरभिसम्बन्धित्वं चाभ्युपगतम्, दृश्यत्वं च; ततः सर्वसम्बन्धित्वात् सर्वगतत्वम्, दृश्यत्वादन्तरालादनुपलम्भादसर्वगतत्वम् । ततः शास्त्रकारेणैव विरुद्धव्याप्तत्वमपश्यता विरुद्धव्याप्तौ धर्मावुक्त्वा विरुद्धाव्यभिचार्यवकाशो दत्त इति । न च वस्तुन्यस्य सम्भवः ॥ १२० ॥

इत्युक्ता हेत्वाभासाः ॥

ननु च साधनावयवत्वाद् यथा हेतव उक्ताः, तत्प्रसङ्गेन च हेत्वा-

१२२. हेतोः सपक्ष एव सत्त्वमसपक्षाच्च सर्वतो व्यावृत्ती रूपमुक्तमभेदेन। पुनर्विशेषेण कार्यस्वभावयोरुक्तलक्षणयोर्जन्मतन्मात्रानुबन्धौ दर्शनीयावुक्तौ। तच्च दर्शयता—यत्र धूमस्तत्राग्निः, असत्यग्नौ न क्वचिद् धूमः, यथा महानसेतरयोः। यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वम्,

[न्या०] गतार्थत्वादिति हेत्वर्थेनैव दृष्टान्तार्थस्यावगमात्॥ १२१॥

कथमिति चेदाह—हेतोरिति।

प्रयोगमात्र एतदेव हेतोर्लक्षणम्—'सपक्ष एव सत्त्वम्' इत्येवंरूपम्। तथा '**सर्वस्माद्** विपक्षाद् व्यावृत्तिः' इत्येवंरूपं **च**।

विशेषेण **च** हेतोर्लक्षणम्—'कार्यहेतोर्जन्म प्रदर्शनीयम्' इत्युक्तम्, स्वभावहेतोस्तन्मात्रानुबन्धः कथनीय इत्युक्तम्।

सामान्यलक्षणं विशेषलक्षणं च दर्शयतेति शेषः।

कार्यहेतोर्हि स्वकीयक्षणं (विशेषलक्षणं) तथा सामान्यलक्षणं च योग्यम्। एवं च दर्शयता विशेषेण कथयता इत्यर्थः। तथाहि—अत्र सपक्षसत्त्वं प्रदर्शयता

[ध०]भासाः;तथा साधनावयत्वाद् दृष्टान्ता वक्तव्याः; तत्प्रसङ्गेन च दृष्टान्ताभासाः; तत् कथं नोक्ताः? इत्याह—**त्रिरूपो हेतुरुक्तः**, तत् किं दृष्टान्तैः?

स्यादेतत्, तावता नार्थप्रतीतिः? इत्याह—**तावता चेति**। उक्तलक्षणेनैव हेतुना भवति साध्यप्रतीतिः, अतः स एव गमकः, ततस्तद्वचनमेव गमकम्। न **दृष्टान्तो नाम साधनस्यावयवः**। यतश्चायं नावयवः, तेन नास्य दृष्टान्तस्य लक्षणं हेतुलक्षणात् पृथगुच्यते।

कथं तर्हि हेतोर्व्याप्तिनिश्चयः, यद्यदृष्टान्तको हेतुरिति चेद्? नोच्यते 'हेतुरदृष्टान्तक एव', अपि तु 'न हेतोः पृथग्दृष्टान्तो नाम। हेत्वन्तर्भूत एव दृष्टान्तः'। अत एवोक्तम्—**नास्य पृथग् लक्षणमुच्यते** इति। न त्वेवमुक्तम् 'नास्य लक्षणमुच्यते' इति।

यद्येवम्, हेतूपयोगिनोऽपि लक्षणं वक्तव्यमेव? इत्याह—**गतार्थत्वात्**। गतोऽर्थः प्रयोजनम्, अभिधेयं वा यस्य दृष्टान्तलक्षणस्य, तत् तथा। तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्मात्। दृष्टान्तलक्षणं ह्युच्यते दृष्टान्तप्रतीतिर्यथा स्यात्। दृष्टान्तश्च हेतुलक्षणादेवावसितः, ततो दृष्टान्तलक्षणस्य यत् प्रयोजनं दृष्टान्तप्रतीतिः, तद् गतम्=निष्पन्नम्। अभिधेयं वा गतम्=ज्ञातं दृष्टान्ताख्यम्॥ १२१॥

कथं गतार्थत्वम्? इत्याह—**हेतोः रूपमुक्तमभेदेन**। सामान्येन। साधारणं कार्य-स्वभाव-अनुपलम्भानामेतल्लक्षणमित्यर्थः। किं पुनस्तत्?

अनित्यत्वाभावे कृतकत्वासम्भवः, यथा घटाकाशयोरिति दर्शनीयम्। न ह्यन्यथा सपक्षविपक्षयोः सदसत्त्वे यथोक्तप्रकारे शक्ये दर्शयितुम्। तत्कार्यतानियमः कार्यलिङ्गस्य, स्वभावलिङ्गस्य च स्वभावेन

[न्या०] अवश्यं 'यथा महानसः' इत्यभिधेयम्। अन्यथा सपक्षसत्त्वमेव कथयितुं न शक्यते। तथैव व्यावृत्तिं कथयताऽप्यवश्यं 'यथा जलम्' इत्यभिधेयम्। अन्यथा व्यावृत्तिरेव नोक्ता स्यात्।

अनेन स्वभावहेतोः सामान्यलक्षणं विशेषलक्षणं च यथा वक्तव्यं तथा दर्श्यते। इह यदि 'यथा घटः' इति नोच्यते तदा सपक्षसत्त्वमेव कथयितुं न शक्यते। यदि 'यथा आकाशम्' इति नोच्यते, तदा व्यावृत्तिरपि कथयितुं न शक्यते। तन्मात्रानुबन्धोऽपि तथैव दर्शयितुं न शक्यम्। तथाहि यदि 'यत्र यत्र कृतकत्वं तत्र तत्रावश्यं नित्यत्वम्, यथा घटे इति निर्दिश्यते, तदा तन्मात्रानुबन्ध एवोक्तो भवति।

[ध०] सपक्ष एव यत् सत्त्वम्, विपक्षाच्च सर्वस्माद् व्यावृत्तिर्या—रूपद्वयमेतदभेदेनोक्तम्।

नच सामान्यमुक्तमपि शक्यं ज्ञातुम्, अतस्तदेव विशेषनिष्ठं वक्तव्यम्। अतः पुनरपि विशेषेण विशेषवन्तौ **जन्मतन्मात्रानुबन्धौ दर्शनीयावुक्तौ**। कार्यस्य जन्म ज्ञातव्यमुक्तम्। जन्मनि हि ज्ञाते कार्यस्य सपक्षे एव सत्त्वम्, विपक्षाच्च सर्वस्माद् व्यावृत्तिर्ज्ञाता भवति। स्वभावस्य तन्मात्रानुबन्धो दर्शनीय उक्तः। तदिति साधनम्। तदेव तन्मात्रम् = साधनमात्रम्। तस्यानुबन्धः = अनुगमनम्। साधनमात्रस्य भावे भावः साध्यस्य। तन्मात्रभावित्वमेव हि साध्यस्य तादात्म्यम्। साधनस्य यदा स्वभावो ज्ञातो भवति तदा स्वभावहेतोः--सपक्षे एव सत्त्वम्, विपक्षाच्च सर्वस्माद् व्यावृत्तिर्ज्ञाता भवति।

तदेवं सामान्यलक्षणं विशेषात्मकं ज्ञातव्यम्, नान्यथा। ततो विशेषलक्षणमुक्तम्।

किमतो यदि नामैवम्? इत्याह--**तच्चेति**। तच्च सामान्यलक्षणं दर्शयितुकामेन विशेषलक्षणं दर्शयता एव दर्शनीयम्--इति सम्बन्धः। **यत्र धूमस्तत्राग्निरिति**। कार्यहेतोर्व्याप्तिर्दर्शिता। व्याप्तिश्च कार्यकारणभावसाधनात् प्रमाणान्निश्चीयते। ततो **यथा महानस** इति दर्शनीयम्, असत्यग्नौ न भवत्येव धूम इति व्यतिरेको दर्शितः। स च यथेतरस्मिन्निति दर्शनीयः। वह्निनिवृत्तिर्हि धूमनिवृत्तौ नियता दर्शनीया। सा च महानसादितरत्रेति दर्शनीया।

व्याप्तिः। अस्मिश्चार्थे दर्शिते दर्शित एव दृष्टान्तो भवति। एतावन्मात्ररूपत्वात् तस्येति ॥

[न्या०] सपक्षसत्त्वं दर्शयता यदि 'यथा महानसः' 'यथा घटः' इति वा नोच्यते, तदा सपक्षसत्त्वमेवोक्तं न स्यात्। यदि च विपक्षासत्त्वं दर्शयता 'यथा जलम्' 'यथा आकाशम्' इति वा नोच्यते, तदा व्यावृत्तिरेव नोक्ता स्यात्।

एवं सामान्यलक्षणमुक्त्वा अशक्यत्वमुक्तम्। विशेषलक्षणेन अशक्यत्वकथनानन्तरमाह—तत्कार्यतेत्यादि।

तस्य कार्यं तत्कार्यम्, तस्य भावस्तत्कार्यता, तस्या नियमः तत्कार्यतानियमः। 'कारणसत्त्वे कार्यस्यापि सत्त्वम्' इत्येष नियम एव तत्कार्यतानियमः।

स्वरूपेण व्याप्तिरेव स्वभावेन व्याप्तिः। तन्मात्रानुबन्ध इति शेषः। तदुभयमपि दृष्टान्तमनुक्त्वा वक्तुं न शक्यते। यदा यथोक्तन्यायेन क्वचिद् धर्मिणि हेतुः सामान्यलक्षणतो विशेषलक्षणतश्चोच्यते, तदा दृष्टान्तोऽप्युक्त एव।

तच्च कस्मादिति चेद् ? आह--एतावदित्यादि।

[ध०] **यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वमि**ति स्वभावहेतोर्व्याप्तिर्दर्शिता। अनित्यत्वाभावे न भवत्येव कृतकत्वमिति व्यतिरेको दर्शितः। व्याप्तेश्च साधकं प्रमाणं साधर्म्यदृष्टान्ते दर्शनीयम्। प्रसिद्धव्याप्तिकस्य च हेतोः साध्यनिवृत्तौ निवृत्तिर्नियता दर्शनीया। तदवश्यं यथा घटे, यथा आकाशे चेति दर्शनीयम्।

कस्मादेवम् ? इत्याह--**न होति**। यस्मादन्यथा सामान्य-लक्षणरूपे **सपक्षविपक्षयोः सदसत्त्वे यथोक्तप्रकारे** इति नियते—सपक्षे एव सत्त्वम्, विपक्षेऽसत्त्वमेवेति नियमो यथोक्तप्रकारः। ते **न शक्ये दर्शयितुम्**। विशेषलक्षणे हि दर्शिते यथोक्तप्रकारे सदसत्त्वे दर्शिते भवतः। न च विशेषलक्षणमन्यथा शक्यं दर्शयितुम्।

तस्य साध्यस्य कार्यं धूमः, तस्य भावस्तत्कार्यता, सैव नियमो यतस्तत्कार्यताया धूमो दहने नियतः। सोऽयं तत्कार्यतानियमो विशेषलक्षणरूपोऽन्यथा दर्शयितुमशक्यः। **स्वभावलिङ्गस्य** च स्वभावेन साध्येन व्याप्तिविशेषलक्षणरूपा न शक्या दर्शयितुम्। यस्मात् कार्यकारणभावस्तादात्म्यं च महानसे घटे च ज्ञातव्यम्, तस्माद् व्याप्तिसाधनं प्रमाणं दर्शयता साधर्म्यदृष्टान्तो दर्शनीयः। वैधर्म्यदृष्टान्तस्तु प्रसिद्धे तत्कार्यत्वे कारणाभावे कार्याभावप्रतिपत्त्यर्थम्। तत एव नावश्यं वस्तु भवति। कारणाभावे कार्याभावो वस्तुन्यवस्तुनि वा भवति। ततो वस्त्ववस्तु वा वैधर्म्य-

१२३. एतेनैव दृष्टान्तदोषा अपि निरस्ता भवन्ति ॥

१२४. यथा नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात्, कर्मवत् परमाणुवद् घटवदिति। एते दृष्टान्ताभासाः साध्यसाधनधर्मोभयविकलाः ॥

[न्या०] तथाहि तस्य रूपमेतावन्मात्रमेव। यत्र साध्येन हेतोरन्वयो दृश्यते, स साधर्म्य-दृष्टान्तः। यत्र च साध्याभावे हेत्वभावो निर्दिश्यते स वैधर्म्यदृष्टान्तः ॥ १२२ ॥

यस्माद् यदा हेतोः सामान्यविशेषलक्षणयोर्निर्देशः क्रियते स निर्दुष्टदृष्टान्त इत्युच्यते तस्माद् यत्र तल्लक्षणयोर्निर्देशो न सम्भवति स दृष्टान्ताभासो भवतीत्युक्तं भवति ॥ १२३ ॥

उदाहरणान्याह—यथेति। साध्य-साधनधर्मोभयविकला इति। 'शब्दो नित्यः, अमूर्तत्वात् कर्मवत्' इति साध्यधर्मविकलः। 'परमाणुवत्' इति साधनधर्मविकलः। 'घटवत्' इत्युभयविकलः ॥ १२४ ॥

[ध०] दृष्टान्त इष्यते। तस्माद् दृष्टान्तमन्तरेण न हेतोरन्वयो व्यतिरेको वा शक्यो दर्शयितुम्। अतो हेतुरूपाख्यानादेव हेतोर्व्याप्तिसाधनस्य प्रमाणस्य दर्शकः साधर्म्यदृष्टान्तः।

प्रसिद्धव्याप्तिकस्य साध्याभावे हेत्वभावप्रदर्शनाद् वैधर्म्यदृष्टान्त उपादेय इति च दर्शितं भवति।

अस्मिंश्चार्थे दर्शिते एव दृष्टान्तो भवति। योऽयमर्थो व्याप्ति-प्रसाधनप्रमाणप्रदर्शनः कश्चिदुपादेयो निवृत्तिप्रदर्शनश्च—इत्यस्मिन्नर्थे दर्शिते दर्शितो दृष्टान्त इत्याह। **एतावन्मात्रं रूपं** यस्य, तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्मादिति। एतावदेव हि रूपं दृष्टान्तस्य, यदुत व्याप्तिसाधनप्रमाण-प्रदर्शकत्वं नाम साधर्म्यदृष्टान्तस्य, प्रसिद्धव्याप्तिकस्य च साध्यनिवृत्तौ साधननिवृत्तिप्रदर्शकत्वम्—इत्येतद् वैधर्म्यदृष्टान्तस्य। एतच्च हेतूपाख्या-नादेवाख्यातमिति किं दृष्टान्तलक्षणेन! ॥ १२२ ॥

एतेनैव च हेतुरूपाख्यानाद् दृष्टान्तत्वप्रदर्शनेन दृष्टान्तदोषा दृष्टान्त-भासाः कथिता भवन्ति। तथा हि—पूर्वोक्तसिद्धये य उपादीयमानोऽपि दृष्टान्तो न समर्थः स्वकार्यं साधयितुं स दृष्टान्तदोष इति सामर्थ्यादुक्तं भवति ॥ १२३ ॥

दृष्टान्ताभासानुदाहरति—**यथा नित्यः शब्द** इति। शब्दस्य नित्यत्वे साध्ये **अमूर्तत्वादिति** हेतुः। साधर्म्येण कर्मवत्, परमाणुवत्, घटवदित्येते दृष्टान्ता उपन्यस्ताः। एते च दृष्टान्तदोषाः। साध्यं च साधनं च

१२५. तथा सन्दिग्धसाध्यधर्मादयश्च । यथा--रागादिमानयं वचनाद् रथ्यापुरुषवत् । मरणधर्मायं पुरुषो रागादिमत्त्वाद् रथ्यापुरुषवत् । असर्वज्ञोऽयं (पुरुषो) रागादिमत्त्वाद् रथ्यापुरुषवदिति ।

१२६. तथाऽनन्वयोऽप्रदर्शितान्वयश्च । यथा--यो वक्ता स रागादिमान् इष्टपुरुषवत् । अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदिति ॥

[न्या०] सन्दिग्धः साध्यधर्मोऽस्मिन्निति विग्रहः । साध्यधर्म आदिर्येषां ते तथोक्ताः । उदाहरणान्याह—रागादिमानिति । अयं सन्दिग्धसाध्यधर्मः । मरणधर्मेति । अयं सन्दिग्धसाधनधर्मः । असर्वज्ञ इति । अयं सन्दिग्धोभयधर्मः ॥ १२५ ॥

अनन्वय इति । यत्रान्वयो नास्त्येव । अप्रदर्शितान्वय इति । यत्रान्वयो विद्यमानोऽपि न प्रदर्शितः ।

उदाहरणमाह—यथेति । तत्रान्वयो नास्ति । तेन तत्र वचनरागादयोर्व्याप्य-व्यापकभावः कार्य-कारणभावो वा नैव विद्यते ।

अनित्य इति । इहान्वयो विद्यमानोऽपि न प्रदर्शितः ॥ १२६ ॥

[ध०] उभयं चेति च तैर्विकलाः । १. साध्यविकलं कर्म, तस्यानियतत्वात् । २. साधनविकलः परमाणुः, मूर्तत्वात् परमाणूनाम् । असर्वगताद्रव्यपरिमाणम् =मूर्तिः । असर्वगताश्च द्रव्यरूपाश्च परमाणवः । नित्यास्तु वैशेषिकैरिष्यन्ते । ततो न साध्यविकलः । ३. घटस्तूभयविकलः, अनित्यत्वात् मूर्तत्वाच्च घटस्येति ॥ १२४ ॥

तथा सन्दिग्धः साध्यधर्मो यस्मिन् स सन्दिग्धसाध्यधर्मः । स आदिर्येषां ते तथोक्तः । सन्दिग्धसाध्यधर्मः, सन्दिग्धसाधनधर्मः, सन्दिग्धोभयः ।

उदाहरणम्—**रागादिमानिति** । रागादिमत्त्वं साध्यम् । **वचनादिति** हेतुः । **रथ्यापुरुषवदिति** दृष्टान्ते रागादिमत्त्वं सन्दिग्धम् । मरणे धर्मोऽस्येति मरणधर्मा, तस्य भावो मरणधर्मत्वं साध्यम् । अयं पुरुष इति धर्मी । रागादिमत्त्वादिति हेतुः । तदुभयमपि रथ्यापुरुषे दृष्टान्ते सन्दिग्धम्—असर्वज्ञत्वं रागादिमत्त्वं चेति ॥ १२५ ॥

तथाऽनन्वय इति । यस्मिन् दृष्टान्ते साध्यसाधनयोरसम्भवमात्रे दृश्यते, नतु साध्येन व्याप्तो हेतुः सोऽनन्वयः । अप्रदर्शितान्वयश्च—यस्मिन् दृष्टान्ते विद्यमानोऽप्यन्वयो न प्रदर्शितो वक्त्रा, सोऽप्रदर्शितान्वयः ।

अनन्वयमुदाहरति—**यथेति** । **यो वक्तेति** । वक्तृत्वमनूद्य स रागादिमानिति रागादिमत्त्वं विहितम् । ततो वक्तृत्वस्य रागादिमत्त्वे प्रतिनियमः ।

१२७. तथा विपरीतान्वयः--यदनित्यं तत् कृतकमिति ॥

[न्या०] विपरीतेति । अन्वयो विपरीतो यस्मिन् दृष्टान्ते इति विग्रहः ।

उदाहरणमाह– यदनित्यमिति । इह 'यत् कृतकं तदनित्यम्' इत्यभिधेये 'यदनित्यं तत्कृतकम्' इति विपरीताभिधानम् ॥ १२७ ॥

[ध०] तेन व्याप्तिरुक्ता । **इष्टपुरुषवदिति** । इष्टग्रहणेन प्रतिवाद्यपि संगृह्यते, वाद्यपि । तेन वक्तृत्वरागादिमत्त्वयोस्सत्त्वमात्रमिष्टे पुरुषे सिद्धम् । व्याप्तिस्तु न सिद्धा । तेनानन्वयो दृष्टान्त इति ।

अनित्यः शब्द इति । अनित्यत्वं साध्यम् । कृतकत्वादिति हेतुः । घटवदिति दृष्टान्ते न प्रदर्शितोऽन्वयः ।

इह यद्यपि कृतकत्वेन घटसदृशः शब्दः, तथापि नानित्यत्वेनापि सदृशः प्रत्येतुं शक्यते; अतिप्रसङ्गात् । यदि तु कृतकत्वमनित्यस्वभावं विज्ञातं भवति, एवं कृतकत्वादनित्यत्वप्रतीतिः स्यात् । तस्माद् 'यत् कृतकं तदनित्यम्' इति कृतकत्वमनित्यत्वे नियतमभिधाय नियमसाधनायान्वयवाक्यार्थप्रतिपत्तिविषयो दृष्टान्त उपादेयः । स च प्रदर्शितान्वय एव । अनेन त्वन्वयवाक्यमनुक्त्वैव दृष्टान्त उपात्तः । ईदृशश्च साधर्म्यमात्रेणैवोपयोगी, न च साधर्म्यात् साध्यसिद्धिरतोऽन्वयार्थो दृष्टान्तस्तदर्थश्चानेन नोपात्तः । साधर्म्यार्थश्चोपात्तो निरुपयोग इति वक्तृदोषादयं दृष्टान्तदोषः । वक्ता ह्यत्र परः प्रतिपादयितव्यः । ततो यदि नाम न दुष्टं वस्तु, तथापि वक्त्रा दुष्टं दर्शिततमिति दुष्टमेव ॥ १२६ ॥

तथा **विपरीतोऽन्वयो** यस्मिन् दृष्टान्ते स तथोक्तः । तमेवोदाहरति— **यदनित्यं तत् कृतकमिति** । कृतकत्वमनित्यत्वनियतं दृष्टान्ते दर्शनीयम् । एवं कृतकत्वादनित्यावगतिः स्यात् । अत्र त्वनित्यत्वं कृतकत्वे नियतं दर्शितम् । कृतकत्वं त्वनियतमेवानित्यत्वे । ततो यादृशमिह कृतकत्वमनियतमनित्यत्वे दर्शितम्, तादृशान्नास्त्यनित्यत्वप्रतीतिः । तथाहि—यदनित्यमित्यनित्यत्वमनूद्य तत् कृतकमिति कृतकत्वं विहितम् । अतोऽनित्यत्वं नियतमुक्तं कृतकत्वे, न तु कृतकत्वमनित्यत्वे । ततो यथाऽनित्यत्वादनियतात् प्रयत्नानन्तरीयकत्वे न प्रयत्नानन्तरीयकत्वप्रतीतिः, तद्वत् कृतकत्वादनित्यत्वप्रतिपत्तिर्न स्यात्, अनित्यत्वेऽनियतत्वात् कृतकत्वस्य ।

यद्यपि च कृतकत्वं वस्तुस्थित्याऽनित्यत्वे नियतम्, तथाप्यनियतं वक्त्रा दर्शितम् । अतः स्वयमदुष्टमपि वक्तृदोषाद् दुष्टम् ।

तस्माद् विपरीतान्वयोऽपि वक्तुरपराधात्, न वस्तुनः । परार्थानुमाने च वक्तुरपि दोषश्चिन्त्यते इति ॥ १२७ ॥

१२८. साधर्म्येण दृष्टान्तदोषाः ।।

१२९. वैधर्म्येणापि--परमाणुवत् कर्मवद् आकाशवदिति साध्याद्यव्यतिरेकिणः ।।

१३०. तथा सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेकादयः। यथा असर्वज्ञाः कपिलादयोऽनाप्ता वा अविद्यमानसर्वज्ञताऽऽप्ततालिङ्गभूतप्रमाणातिशयशासन-

एते सर्वे साधर्म्यदृष्टान्ताभासाः ॥१२८ ॥

[न्या०] वैधर्म्यदृष्टान्ताभासा उच्यन्ते ।

साध्यमादिर्येषां तानि साध्यादीनि, तेषामव्यतिरेकः साध्याद्यव्यतिरेकः । ते च यत्र सन्ति ते साध्याद्यव्यतिरेकिणः । तत्र परमाणुवदिति साध्याव्यतिरेकी । नित्यत्वात् परमाणूनां साध्याद्यव्यतिरेकः । कर्मवदिति साधनाव्यतिरेकी । अमूर्तत्वात् कर्मणां साधनाव्यतिरेकः । आकाशवदिति उभयाव्यतिरेकी । आकाशस्य चोभयाव्यतिरेकः ॥ १२९ ॥

सन्दिग्धेति । साध्यस्य व्यतिरेकः सन्दिग्धो यस्मिन्निति विग्रहः । सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेक आदिर्येषामिति विग्रहः । उदाहरणान्याह—यथेति । प्रतिज्ञाद्वयमुपन्यस्तम् ।

[ध०] **साधर्म्येण** नव दृष्टान्तदोषा उक्ताः ॥ १२८ ॥

वैधर्म्येणापि दृष्टान्तदोषान् वक्तुमाह—**वैधर्म्येणापीति** । नित्यत्वे शब्दस्य साध्ये हेतावमूर्तत्वे परमाणुवैधर्म्ये दृष्टान्तः साध्याव्यतिरेकी; नित्यत्वात् परमाणूनाम् । कर्म साधनाव्यतिरेकि । अमूर्तत्वात् कर्मणः । आकाशमुभयाव्यतिरेकि; नित्यत्वाद्, अमूर्तत्वाच्च । साध्यमादिर्येषां तानि साध्यादीनि साध्यसाधनोभयानि । तेषामव्यतिरेको निवृत्त्यभावः । स येषामस्ति ते **साध्याद्यव्यतिरेकिणः** । ते चोदाहृताः ॥ १२९ ॥

अपरानुदाहर्तुमाह—**तथेति** । साध्यस्य व्यतिरेकः साध्यव्यतिरेकः । सन्दिग्धः साध्यव्यतिरेको यस्मिन् स **सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेकः**, स आदिर्येषां ते तथोक्ताः ।

सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेकमुदाहर्तुमाह — **यथेति** । **असर्वज्ञा** इत्येकं साध्यम्, **अनाप्ता** अक्षीणदोषा इति द्वितीयम् । **कपिलादय** इति धर्मी । **अविद्यमानसर्वज्ञते**त्यादिहेतुः । **आप्तता** च तयोर्लिङ्गभूतः **प्रमाणातिशयो** लिङ्गात्मकः प्रमाणविशेषोऽविद्यमानः **सर्वज्ञताप्ततालिङ्गभूतः प्रमाणातिशयो** यस्मिन् तथोक्तं **शासनम्** । तादृशं शासनं तेषां ते तथोक्ताः । तेषां भावस्तत्त्वम् । तस्मात् प्रमाणातिशयो ज्योतिर्ज्ञानोपदेश इहाभिप्रेतः । यदि

त्वादिति । अत्र वैधर्म्योदाहरणम्--यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् । यथा ऋषभवर्धमानादिरिति । तत्रासर्वज्ञतानाप्ततयोः साध्यधर्मयोः सन्दिग्धो व्यतिरेकः ।।

१३१. सन्दिग्धसाधनव्यतिरेको यथा--न त्रयीविदा ब्राह्मणेन ग्राह्यवचनः कश्चिद् विवक्षितः पुरुषो रागादिमत्त्वादिति । अत्र वैधर्म्योदाह-

[न्या०] सर्वज्ञत्वं च वीतरागत्वं सर्वज्ञत्ववीतरागत्वे, तयोर्लिङ्गभूतं प्रमाणातिशयशासनमविद्यमानं येषु ते अविद्यमानसर्वज्ञत्ववीतरागत्वलिङ्गभूतप्रमाणातिशयशासनाः, तेषां भावस्तत्त्वम् । तस्माद् अविद्यमानसर्वज्ञत्ववीतरागत्वलिङ्गभूतप्रमाणातिशयशासनत्वात् । परीक्ष्यते इत्युपरितः सम्बन्धः ।

ज्योतिर्ज्ञानम् = नक्षत्रविपरीक्षणमिति हेतुः । तच्च सर्वज्ञत्व-वीतरागत्वलिङ्गभूतमृषभ-वर्धमानादिभिरनुशिष्टम् । तस्मात् ते सर्वज्ञा वीतरागा वेति निश्चेतुं शक्यत इति ।

अत्र ऋषभमहावीरादिर्वैधर्म्यदृष्टान्त उक्तः, तेषु च असर्वज्ञत्वावीतरागत्वयोर्व्यतिरेकनिश्चयो नास्ति ॥ १३० ॥

सन्दिग्धेत्यादि । तदर्थस्तु गत एव । उदाहरणम्—यथेति ।

[ध०] हि कपिलादयः सर्वज्ञा आप्ता वा स्युः, तदा ज्योतिर्ज्ञानादिकं कस्मान्नोपदिष्टवन्तः ? न चोपदिष्टवन्तः, तस्मान्न सर्वज्ञा आप्ता वा ।

अत्र प्रमाणे । **वैधर्म्योदाहरणम्--यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञाना**दिकं सर्वज्ञताप्ततालिङ्गभूतमुपदिष्टवान् । **यथा ऋषभो** वर्धमानश्च तावादी यस्य स **ऋषभवर्धमानादि**र्दिगम्बराणां शास्ता सर्वज्ञश्च आप्तश्चेति । तदिह वैधर्म्योदाहरणम् ऋषभादेरसर्वज्ञत्वस्यानाप्ततायाश्च व्यतिरेको व्यावृत्तिः सन्दिग्धा । यतो ज्योतिर्ज्ञानं चोपदिशेत्, असर्वज्ञश्च भवेद् अनाप्तो वा । कोऽत्र विरोधः ? नैमित्तिकमेतज्ज्ञानं व्यभिचारि न सर्वज्ञत्वमनुमापयेत् ॥ १३० ॥

सन्दिग्धः साधनव्यतिरेको यस्मिन् स तथोक्तः ? तमुदाहरति—**यथेति** । ऋक्सामयजूंषि त्रीणि = त्रयी, तां वेत्तीति त्रयीवित् । तेन न ग्राह्यं वचनं यस्येति साध्यम् । **विवक्षित** इति । कपिलादिर्धर्मी । **रागादिमत्त्वादिति** हेतुः ।

अत्र प्रमाणे **वैधर्म्योदाहरणम्**—साध्याभावः साधनाभावेन यत्र व्याप्तो दर्श्यते तद् वैधर्म्योदाहरणम् । ग्राह्यं वचनं येषां ते **ग्राह्यवचना** इति साध्यनिवृत्तिमनूद्य न ते रागादिमन्त इति साधनाभावो विहितः । **गौतम**

रणम्—ये ग्राह्यवचना न ते रागादिमन्तः, तद्यथा गौतमादयो धर्मशास्त्राणां प्रणेतार इति । गौतमादिभ्यो रागादिमत्त्वस्य साधनधर्मस्य व्यावृत्तिः सन्दिग्धा ॥

१३२. सन्दिग्धोभयव्यतिरेको यथा--अवीतरागाः कपिलादयः, परिग्रहाग्रहयोगादिति । अत्र वैधर्म्येणोदाहरणम्--यो वीतरागो न तस्य परिग्रहाग्रहः, यथर्षभादेरिति । ऋषभादेरवीतरागत्वपरिग्रहाग्रहयोगयोः साध्यसाधनधर्मयोः सन्दिग्धो व्यतिरेकः ॥

[न्या०] ऋग्वेदः, यजुर्वेदः, सामवेदश्चेति त्रयो वेदाः । त एव त्रयी-शब्देनोच्यन्ते । **त्रयीं** वेत्तीति त्रयीवित् । ग्राह्यं वचनमस्येति ग्राह्यवचनः । प्रामाण्यचन इति शेषः । तेनैतदुक्तं भवति—त्रयीविद् यो ब्राह्मणस्तदभिमतपुरुषवचनं नित्यप्रमाणं नास्तीति ।

अत्रेति । तदर्थस्तु गत एव । ये हि ग्राह्यवचना न ते रागादिमन्तः ।

तद्यथेति । गौतम-व्यासमुनिप्रभृतिभिर्यानि धर्मशास्त्राणि प्रणीतानि, तानि हि त्रयीविदां प्रामाण्यवचनानि ।

तेभ्यो हि रागादिमत्त्वस्य व्यावृत्तेर्निश्चयो नास्ति ॥ १३१ ।

सन्दिग्ध उभयोर्व्यतिरेको यस्मिन्निति समासः । उदाहरणम्—यथेति ।

परिग्रहः= द्रव्यस्य स्वीकरणम् । आग्रहः=स्वीकारादूर्ध्वमासक्तिः । परिग्रहश्चाग्रहश्चेति परिग्रहाग्रहौ । ताभ्यां योग इत्यर्थः ।

[ध०] आदिर्येषां ते तथोक्ता मन्वादयो **धर्मशास्त्राणि**=स्मृतयस्तेषां **कर्तारः** । त्रयीविदा हि ब्राह्मणेन ग्राह्यवचना धर्मशास्त्रकृतो वीतरागाश्च त इतीह धर्मी व्यतिरेकविषयो गौतमादय इति । गौतमादिभ्यो रागादिमत्त्वस्य साधनस्य निवृत्तिः सन्दिग्धा । यद्यपि ते ग्राह्यवचनास्त्रयीविदा, तथापि किं सरागा उत वीतरागाः ? इति सन्देहः ॥ १३१ ॥

सन्दिग्ध उभयोर्व्यतिरेको यस्मिन् स तथोक्तः । तमुदाहरति —**तथेति** । अवीतरागा इति । रागादिमत्त्वं साध्यम् । **कपिलादय** इति धर्मी । **परिग्रहो** लभ्यमानस्य स्वीकारः प्रथमः । स्वीकारादूर्ध्वं यद् गार्ध्यं मात्सर्यं स **आग्रहः** । परिग्रहश्च आग्रहश्च ताभ्यां योगात् कपिलादयो लभ्यमानं स्वीकुर्वन्ति स्वीकृतं न मुञ्चन्ति– इति ते रागादिमन्तो गम्यन्ते । **अत्र** प्रमाणे **वैधर्म्योदाहरणम्**—यत्र साध्याभाव साधनाभावो दर्शयितव्यः । **यो वीतराग** इति । साध्याभावमनूद्य **न तस्य परिग्रहाग्रहा**विति साधनाभावो विहितः । **यथर्षभादेरि**ति दृष्टान्तः । एतस्माद् ऋषभादेर्दृष्टान्ताद् अवीतरागत्वस्य साध्यपरिग्रहाग्रहयोगस्य च साधनस्य निवृत्तिः सन्दिग्धा । ऋषभादीनां हि परि-

१३३. **अव्यतिरेको यथा--अवीतरागोऽयं वक्तृत्वात्। वैधर्म्येणोदाहरणम्--यत्रावीतरागत्वं नास्ति, न स वक्ता। यथा उपलखण्ड इति। यद्यप्युपलखण्डादुभयं व्यावृत्तं तथापि सर्वो वीतरागो न वक्तेति व्याप्त्या व्यतिरेकासिद्धेरव्यतिरेकः॥**

१३४. **अप्रदर्शितव्यतिरेको यथा--'अनित्य शब्दः, कृतकत्वादाकाशवत्' इति वैधर्म्येण॥**

[न्या०] ऋषभादयो हि स्वल्पमात्रमपि व्यञ्जनं न परिगृह्णन्ति। तस्मात् तेषां परिग्रहो नास्ति। परिग्रहाभावेन चाग्रहाभावः, तेन च वीतरागाः।

अवीतरागो रागादिमानित्यर्थः। परिग्रहश्च मनसा स्वीकरणम्। आग्रहश्च तृष्णा। ते च सर्वे मानसत्वात् इन्द्रियगोचरा न भवन्ति। तस्मात् ऋषभादिभ्यो व्यावृत्तिरेवेति निश्चेतुं न शक्यते॥ १३२॥

अव्यतिरेक इति। अविद्यमानो व्यतिरेकोऽस्मिन्निति विग्रहः। यथेति। तदर्थस्तु गत एव। वैधर्म्येति। वैधर्म्ये दृष्टान्तोऽयम्।

यद्यपि उपलखण्डस्याचेतनत्वाद्रागादिमत्त्वं वक्तृत्वं वा नैव, तथापि सर्वो वीतरागो न वक्तेति व्याप्तिरसिद्धा। रागवत्त्ववक्तृत्वयोः सम्बन्धाभावाद् रागवत्त्वव्यावृत्तौ वक्तृत्वविनिवृत्तिर्न भवति। तस्मादत्र वस्तुनो व्यतिरेको नास्ति॥ १३३॥

अप्रदर्शित इति। यत्र व्यतिरेको वर्तमानोऽपि नोच्यते।

[ध०] ग्रहाग्रहयोर्गोऽपि सन्दिग्धः वीतरागत्वं च। यदि नाम तत्सिद्धान्ते वीतरागाश्च निष्परिग्रहाश्च पठ्यन्ते, तथापि सन्देह एव॥ १३२॥

अपरानपि त्रीनुदाहर्तुमाह—**अव्यतिरेक** इति। अविद्यमानो व्यतिरेको यस्मिन् सोऽव्यतिरेकः। **अवीतराग** इति। रागादिमत्त्वं साध्यम्। वक्तृत्वादिति हेतुः। इति व्यतिरेकमाह—**यत्रावीतरागत्वं नास्तीति**। साध्याभावानुवादः। तत्र वक्तृत्वमपि नास्तीति **साधनाभावविधिः**। तेन साधनाभावेन साध्याभावो व्याप्त उक्तः। दृष्टान्तो **यथोपलखण्ड** इति।

कथमयमव्यतिरेको यावतोपलखण्डाद् उभयं निवृत्तम्? किमतः? यद्यपि **उपलखण्डादुभयं व्यावृत्तम्**—सरागत्वं वीतरागत्वं च; तथापि **व्याप्त्या व्यतिरेको** यस्तस्यासिद्धेः कारणादव्यतिरेकोऽयम्।

कीदृशी पुनर्व्याप्तिः? इत्याह-**सर्वो वीतराग** इति। साध्याभावानुवादः। **न वक्तेति** साधनाभावविधिः। तेन साध्याभावः साधनाभावनियतः व्यापितो भवति। ईदृशी व्याप्तिः। तया व्यतिरेको न सिद्धः। अस्य चार्थस्य असिद्धये दृष्टान्तः। तत् स्वीकार्याकरणाद् दुष्टः॥ १३३॥

१३५. विपरीतव्यतिरेको यथा– यदकृतकं तन्नित्यं भवतीति ।

[न्या०] उदाहरणमाह—शब्दोऽनित्य इति ।

केनचिद् वैधर्म्यदृष्टान्तत्वेन 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्, आकाशवत्' इत्युक्ते, तत्र व्यतिरेको विद्यमानोऽप्यनुक्त एव भवति । तथाहि – यदि 'ये ये च पदार्था नित्याः ते सर्वे एवाकृतकाः' इत्युच्यते, तदा व्यतिरेको दर्शितो भवति । न तु दृष्टान्तमात्रेण ॥ १३४ ॥

[ध०] **अप्रदर्शितो व्यतिरेको** यस्मिन् स तथोक्तः । अनित्यः शब्द इति । अनित्यत्वं साध्यम् । **कृतकत्वादि**ति हेतु । **आकाशवदि**ति वैधर्म्येण दृष्टान्तः ।

इह परार्थानुमाने परस्मादर्थः प्रतिपत्तव्यः । स शुद्धोऽपि स्वतो यदि परेणाशुद्धः ख्याप्यते स तावद् यथा प्रकाशितस्तथा न युक्तः । यथा युक्तस्तथा न प्रकाशितः । प्रकाशितश्च हेतुः । अतो वक्तुरपराधादपि परार्थानुमाने हेतुर्दृष्टान्तो वा दुष्टः स्यादपि । न च सादृश्यादसादृश्याद्वा साध्यप्रतिपत्तिः, अपितु साध्यनियताद्धेतोः । अतः साध्यनियतो हेतुरन्वयवाक्येन, व्यतिरेकवाक्येन वा वक्तव्यः । अन्यथा गमको नोक्तः स्यात् । स तथोक्तो दृष्टान्तेन सिद्धो दर्शयितव्यः । तस्माद् दृष्टान्तो नामान्वयव्यतिरेकवाक्यार्थप्रदर्शनः । न चेह व्यतिरेकवाक्यं प्रयुक्तम्, अतो वैधर्म्यदृष्टान्त इहासादृश्यमात्रेण साधक उपन्यस्तः । न च तथा साधकः । व्यतिरेकविषयत्वेन स साधकः । न च तथोपन्यस्त इति अयम**प्रदर्शितव्यतिरेको** वक्तुरपराधाद् दुष्टः ॥ १३४ ॥

विपरीतो व्यतिरेको यस्मिन् वैधर्म्यदृष्टान्ते स तथोक्तः । तमुदाहरति—**यथा यदकृतकमित्यादि** । इह अन्वयव्यतिरेकाभ्यां साध्यनियतो हेतुर्दर्शयितव्यः, यदा च साध्यनियतो हेतुर्दर्शयितव्यः, तदा व्यतिरेकवाक्ये साध्याभावः साधनाभावे नियतो दर्शयितव्यः । एवं हि हेतुः साध्यनियतो दर्शितः स्यात् । यदि तु साध्याभावः साधनाभावे नियतो नाख्यायते, साधनसत्तायामपि साध्याभावः सम्भाव्येत । तथा च साधनं साध्यनियतं न प्रतीयेत । तस्मात् साध्याभावः साध्याभावे नियतो वक्तव्यः । विपरीतव्यतिरेके च साध्याभावः साध्याभावे नियत उच्यते, न साध्याभावः साधनाभावे । तथा हि–**यदकृतक**मिति । साधनाभावमनूद्य । **तन्नित्यमि**ति साध्याभावविधिः ।

ततोऽयमर्थः—अकृतको नित्य एव । तथा च सति अकृतकत्वं नित्यत्वे साध्याभावे नियतमुक्तम्, न नित्यत्वं साधनाभावे । ततो न साध्यनियतं

१३६. न ह्येभिर्दृष्टान्ताभासैर्हेतोः सामान्यलक्षणं सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षे च सर्वत्रासत्त्वमेव निश्चयेन शक्यं दर्शयितुं विशेषलक्षणं वा। तदर्थापत्त्यैषां निरासो द्रष्टव्यः ॥

१३७. दूषणा न्यूनताद्युक्तिः ॥

[न्या०] विपरीतो व्यतिरेकोऽस्मिन्निति विग्रहः। उदाहरणमाह—यथेति। इह 'यन्नित्यं तदकृतकम्' इत्यभिधेये तद्विपरीतमुक्तम् ॥ १३५ ॥

तैश्च दृष्टान्ताभासैर्हेतोर्यच्च सामान्यलक्षणं तदपि विशेषलक्षणं तच्च न शक्यते दर्शयितुम्। तत एव ते दृष्टान्ताभासा इति दृष्टान्ताभासाः।

यस्माद् द्विविधमपि हेतोर्लक्षणं दर्शयितुं न शक्यते, तस्मादर्थापत्त्या तेषां निरासो द्रष्टव्यः। इयता सम्यग्ज्ञानं तत्स्वरूपैर्व्याख्यातम् ॥ १३६ ॥

इदानीं तत्सहायकाभिधानमनुज्ञातुमाह—

न्यूनता आदिर्येषां ते न्यूनतादयः। तेषामुक्तिर्न्यूनताद्युक्तिः। ताश्च प्रत्येकं दूषणाः ॥ १३७ ॥

अत्र 'आदि'—इत्युक्तेरसिद्धविरुद्धानैकान्तिकदोषाणां परिग्रहः। उच्यतेऽनेति उक्तिः = वचनम्। येन वचनेन दोषा उद्धियन्ते तद् दूषणमिति।

[ध०] हेतुं व्यतिरेकवाक्यमाह। तथा च विपरीतव्यतिरेकोऽपि वक्तुरपराधाद् दुष्टः ॥ १३५ ॥

दृष्टान्तदोषानुदाहृत्य दुष्टत्वनिबन्धनत्वं दर्शयितुमाह—**न ह्येभिरिति**। साध्यनियतप्रदर्शनाय हि दृष्टान्ता वक्तव्याः। एभिश्च **हेतोः सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षे च सर्वत्रासत्त्वमेव** यत् **सामान्यलक्षणं** तत् **निश्चयेन न शक्यं दर्शयितुम्**।

ननु च सामान्यलक्षणं विशेषनियतमेव प्रतिपत्तव्यम्, न स्वत एव ? इत्याह—**विशेषलक्षणं वा**। यदि विशेषलक्षणं प्रतिपादयितुं शक्येत, स्यादेव सामान्यलक्षणप्रतिपत्तिः। विशेषलक्षणमेव तु न शक्यमेभिः प्रतिपादयितुम्। तस्मादर्थापत्त्या सामर्थ्येन एषां निराकरणं द्रष्टव्यम्। साध्यनियतसाधनप्रतीतये उपात्ताः। तदसमर्था दुष्टाः, स्वकार्याकरणादिति असामर्थ्यम् ॥ १३६ ॥

इयता साधनमुक्तम् ॥

दूषणं वक्तुमाह—**दूषणेति**। दूषणा का द्रष्टव्या ? **न्यूनतादीनामुक्तिः**। उच्यतेऽनयेत्युक्तिः = वचनम्। न्यूनतादेर्वचनम् ॥ १३७ ॥

१३८. ये पूर्वं न्यूनतादयः साधनदोषा उक्तास्तेषामुद्भावनं दूषणम्; तेन परेष्टार्थसिद्धिप्रतिबन्धात् ॥

१३९. दूषणाभासास्तु जातयः ।

१४०. अभूतदोषोद्भावनानि जात्युत्तराणीति ॥

[न्या०] तच्च कस्मादिति चेत्? तत्राह—तेनेति ।

यस्मात्तेन वचनेन पूर्वपक्षिणा साधयितुमिष्टस्यार्थस्य सिद्धिः प्रतिबध्यते, तस्मात् तद् दूषणम् । तदेतानि अनुद्भूतदूषणानि ।। १३८ ।।

जातय एव दूषणाभासा वेदितव्याः ।। १३९ ।।

काश्च पुनस्ता जातय इति? आह—अभूतेति ।

न भूतोऽभूतः, अभूता दोषा अभूतदोषाः तेषामुद्भावनानि अभूतदोषोद्भावनानि । यैश्च वचनैः साधनदोषा अविद्यमाना अपि उद्भाव्यन्ते तानि जातयो वेदितव्याः ।

सम्यग्ज्ञाननिरूपणावसरे कथं दूषण-तदाभासानामुपदर्शनमिति चेत्? उच्यते, दूषणानां तथा दूषणाभासानां च निरूपणे सम्यग्ज्ञानमपि ससहायं निरूपितं भवतीति । तथा चैता ह्यत्र दूषणा इति तासां परिहारो विधेयः । यदा वा एते दूषणाभासाः, एतेभ्यः शङ्काभाव एव वेदितव्य इत्यभिधीयते, तदा सम्यग्ज्ञानमेव सर्वथा निरूपितं भवति । तस्माद् यथोक्तदोषप्रसङ्गो नास्ति ।। १४० ।।

[ध०]दूषणं विवरीतुमाह—**ये पूर्वं** न्यूनतादयोऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिका उक्ताः, तेषामुद्भावकं यद् वचनं तद् दूषणम् ।

ननु च न्यूनतादयो न विपर्ययसाधनाः, तत् कथं दूषणम्? इत्याह—**तेन** न्यूनतादिवचनेन **परेषा**मिष्टश्चासा**वर्थ**श्च तस्य **सिद्धिः** निश्चयः, तस्याः **प्रतिबन्धात्** । नावश्यं विपर्ययसाधनादेव दूषणं विरुद्धवत्, अपि तु परस्याभिप्रेतनिश्चयविबन्धान्निश्चयाभावो भवति निश्चयविपर्यय इत्यस्त्येव विपर्ययसिद्धिरिति ॥ १३८ ॥

उक्ता दूषणा ॥

दूषणाभासा इति । दूषणवदाभासन्त इति **दूषणाभासा** । के ते? **जातय** इति । जातिशब्दः सादृश्यवचनः । उत्तरसदृशानि जात्युत्तराणि । उत्तरस्याप्रयुक्तत्वाद् उत्तरसदृशानि जात्युत्तराणि ॥ १३९ ॥

तदेवोत्तरसादृश्यमुत्तरस्थानप्रयुक्तत्वेन दर्शयितुमाह—**अभूतेति । अभूतस्य** असत्यस्य दोषस्य **उद्भावनानि** । उद्भाव्यत एतैरित्युद्भावनानि = वचनानि । तानि **जात्युत्तराणि** । जात्या सादृश्येनोत्तराणि जात्युत्तराणीति ॥ १४० ॥

[न्या०] पृथु यच्चार्जितं पुण्यं न्यायबिन्दोः पदं पदम् ।
व्याख्यानेन मयाद्यैव ततो लब्ध्वामृतं ध्रुवम् ॥

प्राणिकुलमशेषं हि यातु भवपरिक्षयम् ।
यथोचितेन मार्गेण निर्देशेन नृपस्य च ॥

इयं विनीतदेवेन शिष्यकल्याणसिद्धये ।
विस्तरो नाम टीका हि न्यायबिन्दोर्विनिर्मिता ॥

न्यायबिन्दुविस्तरटीकायां शिष्यहितायां
तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥

सहस्रमेकं श्लोकानां त्रिंशच्छ्लोकास्तथैव च ।
ग्रन्थे विस्तरटीकायामिहोक्तं परिपिण्डितम् ॥

आचार्यविनीतदेवकृतिर्न्यायबिन्दुविस्तरटीका
शिष्यहिता समाप्ता ॥



धर्मोत्तरटीका

कतिपयपदवस्तुव्याख्यया यन्मयाप्तम्,
कुशलममलमिन्दोरंशुवन् न्यायबिन्दोः ॥
पदमजरमवाप्य ज्ञानधर्मोत्तरं यद्,
जगदुपकृतिमात्रव्यापृतिः स्यामतोऽहम् ॥

आचार्यधर्मोत्तरविरचितायां न्यायबिन्दुटीकायां
तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥



समाप्तं च न्यायबिन्दुप्रकरणम् ॥



ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत् ।
तेषां च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः ॥